ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १७

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

दशममङ्गम्

प्रश्नव्याकरणसूत्रम्

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट शब्दकोश सहित]

☐

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

☐

संयोजक—प्रधानसम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

☐

अनुवादक
मुनिश्री प्रवीणऋषिजी महाराज

☐

सम्पादक
(स्व.) पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

☐

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १७

☐ निर्देशन
अध्यात्मयोगिनी विदुषी महासती श्री उमरावकुँवरजी म. सा. 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी म. सा.
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण
वीरनिर्वाण संवत् २५१९
विक्रम संवत् २०४९
ई० सन् १९९३

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : ६०) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

TENTH ANGA

PRASHNAVYĀKARANA SUTRA

[With Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

□

Inspiring Soul

Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Shri Brijlalji Maharaj

□

Convener & Founder Editor

(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

□

Translator

Muni Shri Praveen Rishiji Maharaj

□

Editor

(Late) Pt. Shobha Chandra Bharilla

□

Publishers

Shri Agam Prakashan Samiti

Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 17

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Aacharya Sri Devendra Muniji
Anuyogapravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Second Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2519
Vikram Samvat 2049,
January, 1993.

☐ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price . Rs 60/-**

समर्पण

जिनके जीवन का क्षण-क्षण, कण-कण परम उज्ज्वल, निर्मल संयमाराधन से अनुप्राणित था,

जिनका व्यक्तित्व सत्य, शील तथा आत्मशौर्य की दिव्य ज्योति से जाज्वल्यमान था,

ध्यान तथा स्वाध्याय के सुधा-रस से जो सर्वथा आप्यायित थे

धर्मसंघ के समुन्नयन एवं समुत्कर्ष में जो सहज आत्मतुष्टि की अनुभूति करते थे,

"मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः" के जो सजीव निदर्शन थे,

मेरे संयम-जीवितव्य, विद्या-जीवितव्य तथा साहित्यिक सर्जन में जिनकी प्रेरणा, सहयोग, प्रोत्साहन मेरे लिए अमर वरदान थे,

आगम-वाणी की भावात्मक परिव्याप्ति जिनकी रग-रग मे उल्लसित थी,

मेरे सर्वतोमुखी अभ्युदय, धर्मशासन के अभिवर्धन तथा अध्यात्म-प्रभावना में ही जिन्होंने जीवन की सारवत्ता देखी,

उन परम श्रद्धास्पद, महातपा, बालब्रह्मचारी, संयमसूर्य, मेरे समादरणीय गुरुपम, ज्येष्ठ गुरु-बन्धु, स्व. उप-प्रवर्तक परम पूज्य प्रातःस्मरणीय

मुनि श्री व्रजलालजी स्वामी

म. सा. की पुण्य स्मृति में,

श्रद्धा, भक्ति, आदर एवं विनयपूर्वक समर्पित

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

अतीव प्रसन्नता के साथ आगमप्रेमी स्वाध्यायशील पाठको के कर-कमलो में आगम-बत्तीसी के दसवे अग 'प्रश्नव्याकरण' का यह द्वितीय सस्करण समर्पित किया जा रहा है।

प्रस्तुत अग का अनुवाद श्रमणसघ के आचार्य स्व पूज्य श्री आनन्दऋषिजी म. सा के विद्वान् सत श्री प्रवीणऋषिजी म. ने किया है। इसके सम्पादन-विवेचन मे स्वर्गीय प. श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

श्रमण सघ के युवाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री मिश्रीमलजी म 'मधुकर' के प्रबल प्रयास एव प्रभाव के कारण यह विराट् श्रुतसेवा का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। उनके प्रेरणादायक मार्ग-दर्शन के प्रति आभार प्रकट करने के लिए शब्द-सागर के समस्त शब्द भी कम पडेगे।

श्रद्धेय पूज्य युवाचार्यश्री 'मधुकर' मुनिजी म सा के आकस्मिक देहावसान के पश्चात् अध्यात्म-योगिनी परम विदुषी महासतीजी श्री उमरावकुवरजी म सा 'अर्चना' का पथ-प्रदर्शन हमारे लिए प्रशस्त सिद्ध हो रहा है। हम उनके प्रति बहुत कृतज्ञ हैं। आगम-बत्तीसी के इस भगीरथी कार्य में अन्य अनेक समर्थ श्रमण-श्रमणीवृन्द एव विद्वानो का योगदान व सहयोग प्राप्त हुआ है और इस महान् कार्य की सम्पन्नता पर ब्यावर नगर मे वसत पंचमी, माघ शुक्ला पचमी, वि. स. २०४९ तदनुसार २८ जनवरी १९९३ के दिन 'आगम सपूर्ति-सस्तुति समारोह' का ऐतिहासिक आयोजन किया गया। इस अवसर पर जैन श्रमण संघ की विभूतियों का समागम अद्वितीय था।

आगम-वाङ्मय को सर्वजन सुलभ कराने की दृष्टि से अनेक ग्रन्थो का पुनर्मुद्रण कराया जा रहा है। प्रश्नव्याकरण का यह द्वितीय सस्करण इसी कडी मे पुनर्मुद्रित किया जा रहा है। आशा है यह सस्करण पाठको के लिए विशेष उपयोगी रहेगा।

आगमप्रेमी स्वाध्यायशील सज्जनो से निवेदन है कि आगम वाङ्मय के प्रचार प्रसार के पवित्र अनुष्ठान मे अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें। हम उन सभी महानुभावों के आभारी हैं जिनका प्रत्यक्ष परोक्ष बौद्धिक और आर्थिक सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है।

रतनचन्द मोदी	**सायरमल चोरड़िया**	**अमरचन्द मोदी**
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

(द्वितीय संस्करण के अर्थ-सहयोगी)

श्रीमान् अमरचन्दजी सा. बोथरा

जीवन परिचय

श्रीमान् अमरचन्दजी सा बोथरा नोखा (चादावतो का) के निवासी स्व. श्री चन्दनमलजी सा बोथरा के जेष्ठ पुत्र हैं। आपके तीन भाई नथमलजी, दुलीचन्दजी और पुखराजजी हैं। आपकी धर्मपत्नी पारस कवर हैं जिनका जीवन बडा ही सरल, सेवामय व धर्मपरायण है। आपके दो पुत्र— हनुमानचन्दजी व महेन्द्रकुमारजी और तीन पुत्रियाँ हैं। सारा परिवार सुसम्पन्न व धार्मिक भावो से सुसस्कारित है।

आपका करीबन ३८ वर्षों से मद्रास मे फाइनेन्स का व्यवसाय है। आपने व्यावसायिक, सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र मे अच्छी ख्याति प्राप्त की है। आपका जीवन बडा ही धर्ममय है और जन कल्याण के कार्य मे पूर्ण चेष्टा व लगन है। प्रत्येक कार्य मे समय समय पर आपने पूर्ण सहयोग दिया है।

आप (१) नोखा श्री सघ के, (२) स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज जैन ट्रस्ट के और (३) युवाचार्य श्री मधुकर मुनि मेमोरियल सेवा ट्रस्ट इन तीनो सस्थाओ के अध्यक्ष हैं।

नोखा मे स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज जैन ट्रस्ट नोखा द्वारा प्रति वर्ष नेत्र शिविर का आयोजन किया जाता है। जिसमे करीबन १००-१२५ कारियाँ होती है। ऐसे प्रसग पर आप स्वय उपस्थित रहकर अपना सक्रिय सहयोग देते है। नोखा के जैनभवन-निर्माण मे भी आपका पूर्ण योगदान रहा है।

आपके जीवन मे धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा व निष्ठा है। नोखा में संत व सतियो के प्रत्येक चातुर्मास में प्रारम्भ से अन्त तक रहकर सेवा का लाभ लिया है।

धार्मिक कार्यों मे व जनकल्याण के कार्यों मे आपकी हमेशा से रुचि रही है। इसके लिये आप प्रेरणा भी देते रहते है। आपके जीवन मे धैर्यता व सहिष्णुता की विशिष्ट सद् प्रवृति है।

आप मद्रास की एस एस जैन एज्यूकेशनल सोसायटी भवन ट्रस्ट व एस. एस जैन स्थानक व अन्य सस्थाओ से जुडे हुए हैं।

स्व गुरुदेव श्री हजारीमलजी म, स्व श्री बृजलालजी म व श्रमणसघीय स्व युवाचार्यजी श्री मधुकरजी म के प्रति आपके समस्त परिवार की असाधारण भक्ति रही। उन्ही की आज्ञानुवर्तिनी ज्ञान भक्ति—कर्मयोग की साकार मूर्ति प्रवचन प्रभाविका महासतीजी श्री उमरावकवरजी म स 'अर्चनाजी' के प्रति भी आपकी अटूट श्रद्धा व भक्ति है।

आपने साहित्य प्रचार की भावना से यह पुस्तक प्रकाशित करने मे अपना आर्थिक सहयोग दिया है। एतदर्थ धन्यवाद।

मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आदि वचन

विश्व के जिन दार्शनिको—दृष्टाओ/चिन्तको ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनो तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामो से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते है तो आत्मा की शक्तियां ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप मे उद्घाटित-उद्भासित हो जाती है। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा - "आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, सघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहत या तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत हैं।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते है और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवां अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुत सम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमो/शास्त्रो/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विछिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो- -३२ सूत्रो का प्राकृत से खडी बोली मे अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही बत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मै जब प्रात.स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया— यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिए दुरूह तो हैं ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगामो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगामो के अनेक गूढार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्यज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासुजन लाभ उठा सके। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म-दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरो ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि मे सुन्दर विस्तृत टीकाये लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील है। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्याये की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का ऐसा सस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व० प० श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के अल्पकाल मे ही सत्तरह आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपःपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनि-जनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

प्रस्तावना

आगमसाहित्य और प्रश्नव्याकरणसूत्र

[प्रथम संस्करण से]

दो धर्मधारायें

भारतीय संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, चिन्तन यहा तक कि लौकिक और लोकोत्तर दृष्टिकोण दो धाराओं मे प्रवाहित हुआ है। एक धारा 'वैदिक' और दूसरी धारा 'श्रमण' के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद मे वैदिकधारा वैदिकधर्म और श्रमणधारा जैनधर्म एव बौद्धधर्म के नाम से प्रचलित हो गई। इन दोनो की तुलना की जाए तो उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाएगा।

तुलना का मुख्य माध्यम उपलब्ध साहित्य ही हो सकता है। साहित्य एक ऐसा कोश है जिसमे ऐतिहासिक सूत्र भी मिलते है और उन आचार-विचारो का पुंज भी मिलता है जो समाज-रचना तथा लोकोत्तर साधना के मौलिक उपादान होते हैं।

वैदिकधर्म की साहित्यिक परम्परा की आद्य इकाई वेद हैं। वेदो का चिन्तन इहलोक तक सीमित है, पुरुषार्थ को पराहत करने वाला है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का ऊर्ध्वीकरण करने मे अक्षम है, पारतन्त्र्य की पग-पग पर अनुभूति कराने वाला है। यही कारण है कि आराध्य के रूप मे जिन इन्द्रादि देवो की कल्पना की गई है, उनमे मानव-सुलभ काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि वृत्तियो का साम्राज्य है। इन वैदिक देवो की पूज्यता किसी आध्यात्मिक शक्ति के कारण नही किन्तु अनेक प्रकार के अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति के कारण है। धार्मिक विधि-विधानो के रूप मे यज्ञ मुख्य था और वैदिक देवो का डर यज्ञ का मुख्य कारण था।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल प्रारम्भ हुआ। इसमे विविध प्रकार और नाम वाले देवो के सृजन की प्रक्रिया और देवो को गौणता प्राप्त हो गई किन्तु यज्ञ मुख्य बन गय। पुरोहितो न यज्ञ क्रिया का इतना महत्त्व बढ़ाया कि देवताओ को यज्ञ के अधीन कर दिया। अभी तक उनको जो स्वातन्त्र्य प्राप्त था, वह गौण हो गया और वे यज्ञाधीन हो गए। ब्राह्मणवर्ग ने अपना इतना अधिक वर्चस्व स्थापित कर लिया कि उसके द्वारा किए गए वैदिक मन्त्रपाठ और विधि-विधान के बिना यज्ञ की सपूर्ति हो ही नही सकती थी। उन्होने वेदपाठो के अध्ययन-उच्चारण को अपने वर्ग तक सीमित कर दिया और वेद उनकी अपनी सपत्ति हो गए।

वेदो का दर्शन ब्राह्मण वर्ग तक सीमित हो जाने की प्रतिक्रिया का यह परिणाम हुआ कि उपनिषदो की रचना प्रारम्भ हुई। औपनिषदिक ऋषियो ने आत्मस्वातन्त्र्य के द्वार जन-साधारण के लिये उद्घाटित किये। उपनिषत् काल मे विद्या, ज्ञान साधना के क्षेत्र मे क्षत्रियो का प्रवेश हुआ और आत्मविद्या को प्रमुख स्थान दिया एव यह स्पष्ट किया कि धर्म का सच्चा अर्थ आध्यात्मिक उत्कर्ष है, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखता को छोडकर वासनाओ के पाश से मुक्त होकर, शुद्ध सच्चिदानन्द-घन रूप आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिये अग्रसर होकर उसे प्राप्त करता है। यही यथार्थ धर्म है।

उपर्युक्त समग्र कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि वैदिक धर्मधारा व्यक्ति मे ऐसा कोई उत्साह जाग्रत नही कर सकी जो व्यक्तित्व-विकास का आवश्यक अग है, नर से नारायण बनने का प्रशस्त पथ है। कालक्रम से परस्पर भिन्न आचार-विचारो के प्रवाह उसमे मिलते रहे। अतएव यह कहने मे कोई सक्षम नही है कि वैदिक धर्म का मौलिक रूप अमुक है।

लेकिन जब हम जैन धर्म के साहित्य की अथ से लेकर अर्वाचीन धारा तक पर दृष्टिपात करते हैं तो भाषागत भिन्नता के अतिरिक्त आचार-विचार के मौलिक स्वरूप मे कोई अन्तर नही देखते हैं। जैनो के आराध्य कोई व्यक्तिविशेष नही, अमुक नाम वाले भी नही किन्तु वे है जो पूर्ण आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न वीतराग है। वीतराग होने से वे आराधक से न प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न ही। वे तो केवल अनुकरणीय आदर्श के रूप से आराध्य है।

यही कारण है कि जैनधर्म मे व्यक्ति को उसके स्वत्व का बोध कराने की क्षमता रही हुई है। साराश यह है कि मानव की प्रतिष्ठा बढाने मे जैन धर्म अग्रसर है। इसलिये किसी वर्णविशेष को गुरुपद का अधिकारी और साहित्य का अध्ययन करने वाला स्वीकार नही करके वहाँ यह बताया कि जो भी त्याग तपस्या का मार्ग अपनाए, चाहे वह शूद्र ही क्यो न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता है और मानव मात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी बन सकता है एव उसके लिए जैनशास्त्र-पाठ के लिये भी कोई बाधा नही है।

इसी प्रकार की अन्यान्य विभिन्नताएँ भी वैदिक और जैन धारा मे है, जिन्हे देखकर कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानो ने प्रारम्भ मे यह लिखना शुरू किया कि बौद्धधर्म की तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिये खडा किया गया एक क्रातिकारी नया विचार है। लेकिन जैसे-जैसे जैनधर्म और बौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का अध्ययन किया गया, पश्चिमी विद्वानो ने ही उनका भ्रम दूर किया तथा यह स्वीकार कर लिया गया कि जैनधर्म वैदिकधर्म के विरोध मे खडा किया नया विचार नही किन्तु स्वतन्त्र धर्म है, उसकी शाखा भी नही है।

जैन-साहित्य का आविर्भाव काल

जैन परम्परा के अनुसार इस भारतवर्ष मे कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप मे विभक्त है। प्रत्येक के छह आरे —विभाग—होते हैं। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है, इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था। इस प्रकार अनादिकाल से यह कालचक्र चल रहा है और चलता रहेगा। उत्सर्पिणी मे सभी भाव उन्नति को प्राप्त होते हैं और अवसर्पिणी मे ह्रास को। किन्तु दोनो मे तीर्थकरो का जन्म होता है, जिनकी सख्या प्रत्येक विभाग मे चौबीस होती है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थकर हो चुके हैं। उनमे प्रथम ऋषभदव और अतिम महावीर हैं। दोनो के बीच असख्य वर्षों का अतर है। इन चौबीस तीथकरो मे से कुछ का निर्देश जैनेतर शास्त्रो मे भी उपलब्ध है।

इन चौबीस तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट और उस उपदेश का आधार लेकर रचा गया साहित्य जैन परम्परा मे प्रमाणभूत है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थकर अनेक हो किन्तु उनके उपदेश मे साम्य होता है और जिस काल मे जो भी तीर्थंकर हो, उन्ही का उपदेश और शासन तात्कालिक प्रजा मे विचार और आचार के लिये मान्य होता है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर अतिम तीर्थकर होने से वर्तमान मे उन्ही का उपदेश अतिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरो का उपदेश उपलब्ध भी नही है और यदि हो, तब भी वह भगवान् महावीर क उपदेश के अन्तर्गत हो गया ऐसा मानना चाहिये। इसकी पुष्टि डा जैकोबी आदि के विचारो से भी होती है।

उनका कहना है कि समय की दृष्टि से जैन आगमो का रचना-समय जो भी माना जाए, किन्तु उनमे जिन तथ्यों का सग्रह है, वे तथ्य ऐसे नही हैं, जो उसी काल के हो ।[1]

प्रस्तुत मे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरो ने । इसीलिये अर्थोपदेश या अर्थ रूप शास्त्र के कर्त्ता भगवान् महावीर माने जाते हैं और शब्द रूप शास्त्र के कर्त्ता गणधर है ।[2] अनुयोगद्वार सूत्र मे सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद किये हैं, उनसे भी इसी का समर्थन होता है ।

जैन साहित्य का नामकरण

आज से पच्चीस सौ वर्ष अथवा इससे भी पहले के जिज्ञासु श्रद्धाशील अपने-अपने समय के साहित्य को, जिसे आदर-सम्मानपूर्वक धर्मशास्त्र के रूप मे मानते थे, विनयपूर्वक अपने-अपने गुरुओ से कठोपकठ प्राप्त करते थे । वे इस प्रकार से प्राप्त होने वाले शास्त्रो को कठाग्र करते और उन कठाग्र पाठो को बार-बार स्मरण करके याद रखते । धर्मवाणी के उच्चारण शुद्ध सुरक्षित रहे, इसका वे पूरा ध्यान रखते । कही भी काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि निरर्थक रूप मे प्रविष्ट न हो जाए, अथवा निकल न जाए इसकी पूरी सावधानी रखते थे । इसका समर्थन वर्तमान मे प्रचलित अवेस्ता गाथाओ एव वेदपाठो की उच्चारणप्रक्रिया से होता है ।

जैनपरम्परा मे भी एतद्विषयक विशेष विधान है । सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना चाहिए, उच्चारण करते समय किन-किन दोषो से दूर रहना चाहिए, इत्यादि का अनुयोगद्वार सूत्र आदि मे स्पष्ट विधान किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे जैन परम्परा मे भी उच्चारणविषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी । इस प्रकार विशुद्ध रीति से सचित श्रुत-सम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यो को तथा शिष्य पुन अपनी परम्परा के शिष्यो को सौपते थे । इस प्रकार श्रुत की यह परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरतर चलती रही । अविसवादी रूप से इसको सम्पन्न करने के लिये एक विशिष्ट और आदरणीय वर्ग था, जो उपाध्याय के रूप मे पहचाना जाता है । इसकी पुष्टि णमोकार मत्र से होती है । जैन परम्परा मे अरिहत आदि पाच परमेष्ठी माने गये है, उनमे इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है । इससे ज्ञात हो जाता है कि जैन सघ मे इस वर्ग का कितना सम्मान था ।

धर्मशास्त्र प्रारम्भ मे लिखे नही गये थे, अपितु कठाग्र थे और वे स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इसको प्रमाणित करने के लिये वर्तमान मे प्रचलित श्रुति, स्मृति और श्रुत शब्द पर्याप्त है । ब्राह्मणपरम्परा मे मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुति और तदनुवर्ती बाद के शास्त्रो का नाम स्मृति है । ये दोनो शब्द रूढ नही, किन्तु यौगिक और अन्वयर्थक हैं । जैन परम्परा मे शास्त्रो का प्राचीन नाम श्रुत है । यह शब्द भी यौगिक है । अत· इन नामो वाले शास्त्र सुन-सुनकर सुरक्षित रखे गये ऐसा स्पष्टतया फलित होता है । जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान का जो स्वरूप बतलाया है और उसके जो विभाग किये है, उसके मूल मे 'सुत्त'—श्रुत शब्द रहा हुआ है । वैदिक परम्परा मे वेदो के सिवाय अन्य किसी भी ग्रन्थ के लिये श्रुति शब्द का प्रयोग नही हुआ है, जबकि जैन परम्परा मे समस्त प्राचीन अथवा अर्वाचीन शास्त्रो के लिये श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है । इस प्रकार श्रुत शब्द मूलतः यौगिक होते हुए भी अब रूढ हो गया है ।

१ Doctrine of the Jainas P 15

२ अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तई ।।

यद्यपि आज शास्त्रो के लिये 'आगम' शब्द जैन परम्परा मे व्यापक रूप मे प्रचलित हो गया है, लेकिन प्राचीन काल मे वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था। इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि 'आगमकेवली' या 'सूत्रकेवली'। इसी प्रकार स्थविरो की गणना मे भी 'श्रुतस्थविर' शब्द को स्थान मिला है जो श्रुत शब्द के प्रयोग की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है।

शास्त्रो के लिये आगम शब्द कब से प्रचलित हुआ और उसके प्रस्तावक कौन थे ? इसके सूत्र हमे आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य मे देखने को मिलते हैं। उन्होंने वहा श्रुत के पर्यायों का सग्रह कर दिया है। जो इस प्रकार हं—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमे आगम शब्द बोलने मे सरल रहा तथा दूसरे शब्द अन्य-अन्य कथनो के लिये रूढ हो गय तो जैन शास्त्र को आगम शब्द मे कहा जाना शुरू हो गया हो, यह सम्भव है, जिसकी परम्परा आज चालू है।

जैन आगमो का वर्गीकरण

समवायाग आदि आगमो से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर ने जो देशना दी थी उसकी सकलना द्वादशागो मे हुई थी। लेकिन उसके बाद आगमो की सख्या मे वृद्धि होने लगी और इसका कारण यह है कि गणधरो के अतिरिक्त प्रत्येकबुद्ध महापुरुषो ने जो उपदेश दिया उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगमो मे समाविष्ट कर लिया गया। इसी प्रकार द्वादशागी के आधार पर मदबुद्धि शिष्यो के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रथ बनाये उनका भी समावेश आगमो मे कर लिया गया। इसका उदाहरण दशवैकालिक सूत्र है। अन्त मे सम्पूर्ण दस पूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम मे समाविष्ट इसलिये किये गये कि वे भी आगम के आशय को ही पुष्ट करने वाले थे। उनका आगम से विरोध इसलिये भी नही हो सकता था कि वे आगम के आशय का ही बोध कराते थे और उनके रचयिता सम्यग्दृष्टि थे, जिसकी सूचना निम्नलिखित गाथा से मिलती है –

सुत्त गणहरकथिद तहेव पत्तेयबुद्धकथिद च।
सुदकेवलिणा कथिद अभिण्णदस पुव्व कथिद च ॥[1]

इसके बाद जब दशपूर्वी भी नही रहे तब भी आगमो की सख्या मे वृद्धि होना नही रुका। श्वेताम्बर परम्परा मे आगम रूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी है जो उस काल के बाद भी आगम रूप मे सम्मिलित होते रहे। इसके दो कारण सभाव्य हैं। एक तो उनका वैराग्यभावना की वृद्धि मे विशेष उपयोग होना माना गया हो और दूसरे उनके कर्त्ता आचार्यों की उस काल मे विशेष प्रतिष्ठा रही हो।

इस प्रकार से जैनागमो की सख्या मे वृद्धि होने लगी तब उसका वर्गीकरण करना आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत सग्रह, जो द्वादश अग के रूप मे था, स्वय एक वर्ग बन जाए और उसका अन्य से पार्थक्य भी दृष्टिगत हो, अतएव आगमो का प्रथम वर्गीकरण अग और अगबाह्य के आधार पर हुआ। इसीलिये हम देखते है कि अनुयोगद्वार सूत्र मे अगप्रविष्ट और अगबाह्य ऐसे श्रुत के दो भेद किये गये है। नन्दीसूत्र मे भी ऐसे ही दो भेद होने की सूचना मिलती है। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र-भाष्य (१-२०) मे भी यही फलित होता है कि उनके समय तक अगप्रविष्ट और अगबाह्य यही दो विभाग प्रचलित थे।

अगप्रविष्ट आगमो के रूप मे वर्गीकृत बारह अगो की सख्या निश्चित थी, अत उसमे तो किसी प्रकार की वृद्धि नही हुई। लेकिन अगबाह्य आगमों की सख्या मे दिनोदिन वृद्धि होती जा रही थी। अतएव उनका

१ मूलाचार ५/८०

पुनर्वर्गीकरण किया जाना आवश्यक हो गया था। इसके लिये उनका वर्गीकरण १ उपाग, २ प्रकीर्णक, ३ छेद ४. चूलिका सूत्र और ५. मूल सूत्र, इन पाच विभागो में हुआ। लेकिन यह वर्गीकरण कब और किसने शुरू किया—यह जानने के निश्चित साधन नही हैं।

उपाग विभाग मे बारह, प्रकीर्णक विभाग मे दस, छेद विभाग में छह, चूलिका विभाग मे दो और मूल सूत्र विभाग मे चार शास्त्र है। इनमे से दस प्रकीर्णको को और छेद सूत्रो मे से महानिशीथ और जीतकल्प को तथा मूलसूत्रो मे से पिंडनिर्युक्ति को स्थानकवासी और तेरापथी परम्परा मे आगम रूप मे मान्य नही किया गया है।

आगमिक विच्छेद

आगमो की सख्या मे वृद्धि हुई और वर्गीकरण भी किया गया लेकिन साथ ही यह भी विडबना जुडी रही कि जैन श्रुत का मूल प्रवाह मूल रूप मे सुरक्षित नही रह सका। आज उसका सम्पूर्ण नही तो अधिकाश भाग नष्ट, विस्मृत और विलुप्त हो गया है। अग आगमो का जो परिमाण आगमो मे निर्दिष्ट है, उसे देखते हुए, अगो का जो भाग आज उपलब्ध है उसका मेल नही बैठता।

यह तो पूर्व मे सकेत किया जा चुका है कि प्रत्येक परम्परा अपने धर्मशास्त्रो को कठस्थ रखकर शिष्य-प्रशिष्यो को उसी रूप मे सौपती थी। जैन श्रमणो का भी यही आचार था, काल के प्रभाव से श्रुतधरो का एक के बाद एक काल कवलित होते जाना जैन श्रमण के आचार के कठोर नियम, जैन श्रमण सघ के सख्याबल की कमी और बार-बार देश मे पडने वाले दुर्भिक्षो के कारण कठाग्र करने की धारा टूटती रही। इस स्थिति मे जब आचार्यों ने देखा कि श्रुत का ह्रास हो रहा है, उसमे अव्यवस्था आ रही है, तब उन्होने एकत्र होकर जैन श्रुत को व्यवस्थित किया।

भगवान् महावीर के निर्वाण से करीब १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र मे जैन श्रमणसघ एकत्रित हुआ। उन दिनो मध्यप्रदेश मे भीषण दुर्भिक्ष के कारण जैन श्रमण तितर-बितर हो गये थे। अतएव एकत्रित हुए उन श्रमणो ने एक दूसरे से पूछकर ग्यारह अगो को व्यवस्थित किया किन्तु उनमे से किसी को भी सपूर्ण दृष्टिवाद का स्मरण नही था। यद्यपि उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे, लेकिन उन्होने बारह वर्षीय विशेष प्रकार की योगसाधना प्रारम्भ कर रक्खी थी और वे नेपाल मे थे। अतएव सघ ने दृष्टिवाद की वाचना के लिये अनेक साधुओ के साथ स्थूलभद्र को उनके पास भेजा। उनमें से दृष्टिवाद को ग्रहण करने मे स्थूलभद्र ही समर्थ हुए। किन्तु दस पूर्वो तक सीखने के बाद उन्होने अपनी श्रुतलब्धि-ऋद्धि का प्रयोग किया और जब यह बात आर्य भद्रबाहु को ज्ञात हुई तो उन्होने वाचना देना बद कर दिया, इसके बाद बहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होने शेष चार पूर्वो की सूत्रवाचना दी, किन्तु अर्थवाचना नही दी। परिणाम यह हुआ कि सूत्र और अर्थ से चौदह पूर्वो का ज्ञान आर्य भद्रबाहु तक और दस पूर्व तक का ज्ञान आर्य स्थूलभद्र तक रहा। इस प्रकार भद्रबाहु की मृत्यु के साथ ही अर्थात् वीर से १७० वर्ष बाद श्रुतकेवली नही रहे। फिर दस पूर्व की परम्परा भी आचार्य वज्र तक चली। आचार्य वज्र की मृत्यु विक्रम स० ११४ मे अर्थात् वीरनिर्वाण से ५८४ बाद हुई। वज्र के बाद आर्य रक्षित हुए। उन्होने शिष्यो को भविष्य मे मति मेधा धारणा आदि से हीन जानकर, आगमो का अनुयोगो मे विभाग किया। अभी तक तो किसी भी सूत्र की व्याख्या चारो प्रकार के अनुयोगो से होती थी किन्तु उन्होने उसके स्थान पर विभाग कर दिया कि अमुक सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोगपरक की जाएगी।

आर्य रक्षित के बाद भी उत्तरोत्तर श्रुत-ज्ञान का ह्रास होता रहा और एक समय ऐसा आया जब पूर्वों का विशेषज्ञ कोई नही रहा। यह स्थिति वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण स. ६८३ के बाद हुई।

नन्दीसूत्र की चूर्णि मे उल्लेख है कि द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन और अनुप्रेक्षा के अभाव मे सूत्र नष्ट हो गया अर्थात् कठस्थ करने वाले श्रमणो के काल-कवलित होते जाने और दुष्काल के कारण श्रमण वर्ग के तितर-बितर हो जाने से नियमित सूत्रबद्धता नही रही। अतएव बारह वर्ष के दुष्काल के बाद स्कदिलाचार्य के नेतृत्व मे साधुसघ मथुरा मे एकत्र हुआ और जिसको जो याद था, उसका परिष्कार करके कालिक श्रुत को व्यवस्थित किया। आर्य स्कदिल का युगप्रधानत्वकाल वीर नि. सवत् ८२७ से ८४० तक माना जाता है। अतएव यह वाचना इसी बीच हुई होगी।

इसी माथुरी वाचना के काल मे वलभी मे नागार्जुन सूरि ने श्रमणसघ को एकत्रित कर आगमो को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया तथा विस्मृत स्थलो को पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार ठीक करके वाचना दी गई।

उपर्युक्त वाचनाओ के पश्चात् करीब डेढ सौ वर्ष बाद पुन वलभी नगर मे देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे श्रमणसघ इकट्ठा हुआ और पूर्वोक्त दोनो वाचनाओ के समय व्यवस्थित किये गये जो ग्रन्थ मौजूद थे उनको लिखवाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया तथा दोनो वाचनाओं का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका अन्तर को दूर कर एकरूपता लाई गई। जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हे पाठान्तर के रूप मे सकलित किया गया। यह कार्य वीर नि. स. ९८० मे अथवा ९९३ मे हुआ। वर्तमान मे जो आगम उपलब्ध हैं, उनका अधिकाश भाग इसी समय स्थिर हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी कई आगम उक्त लेखन के बाद भी नष्ट हुए हैं ऐसा नन्दीसूत्र मे दी गई सूची से स्पष्ट है।

आगमों का रचनाकाल

भगवान् महावीर का उपदेश विक्रम पूर्व ५०० वर्ष मे शुरू हुआ था, अतएव उपलब्ध किसी भी आगम की रचना का उससे पहले होना सभव नही है और अतिम वाचना के आधार पर उनका लेखन विक्रम म ५१० (मतान्तर से ५२३) मे हुआ था। अत यह समयमर्यादा आगमो का काल है, ऐसा मानना पड़ेगा।

इस काल-मर्यादा को ध्यान मे रखकर जब हम आगमो की भाषा का विचार करते है तो आचाराग के प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाव और भाषा मे भिन्न हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय से ही नही अपितु समस्त जैन-वाङ्मय मे सबसे प्राचीन है। इसमे कुछ नया नही मिला हो, परिवर्तन परिवर्धन नही हुआ हो, यह तो नही कहा जा सकता, किन्तु नया सबसे कम मिला है। वह भगवान् के साक्षात् उपदेश के अत्यन्त निकट है। इस स्थिति मे उसे प्रथम वाचना की सकलना कहा जाना सम्भव है।

अंग आगमों में प्रश्नव्याकरण सूत्र

उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में अब हम प्रश्नव्याकरण सूत्र की पर्यालोचना कर ले।

प्रश्नव्याकरण सूत्र अगप्रविष्ट श्रुत माना गया है। यह दसवा अग है। समवायाग, नन्दी और अनुयोग-द्वार सूत्र मे प्रश्नव्याकरण के लिये 'पण्हावागरणाइ' इस प्रकार से बहुवचन का प्रयोग किया है, जिसका सस्कृत रूप 'प्रश्नव्याकरणानि' होता है। किन्तु वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र के उपसहार मे पण्हावागरण इस प्रकार एकवचन का ही प्रयोग किया है। तत्त्वार्थभाष्य मे भी प्रश्नव्याकरणम् इस प्रकार से एक वचनान्त का

प्रयोग किया गया है। दिगम्बर परम्परा मे एकवचनान्त 'पण्हवायरण' 'प्रश्नव्याकरणम्' एकवचनान्त का ही प्रयोग किया गया है। स्थानागसूत्र के दशम् स्थान मे प्रश्नव्याकरण का नाम 'पण्हावागरणदसा' बतलाया है, जिसका सस्कृत रूप टीकाकार अभयदेव सरि ने 'प्रश्नव्याकरणदशा, किया है, किन्तु यह नाम अधिक प्रचलित नहीं हो पाया।

प्रश्नव्याकरण यह समासयुक्त पद है। इसका अर्थ होता है—प्रश्नो का व्याकरण अर्थात् निर्वचन, उत्तर एव निर्णय। इसमे किन प्रश्नो का व्याकरण किया गया था, इसका परिचय अचेलक परम्परा के धवला आदि ग्रन्थो एव सचेलक परम्परा के स्थानाग, समवायाग और नन्दीसूत्र मे मिलता है।

स्थानाग मे प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनो का उल्लेख है—उपमा, सख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दागप्रश्न, अगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

समवायाग मे बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, जो मन्त्रविद्या एव अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओ से सम्बन्धित है और इसके ४५ अध्ययन हैं। नन्दीसूत्र मे भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं, अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयो का वर्णन है, नागकुमारो व सुपर्णकुमारो की सगति के दिव्य सवाद हैं, ४५ अध्ययन है।

अचेलकपरम्परा के धवला आदि ग्रन्थों मे प्रश्नव्याकरण का विषय बताते हुए कहा है—प्रश्नव्याकरण में आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदनी, इन चार प्रकार की कथाओ का वर्णन है। आक्षेपणी मे छह द्रव्यो और नौ तत्त्वो का वर्णन है। विक्षेपणी मे परमत की एकान्त दृष्टियो का पहले प्रतिपादन कर अनन्तर स्वमत अर्थात् जिनमत की स्थापना की जाती है। सवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है, जिसमे तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव देव एव विद्याधरो की ऋद्धि का वर्णन होता है। निर्वेदनी मे पापफल निरूपण होता है अत उसमे नरक, तिर्यच, कुमानुषयोनियो का वर्णन है और अगप्रश्नो के अनुसार हृतु नष्ट, मुष्टि, चिन्तन, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और सख्या का भी निरूपण है।

उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे दिए गये प्रश्नव्याकरण के विषयसकेत से ज्ञात होता है कि प्रश्न शब्द मन्त्रविद्या एव निमित्तशास्त्र आदि के विषय से सम्बन्ध रखता है। और चमत्कारी प्रश्नो का व्याकरण जिस सूत्र मे वर्णित है, वह प्रश्नव्याकरण है। लेकिन वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण मे ऐसी कोई चर्चा नही है। अत यहाँ प्रश्नव्याकरण का सामान्य अर्थ जिज्ञासा और उसका समाधान किया जाए तो ही उपयुक्त होगा। अहिंसा-हिंसा सत्य-असत्य आदि धर्माधर्म रूप विषयो की चर्चा जिस सूत्र मे की गई है वह प्रश्नव्याकरण है। इसी दृष्टि से वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण का नाम सार्थक हो सकता है।

एक प्रश्न और उसका उत्तर

सचेलक और अचेलक दोनो ही परम्पराओ मे प्राचीन प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो विषय बताया है, और वर्तमान मे जो उपलब्ध है, उसके लिए एक प्रश्न उभरता है कि इस प्रकार का परिवर्तन किसने किया और क्यो किया ? इसके सम्बन्ध मे वृत्तिकार अभयदेव सूरी लिखते हैं—इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओ का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से वे विद्याये इस सूत्र मे से निकाल दी गईं और केवल आस्रव और सवर का समावेश कर दिया गया। दूसरे टीकाकार आचार्य ज्ञानविमल भी ऐसा ही उल्लेख करते हैं। परन्तु इन समाधानो से सही उत्तर नही मिल पाता है। हाँ, यह कह सकते है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण भगवान् द्वारा प्रति-

पादित किसी प्रश्न के उत्तर का आंशिक भाग हो। इसी नाम से मिलती-जुलती प्रतियाँ ग्रन्थभण्डारों मे उपलब्ध होती है, जैसे कि जैसलमेर के खरतरगच्छ के आचार्यशाखा के भडार मे 'जयपाहुड-प्रश्नव्याकरण' नामक स. १४३६ की एक ताडपत्रीय प्रति थी। प्रति अशुद्ध लिखी गई थी और कही कही अक्षर भी मिट गए थे। मुनिश्री जिनविजय जी ने इसे सम्पादित और यथायोग्य पाठ सशोधित कर स २०१५ मे सिघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रथाक ४३ के रूप मे प्रकाशित करवाया। इसकी प्रस्तावना मे मुनिश्री ने जो सकेत किया है, उसका कुछ अश है—

'प्रस्तुत ग्रन्थ अज्ञात तत्त्व और भावो का ज्ञान प्राप्त करने-कराने का विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या विद्वान् को अच्छी तरह से अवगत हो, वह इसके आधार से किसी भी प्रश्नकर्त्ता के लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख एव जीवन-मरण आदि बातो के सम्बन्ध मे बहुत निश्चित एव तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा प्रश्नकर्त्ता को बता सकता है।'

इसके बाद उपसहार के रूप मे मुनिश्री ने लिखा है—

'इस ग्रन्थ का नाम टीकाकार ने पहले **'जयपाहुड'** और फिर **'प्रश्नव्याकरण'** दिया है। मूल ग्रन्थकार ने **'जयपायड'** दिया है। अन्त मे भी 'प्रश्नव्याकरण समाप्तम्' लिखा है। प्रारम्भ मे टीकाकार ने इस ग्रन्थ का जो नाम 'प्रश्नव्याकरण' लिखा है, उसका उल्लेख इस प्रकार है— महावीराद्य सि(शि)रसा प्रणम्य प्रश्न-व्याकरण शास्त्र व्याख्यामीति।' मूल प्राकृत गाथाएं ३७८ हैं। उसके साथ सस्कृतटीका है। यह प्रति २२७ पन्ना मे वि० १३३६ की चैत बदी १ की लिखी हुई है। अन्त मे 'चूडामणिसार-ज्ञानदीपक ग्रन्थ, ७३ गाथाओ की टीका सहित, है। इसके अन्त मे लिखा हुआ है 'इति जिनेन्द्रकथित प्रश्नचूडामणिसारशास्त्र समाप्तम।'

जिनरत्नकोश के पृ १३३ मे भी इस नाम वाली एक प्रति का उल्लेख है। इसमे २२८ गाथाएं बतलाई है तथा शान्तिनाथ भण्डार, खम्भात मे इसकी कई प्रतियाँ है ऐसा कोश से ज्ञात होता है। नेपाल महाराजा की लाईब्रेरी मे भी प्रश्नव्याकरण या ऐसे ही नाम वाले ग्रन्थ की सूचना तो मिलती है लेकिन क्या वह अनुपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र की पूरक है, इसकी जानकारी अप्राप्य है।

उपर्युक्त उद्धरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि मूल प्राचीन प्रश्नव्याकरण सूत्र भिन्न-भिन्न विभागो मे बट गया और पृथक्-पृथक् नाम वाले अनेक ग्रन्थ बन गय। सम्भव है उनमे मूल प्रश्नव्याकरण के विषयो की चर्चा की गई हो। यदि इन सबका पूर्वापर सन्दर्भो के साथ समायोजन किया जाए तो बहुत कुछ नया जानने को मिल सकता है। इसके लिए श्रीमन्तो का प्रचुर धन नही किन्तु सरस्वतीसाधको का समय और श्रम अपेक्षित है।

प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विलुप्ति का समय

प्राचीन प्रश्नव्याकरण कब लुप्त हुआ ? इसके लिए निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। आगमो को लिपिबद्ध करने वाले आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने इस विषय मे कुछ सूचना नही दी है। इससे ज्ञात होता है कि समवायाग आदि मे जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह उनके समक्ष विद्यमान था। उसी का उन्होने लिपिबद्ध कराया हो अथवा प्राचीन श्रुतपरम्परा मे जैसा चला आ रहा था, वैसा ही समवायाग आदि मे उसका विषय लिख दिया गया हो, कुछ स्पष्ट नही होता है। दिगम्बर परम्परा अग साहित्य का विच्छेद मानती है, अत वहाँ तो आचाराग आदि अग साहित्य का कोई अग नही है। अत प्रश्नव्याकरण भी नही है जिस पर कुछ

विचार किया जा सके। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे जो प्रश्नव्याकरण प्रचलित है उससे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन आगमो मे इसकी कोई चर्चा नही है।

आचार्य जिनदास महत्तर ने शक संवत् ५०० की समाप्ति पर नन्दीसूत्र पर चूर्णि की रचना की। उसमे सर्वप्रथम वर्तमान प्रश्नव्याकरण के विषय से सम्बन्धित पाच सवर आदि का उल्लेख है। इसके बाद परम्परागत एक सौ आठ अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न आदि का उल्लेख किया है। इससे लगता है कि जिनदास गणि के समक्ष प्राचीन प्रश्नव्याकरण नही था, किन्तु वर्तमान प्रचलित प्रश्नव्याकरण ही था जिसके सवर आदि विषयो का उन्होने उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि शक सवत् ५०० से पूर्व ही कभी प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण सूत्र का निर्माण एव प्रचार-प्रसार हो चुका था और अग साहित्य के रूप मे उसे मान्यता मिल चुकी थी।

रचयिता और रचनाशैली

प्रश्नव्याकरण का प्रारम्भ इस गाथा से होता है—

जंबू ! इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं पवयणस्स नीसंदं।
वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं।

अर्थात् हे जम्बू! यहाँ महर्षि प्रणीत प्रवचनसार रूप आस्रव और सवर का निरूपण करूंगा।

गाथा मे आर्य जम्बू को सम्बोधित किये जाने से टीकाकारो ने प्रश्नव्याकरण का उनके साक्षात् गुरु सुधर्मा से सम्बन्ध जोड दिया है। आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी टीका मे प्रश्नव्याकरण का जो उपोद्घात दिया है, उसमे प्रवक्ता के रूप मे सुधर्मा स्वामी का उल्लेख किया है परन्तु 'महर्षियो द्वारा सुभाषित' शब्दो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण सुधर्मा द्वारा नही हुआ है। यह सुधर्मा स्वामी के पश्चाद्वर्ती काल की रचना है। सुधर्मा और जम्बू के सवाद रूप मे पुरातन शैली का अनुकरण मात्र किया गया है और रचनाकार अज्ञातनामा कोई गीतार्थ स्थविर है।

वर्तमान प्रश्नव्याकरण की रचना-पद्धति काफी सुघटित है। अन्य आगमो की तरह विकीर्ण नही है। भाषा अर्धमागधी प्राकृत है, किन्तु समासबहुल होने से अतीव जटिल हो गई है। प्राकृत के साधारण अभ्यासी को समझना कठिन है। सस्कृत या हिन्दी की टीकाओ के विना उसके भावो को समझ लेना सरल नही है। कही-कही तो इतनी लाक्षणिक भाषा का उपयोग किया गया है जिसकी प्रतिकृति कादम्बरी आदि ग्रन्थो मे देखने को मिलती है। इस तथ्य को समर्थ वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने भी अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे स्वीकार किया है।

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन है। इन दस अध्ययनो का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। प्रथम तो प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध। जो प्रस्तुत श्रुत के उपसहार वचन से स्पष्ट है—'**पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो दस अज्झयणा।** नन्दी और समवायाग श्रुत मे भी प्रश्नव्याकरण का एक श्रुतस्कन्ध मान्य है। किन्तु आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति मे पुस्तकान्तर से जो उपोद्घात उद्धृत किया है, उसमे दूसरे प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। वहाँ प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध बतलाये हैं और प्रत्येक के पाँच-पाँच अध्ययनो का उल्लेख किया है —**दो सुयक्खधा पण्णत्ता-आसवदारा य संवरदारा य। पढमस्स णं सुयक्खधस्स पंच अज्झयणा। 'बीयस्स णं सुयक्खंधस्स पंच अज्झयणा** ...' । लेकिन आचार्य अभयदेव के समय मे यह कथन मान्य नही था ऐसा उनके इन वाक्यो से स्पष्ट है—'**या चेयं द्विश्रुतस्कन्धतोक्ताऽस्य सा न रूढा, एक श्रुतस्कन्धताया एव रूढत्वात्।**' लेकिन प्रतिपाद्य विषय की भिन्नता को देखते हुए इसके दो श्रुतस्कन्ध मानना अधिक युक्तसगत है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण मे हिंसादि पाच आस्रवो और अहिसा आदि पाच सवरो का वर्णन है। प्रत्येक का एक-एक अध्ययन मे सागोपाग विस्तार से आशय स्पष्ट किया है। जिस अध्ययन का जो वर्णनीय विषय है, उसके सार्थक नामान्तर बतलाये हैं। जैसे कि आस्रव प्रकरण मे हिंसादि प्रत्येक आस्रव के तीस-तीस नाम गिनाये हैं और इनके कटुपरिणामो का विस्तार से वर्णन किया है।

हिंसा आस्रव-अध्ययन का प्रारभ इस प्रकार से किया है—

जारिसओ जंनामा जह य कओ जारिसं फलं बिंति।
जे वि य करेंति पावा पाणवह त निसामेह ॥

अर्थात् (सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—हे जम्बू !) प्राणवध (हिंसा) का क्या स्वरूप है ? उसके कौन-कौन से नाम हैं ? वह जिस तरह से किया जाता है तथा वह जो फल देता है और जो-जो पापी जीव उसे करते है, उसे सुनो।

तदनन्तर हिंसा के पर्यायवाची नाम, हिंसा क्यो, किनकी और कैसे ? हिंसा के करने वाले और दुष्परिणाम, नरक गति मे हिंसा के कुफल, तिर्यचगति और मनुष्यगति मे हिंसा के कुफल का समग्र वर्णन इस प्रकार की भाषा मे किया गया है कि पाठक को हिंसा की भीषणता का साक्षात् चित्र दिखने लगता है।

इसी हिंसा का वर्णन करने के प्रसग मे वैदिक हिंसा का भी निर्देश किया है एव धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का उल्लेख करना भी सूत्रकार भूले नही है। इसके अतिरिक्त जगत् मे होने वाली विविध अथवा समस्त प्रकार की हिंसा-प्रवृत्ति का भी निर्देश किया गया है। हिंसा के सदर्भ मे विविध प्रकार के मकानो के विभिन्न नामों का, खेती के साधनो के नामो का तथा इसी प्रकार के हिंसा के अनेक निमित्तो का भी निर्देश किया गया है। इसी सदर्भ मे अनार्य— म्लेच्छ जातियो के नामो की सूची भी दी गई है।

असत्य आस्रव के प्रकरण मे सर्वप्रथम असत्य का स्वरूप बतलाकर असत्य के तीस सार्थक नामो का उल्लेख किया है। फिर असत्य भाषण किस प्रयोजन से किया जाता है और असत्यवादी कौन हैं, इसका सकेत किया है और अन्त मे असत्य के कटुफलो का कथन किया है।

सूत्रकार ने असत्यवादी के रूप मे निम्नोक्त मतो के नामो का उल्लेख किया है—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक,
२. पचस्कन्धवादी—बौद्ध,
३ मनोजीववादी—मन को जीव मानने वाले,
४ वायुजीववादी—प्राणवायु को जीव मानने वाले,
५ अडे से जगत की उत्पत्ति मानने वाले,
६ लोक को स्वयभूकृत मानने वाले,
७. ससार को प्रजापति द्वारा निर्मित मानने वाले,
८ ससार को ईश्वरकृत मानने वाले,
९ समस्त ससार को विष्णुमय मानने वाले,
१० आत्मा को एक, अकर्त्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त मानने वाले,

११ जगत को यादृच्छिक मानने वाले,
१२ जगत् को स्वभावजनित मानने वाले,
१३ जगत् को देवकृत मानने वाले,
१४. नियतिवादी—आजीवक।

इन असत्यवादको के नामोल्लेख से यह स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न दर्शनान्तरो की जगत् के विषय मे क्या-क्या धारणाएँ थी और वे इन्ही विचारो का प्रचार करने के लिए वैध-अवैध उपाय करते रहते थे।

चौर्य आस्रव का विवेचन करते हुए संसार मे विभिन्न प्रसगो पर होने वाली विविध चोरियो और चोरी करने वालो के उपायो का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकरण का प्रारम्भ भी पूर्व के अध्ययनो के वर्णन की तरह किया गया है। सर्वप्रथम अदत्तादान (चोरी) का स्वरूप बतलाकर सार्थक तीस नाम गिनाये हैं। फिर चोरी करने वाले कौन-कौन हैं और वे कैसी-कैसी वेशभूषा धारण कर जनता मे अपना विश्वास जमाते और फिर धन-सपत्ति आदि का अपहरण कर कहाँ जाकर छिपते है, आदि का निर्देश किया है। अन्त मे चोरी के दुष्परिणामो को इसी जन्म मे किस-किस रूप मे और जन्मान्तरो मे किन रूपो मे भोगना पडता है, आदि का विस्तृत और मार्मिक चित्रण किया है।

अब्रह्मचर्य आश्रम का विवेचन करते हुए सर्व प्रकार के भोगपरायण मनुष्यो, देवो, देवियो, चक्रवर्तियो, वासुदेवो, माण्डलिक राजाओ एव इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियो के भोगो और भोगसामग्रियो का वर्णन किया है। साथ ही शारीरिक सौन्दर्य, स्त्री-स्वभाव तथा विविध प्रकार की कामक्रीडाओ का भी निरूपण किया है और अन्त मे बताया है कि **ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं**। इसी प्रसग मे स्त्रियो के निमित्त होने वाले विविध युद्धो का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार ने एतद्विषयक व्याख्या मे सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, रक्तसुभद्रा, अहिल्या, सुवर्णगुटिका, रोहिणी, किन्नरी, सुरूपा तथा विद्युन्मती की कथाएँ जैन परम्परा के अनुसार उद्धृत की हैं।

पाचवे परिग्रह आस्रव के विवेचन मे ससार मे जितने प्रकार का परिग्रह होता है और दिखाई देता है, उसका सविस्तार निरूपण किया है। इस परिग्रह रूपी पिशाच के पाश मे सभी प्राणी आबद्ध हैं और यह जानते हुए भी इसके सदृश लोक मे अन्य कोई बन्धन नही है, उसका अधिक से अधिक सचय करते रहते हैं। परिग्रह के स्वभाव के लिए प्रयुक्त ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

अणंतं असरणं दुरंतं अधुवमणिच्चं असासयं पावकम्मनेमं अवकिरियव्वं विणासमूलं वहबंधपरिकिलेसबहुलं अणंतसंकिलेसकारणं।

इन थोडे से शब्दो मे परिग्रह का समग्र चित्रण कर दिया है। कहा है—उसका अन्त नही है, यह किसी को शरण देने वाला नही है, दुखद परिणाम वाला है, अस्थिर, अनित्य और अशाश्वत है, पापकर्म का मूल है, विनाश की जड है, वध, बध और सक्लेश मे व्याप्त है, अनन्त क्लेश इसके साथ जुडे हुए हैं।

अन्त मे वर्णन का उपसहार इन शब्दो के साथ किया है—**मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिमं अहम्मदारं समत्तं**—अर्थात् श्रेष्ठ मोक्षमार्ग के लिए यह परिग्रह अर्गलारूप है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाच अधिकारो मे रोगो के स्वरूप और उनके द्वारा होने वाले दुखो—पीडाओ का वर्णन है। रोग हैं आतरिक विकार, हिंसा, असत्य, स्तेय—चोरी, अब्रह्मचर्य—कामविकार और परिग्रह

तथा तज्जन्य दु ख है—वध, बधन, अनेक प्रकार की कुयोनियो, कुलो मे जन्म-मरण करते हुए अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करना।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध है इन रोगो से निवृत्ति दिलाने वाले उपायों के वर्णन का। इसमे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के स्वरूप का और उनके सुखद प्रतिफलो का सविस्तार निरूपण किया है।

प्रथम सवर अहिसा के प्रकरण मे विविध व्यक्तियो द्वारा आराध्य विविध प्रकार की अहिंसा का विवेचन है। सर्वप्रथम अहिसा के साठ सार्थक नामो का उल्लेख किया है। इन नामो मे प्रकारान्तर से भगवती अहिसा की महिमा, अतिशय और प्रभाव का निर्देश किया है। इन नामो से अहिसा के व्यापक--सर्वांगीण—स्वरूप का चित्रण हो जाता है। अन्त मे अहिसावृत्ति को सपन्न बनाने मे कारणभूत पाच भावनाओ का वर्णन किया है।

सत्यरूप द्वितीय सवर के प्रकरण मे विविध प्रकार के सत्यो का वर्णन किया है। इसमे व्याकरणसम्मत वचन को भी अमुक अपेक्षा से सत्य कहा है तथा बोलते समय व्याकरण के नियमो तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का सकेत किया गया है। साथ ही दस प्रकार के सत्यो का निरूपण किया है—जनपदसत्य, समतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

इसके अतिरिक्त बोलने वालो को वाणीमर्यादा और शालीनता का ध्यान रखने को कहा गया है कि ऐसा वचन नही बोलना चाहिए जो सयमघातक हो, पीडाजनक हो, भेद-विकथाकारक हो, कलहकारक हो, अपशब्द हो और अशिष्ट जनो द्वारा प्रयोग मे लाया जाने वाला हो, अन्याय पोषक हो, अवर्णवाद से युक्त हो, लोकनिन्द्य हो, स्वप्रशसा और परनिन्दा करने वाला हो इत्यादि। ऐसे वचन सयम का घात करने वाले है, अत उनका प्रयोग नही करना चाहिए।

अचौर्य सम्बन्धी प्रकरण मे अचौर्य से सम्बन्धित अनुष्ठानो का वर्णन किया गया है। इसमे अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम व्याख्या की गई है।

अचौर्य के लिए प्रयुक्त अदत्तादानविरमण और दत्तानुज्ञात इन दो पर्यायवाची नामो का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि अदत्त के मुख्यतया पाच प्रकार है--देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गृहपति-अदत्त और सहधर्मी-अदत्त। इन पाचो प्रकारो के अदत्तो का स्थूल या सूक्ष्म किसी न किसी रूप मे ग्रहण किया जाना है तो वह अदत्तादान है। ऐसे अदत्तादान का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करना अदत्तादानविरमण कहलाता है। दत्तानुज्ञात मे दत्त और अनुज्ञात यह दो शब्द हैं। इनका अर्थ सुगम है किन्तु व्यञ्जनिक अर्थ यह है कि दाता और आज्ञादायक के द्वारा भक्तिभावपूर्वक जो वस्तु दी जाए तथा लेने वाले की मानसिक स्वस्थता बनी रहे ऐसी स्थिति का नियामक शब्द दत्तानुज्ञात है। दूसरा अर्थ यह है कि स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी जिसके उपयोग करने की अनुज्ञा - आज्ञा स्वीकृति गुरुजनो से प्राप्त हो, वही दत्तानुज्ञात है। अन्यथा उसे चोरी ही कहा जाएगा।

ब्रह्मचर्यसवर प्रकरण मे ब्रह्मचर्य के गौरव का प्रभावशाली शब्दो मे विस्तार से निरूपण किया गया है। इसकी साधना करने वालो के सम्मानित एव पूजित होने का प्ररूपण किया है। इन दोनो के माहात्म्यदर्शक कतिपय अश इस प्रकार है—

सव्वपवित्तसुनिम्मियसार, सिद्धिविमाणअवगुयदार।

वेरविरामणपज्जवमाण सव्वसमुद्दमहोदधितित्थ ।

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी स सजए स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति बभचेर ।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य विरोधी प्रवृत्तियो का भी उल्लेख किया है और वह इसलिए कि ये कार्य ब्रह्मचर्य-साधक को साधना से पतित करने मे कारण हैं ।

अन्तिम प्रकरण अपरिग्रहसवर का है । इसमे अपरिग्रहवृत्ति के स्वरूप, तद्विषयक अनुष्ठानो और अपरिग्रहव्रतधारियो के स्वरूप का निरूपण है । इसकी पाच भावनाओ के वर्णन मे सभी प्रकार के ऐन्द्रियिक विषयों के त्याग का सकेत करते हुए बताया है कि—

मणुन्नामणुन्न-सुब्भि-दुब्भि-राग-दोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडेण पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्म ।

इस प्रकार से प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य विषय पाच आस्रवो और पाच सवरो का निरूपण है । इनके वर्णन के लिए जिस प्रकार की शब्दयोजना और भावाभिव्यक्ति के लिए जैसे अलकारो का उपयोग किया है, उसके लिये अनन्तरवर्ती शीर्षक मे सकेत करते हैं ।

साहित्यिक मूल्यांकन

किसी भी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के अनुरूप भाव-भाषा-शैली का उपयोग किया जाना उसके साहित्यिक स्तर के मूल्याकन की कसौटी है । इस दृष्टि से जब हम प्रस्तुत प्रश्नव्याकरणसूत्र का अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि भारतीय वाङ्मय मे इसका अपना एक स्तर है ।

भावाभिव्यक्ति के लिये शब्दयोजना प्रौढ, प्राञ्जल और प्रभावक है । इसके द्वारा वर्ण्य का समग्र शब्दचित्र पाठक के समक्ष उपस्थित कर दिया है । इसके लिए हम पच आस्रवो अथवा पच सवरो मे से किसी भी एक को उदाहरण के रूप मे ले सकते है । जैसे कि हिंसा-आस्रव की भीषणता का बोध कराने के लिए निम्न प्रकार के कर्कश वर्णों और अक्षरो का प्रयोग किया है—

'पावो चडो रुद्दो खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्ससो महब्भओ पइभओ अइभओ बीहणओ तासणओ अणज्जो उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपयट्टओ मरणविमणस्सो ।'

इसके विपरीत सत्य-सवर का वर्णन करने के लिए ऐसी कोमल-कात-पदावली का उपयोग किया है, जो हृदयस्पर्शी होने के साथ-साथ मानवमन मे नया उल्लास, नया उत्साह और उन्मेष उत्पन्न कर देती है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित गद्याश पर्याप्त है—

' . . .सच्चवयण सुद्ध सुचिय सिव सुजाय सुभासिय सुव्वयं सुकहिय सुदिट्ठ सुपितिट्ठिय सुपइट्ठियजस सुसजमियवयणबुइय सुरवरनरवसभपवरबलवगसुविहियजणबहुमय परमसाहुधम्मचरण तवनियमपरिग्गहिय सुगतिपहदेसग च लोगुत्तम वयमिण ।'

भाषा, भाव के अनुरूप है, यत्र-तत्र साहित्यिक अलकारो का भी उपयोग किया गया है । मुख्य रूप से उपमा और रूपक अलकारो की बहुलता है । फिर भी अन्यान्य अलकारो का उपयोग भी यथाप्रसंग किया गया है, जिनका ज्ञान प्रासगिक वर्णनो को पढ़ने से हो जाता है ।

भावो की सही अनुभूति की बोधक भाषायोजना रस कहलाती है। इस अपेक्षा से भाषा का विचार करें तो प्रस्तुत ग्रन्थ मे शृ गार, वीर, करुण, वीभत्स आदि साहित्यिक सभी रसो का समावेश हुआ है। जैसे कि हिंसा-आस्रवों के कुफलों के वर्णन मे वीभत्स और उनका भोग करने वालो के वर्णन मे करुण रस की अनुभूति होती है। इसी प्रकार का अनुभव अन्य आस्रवों के वर्णन मे भी होता है कि प्राणी अपने क्षणिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए कितने-कितने वीभत्स कार्य कर बैठते हैं और परिणाम की चिन्ता न कर क्रूरता की चरमता को भी लांघ जाते हैं। लेकिन विपाककाल मे बनने वाली उनकी स्थिति करुणता की सीमा भी पार कर जाती है। पाठक के मन मे एक ऐसा स्थायी निर्वेदभाव उत्पन्न हो जाता है कि वह स्वय के अतर्जीवन की ओर झांकने का प्रयत्न करता है।

अब्रह्मचर्य-आस्रव के वर्णन मे शृ गाररस से पूरित अनेक गद्यांश हैं। लेकिन उनमे उद्दाम शृ गार नही है, अपितु विरागभाव से अनुप्राणित है। सर्वत्र यही निष्कर्ष रूप मे बताया है कि उत्तम से उत्तम भोग भोगने वाले भी अन्त में कामभोगो से अतृप्त रहते हुए ही मरणधर्म को प्राप्त होते हैं।

लेकिन अहिंसा आदि पाँच सवरो के वर्णन मे वीररस की प्रधानता है। आत्मविजेताओ की अदीन-वृत्ति को प्रभावशाली शब्दावली मे जैसा का तैसा प्रकट किया है। सर्वत्र उनकी मनस्विता और मनोबल की सबलता का दिग्दर्शन कराया है।

इस प्रकार हम प्रस्तुत आगम को किसी भी कसौटी पर परखे, वाङ्मय मे इसका अनूठा, अद्वितीय स्थान है। साहित्यिक कृति के लिए जितनी भी विशेषतायें होनी चाहिये, वे सब इसमे उपलब्ध हैं। विद्वान् गीतार्थ रचयिता ने इसकी रचना मे अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रयोग किया है और प्रतिपाद्य के प्रत्येक आयाम पर प्रौढ़ता का परिचय दिया है।

तत्कालीन आचार-विचार का चित्रण

ग्रन्थकार ने तत्कालीन समाज के आचार-विचार का भी विवरण दिया है। लोकजीवन की कैसी प्रवृत्ति थी और तदनुरूप उनकी कैसी मनोवृत्ति थी, आदि सभी का स्पष्ट उल्लेख किया है। एक ओर उनके आचार-विचार का कृष्णपक्ष मुखरित है तो दूसरी ओर उनके शुक्लपक्ष का भी परिचय दिया है। मनोविज्ञान-वेत्ताओ के लिए तो इसमे इतनी सामग्री संकलित कर दी गई है कि उससे यह जाना जा सकता है कि मनोवृत्ति की कौनसी धारा मनुष्य की किस प्रवृति को प्रभावित करती है और उससे किस आचरण की ओर मुडा जा सकता है।

प्रस्तुत संस्करण

वैसे तो आस्रव और सवर की चर्चा अन्य आगमो मे भी हुई है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र तो इनके वर्णन का ही ग्रन्थ है, जितना व्यवस्थित और क्रमबद्ध वर्णन इसमे किया गया है, उतना अन्यत्र नही हुआ है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने इस पर टीकायें लिखीं, इसके प्रतिपाद्य विषय के आशय को सरल सुबोध भाषा मे स्पष्ट करने का प्रयास किया और वे इसमे सफल भी हुए हैं। उन्होने ग्रन्थ की समासबहुल शैली के आशय को स्पष्ट किया है, प्रत्येक शब्द मे गर्भित गूढ रहस्य को प्रकट किया है। उनके इस उपकार के लिये वर्त्तमान ऋणी रहेगा, लेकिन आज साहित्यसृजन की भाषा का माध्यम बदल जाने से वे व्याख्याग्रन्थ भी सर्वजन-सुबोध नही रहे। इसलिए वर्तमान की हिन्दी आदि लोकभाषाओ मे अनेक सस्करण प्रकाशित हुए। उन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। परन्तु यहाँ प्रस्तुत सस्करण के सम्बन्ध में ही कुछ प्रकाश डाल रहे हैं।

प्रस्तुत सस्करण के अनुवादक प मुनि श्री प्रवीणऋषिजी म. हैं, जो आचार्यसम्राट् श्री आनन्दऋषिजी म. के अन्तेवासी हैं। इस अनुवाद के विवेचक सम्पादक गुरुणागुरु श्रद्धेय पण्डितरत्न श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल हैं। जैन आगमो का आपने अनेक बार अध्ययन-अध्यापन किया है। यही कारण है कि आपने ग्रन्थ के विवेचन मे अभिधेय के आशय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक सभी विवरणो को यथाप्रसंग समायोजित कर ग्रन्थ के हार्द को सुललित शैली मे व्यक्त किया है। इसमे न तो कुछ अप्रासगिक जोडा गया है और न वह कुछ छूट पाया है जो वर्ण्य के आशय को स्पष्ट करने के लिए अपेक्षित है। पाठक को स्वत: यह अनुभव होगा कि पण्डितजी ने पांडित्यप्रदर्शन न करके स्वान्त सुखाय लिखा है और जो कुछ लिखा है, उसमें उनकी अनुभूति तदाकार रूप मे अवतरित हुई है। सक्षेप मे कहे तो निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है कि आपकी भाषाशैली का जो भागीरथी गगा जैसा सरल प्रवाह है, मनोभावो की उदारता है, वाचाशक्ति का प्रभाव है, वह सब इसमे पु ज रूप से प्रस्तुत कर दिया है। इसके सिवाय अधिक कुछ कहना मात्र शब्दजाल होगा, परन्तु इतनी अपेक्षा तो है ही कि पण्डितप्रवर अन्य गम्भीर आगमो के आशय का ऐसी ही शैली मे सम्पादन कर अपने ज्ञानवृद्धत्व के द्वारा जन-जन की ज्ञानवृद्धि के सूत्रधार बने।

आशा और विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आगमसाहित्य के क्षेत्र मे यह सुरुचिपूर्ण सस्करण यशस्वी और आकर्षक रहेगा।

आगमसाहित्य के प्रकाशन की दशा और दिशा

उपसहार के रूप मे एतद् विषयक मुख्य बिन्दुओ पर सक्षेप में प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

यह तो पूर्व मे कहा जा चुका है कि एक समय था जब धर्मग्रन्थ कठोपकठ सुरक्षित रखे जाते थे, लिखने का रिवाज न था। लेकिन परिस्थिति के परिवर्तित होने पर लेखन-प्रणाली स्वीकार कर ली गई और जैन आगमो को ताडपत्रादि पर लिपिबद्ध किया गया। जैन आचार्यों का यह परिश्रम अमूल्य एव अभिनदनीय रहा कि उनके प्रयासो के फलस्वरूप आगम ग्रन्थ किसी न किसी रूप मे सुरक्षित रहे।

इसके बाद कागज पर लिखने का युग आया। इस युग मे आगमो की अनेक प्रतिलिपियाँ हुई और भिन्न-भिन्न ग्राम, नगरो के ग्रन्थभडारो मे सुरक्षित रखी गई। लेकिन इस समय मे लिपिकारो की अल्पज्ञता आदि के कारण पाठो मे भेद हो गये। ऐसी स्थिति मे यह निर्णय करना कठिन हो गया कि शुद्ध पाठ कौनसा है? इसी कारण आचार्यों ने उपलब्ध पाठो के आधार पर अपने-अपने ढग से व्याख्याएँ की।

तत्पश्चात् मुद्रणयुग मे जैनसघ का प्रारम्भ मे प्रयत्न नगण्य रहा। विभिन्न दृष्टियो से सघ मे शास्त्रो के मुद्रण के प्रति उपेक्षाभाव ही नही, विरोधभाव भी रहा। लेकिन विदेश मे कुछ जर्मन विद्वानों और देश मे कुछ प्रगतिशील जैनप्रमुखो ने आगमो को प्रकाशित करने की पहल की। उनमे अजीमगज (बगाल) के बाबू धनपतसिहजी का नाम प्रमुख है। उन्होने आगमो को टब्बो के साथ मुद्रित कर प्रकाशित कराया। इसके बाद विजयानन्दसूरिजी ने आगम-प्रकाशन कार्य करने वालो को प्रोत्साहित किया। सेठ भीमसिंह माणेक ने भी आगम-प्रकाशन की प्रवृत्ति प्रारम्भ की और एक दो आगम टीका सहित निकाले। इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियो की ओर से आगम-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया गया। उसमे आगमोदय समिति का नाम प्रमुख है। समिति ने सभी आगमो को समयानुकूल और साधनो के अनुरूप प्रकाशित करवाया।

स्थानकवासी जैन सघ मे सर्वप्रथम जीवराज घेलाभाई ने जर्मन विद्वानो द्वारा मुद्रित रोमन लिपि के आगमो को नागरी लिपि मे प्रकाशित किया। इसके बाद पूज्य अमोलकऋषिजी ने बत्तीस आगमो का हिन्दी

अनुवाद किया और हैदराबाद से वे प्रकाशित हुए। तत्पश्चात् सघ मे आगमो को व्यवस्थित रीति से सम्पादित करके प्रकाशित करने का मानस बना। पूज्य आत्मारामजी महाराज ने अनेक आगमो की अनुवाद सहित व्याख्याएँ की, जो पहले भिन्न-भिन्न सद्ग्रहस्थो की ओर से प्रकाशित हुए और अब आत्माराम जैन साहित्य प्रकाशन समिति लुधियाना की ओर से मुद्रण और प्रकाशन कार्य हो रहा है। मुनिश्री फूलचन्दजी म पुप्फभिक्खु ने दो भागो मे मूल बत्तीसो आगमो को प्रकाशित किया। जिनमे कुछ पाठो को बदल दिया गया। इसके बाद पूज्य घासीलालजी महाराज ने हिन्दी, गुजराती और सस्कृत विवेचन सहित प्रकाशन का कार्य किया। इस समय आगमप्रकाशन समिति ब्यावर की ओर से भी शुद्ध मूल पाठो सहित हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का कार्य हो रहा है।

इसके सिवाय महावीर जैन विद्यालय बम्बई के तत्त्वावधान मे मूल आगमो का परिष्कार करके शुद्ध पाठ सहित प्रकाशन का कार्य चल रहा है। अनेक आगम ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। जैन विश्वभारती लाडनू की ओर से भी ग्यारह अग– आगम मूल प्रकाशित हो चुके है।

इस प्रकार से समग्र जैन सघ मे आगमो के प्रकाशन के प्रति उत्साह है और मूल पाठो, पाठान्तरो, विभिन्न प्रतियो मे प्राप्त लिपिभेद के कारण हुए शब्दभेद, विषयसूची, शब्दानुक्रमणिका, परिशिष्ट, प्रस्तावना सहित प्रकाशित हो रहे है। इससे यह लाभ हो रहा है कि विभिन्न ग्रन्थभडारो मे उपलब्ध प्रतियो के मिलाने का अवसर मिला, खडित पाठो आदि को फुटनोट के रूप मे उद्धृत भी किया जा रहा है। लेकिन इतनी ही जैन आगमो के प्रकाशन की सही दिशा नही मानी जा सकती है। अब तो यह आवश्यकता है कि कोई प्रभावक और बहुश्रुत जैनाचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण जैसा साहस करके सर्वमान्य, सर्वत. शुद्ध आगमो को प्रकाशित करने-कराने के लिए अग्रसर हो।

साथ ही जैन सघ का भी यह उत्तरदायित्व है कि आगममर्मज्ञ मुनिराजो और वयोवृद्ध गृहस्थ विद्वानो के लिए ऐसी अनुकूल परिस्थितियो का सर्जन करे, जिससे वे स्वसुखाय के साथ-साथ परसुखाय अपने ज्ञान को वितरित कर सके। उनमे ऐसा उल्लास आये कि वे सरस्वती के साधक सरस्वती की साधना मे एकान्तरूप से अपने को अर्पित कर दे। सम्भवत यह स्थिति आज न बन सके, लेकिन भविष्य के जैन सघ को इसके लिए कार्य करना पडेगा। विश्व मे जो परिवर्तन हो रहे है, यदि उनके साथ चलना है तो यह कार्य शीघ्र प्रारम्भ करना चाहिए।

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे जैन पीठो की स्थापना होती जा रही है और शोधसस्थान भी स्थापित हो रहे हैं। उनसे जैन साहित्य के सशोधन को प्रोत्साहन मिला है और प्रकाशन भी हो रहा है। यह एक अच्छा कार्य है। अत उनसे यह अपेक्षा है कि अपने साधनो के अनुरूप प्रतिवर्ष भडारो मे सुरक्षित दो-चार प्राचीन ग्रथो को मूल रूप मे प्रकाशित करने की ओर उन्मुख हो।

ऐसा करने से जैन साहित्य की विविध विधाओ का ज्ञान प्रसारित होगा और जैन साहित्य की विशालता, विविधरूपता एव उपादेयता प्रकट होगी।

विशेषु कि बहुना!

जैन स्थानक,
ब्यावर (राज) ३०५९०१

—देवकुमार जैन

अपनी बात

[प्रथम संस्करण से]

हमारे श्रमणसंघ के विद्वान् युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज जितने शान्त एवं गम्भीर प्रकृति के है, ज्ञान-गरिमा की दृष्टि से उतने ही स्फूर्त तथा क्रियाशील हैं। ज्ञान के प्रति अगाध प्रेम और विस्तार की भावना आप मे बडी तीव्र है। जब से आपश्री ने समस्त बत्तीस आगामो के हिन्दी अनुवाद-विवेचन युक्त आधुनिक शैली मे प्रकाशन योजना की घोषणा की है, विद्वानो तथा आगमपाठी ज्ञान-पिपासुओ मे बडी उत्सुकता व प्रफुल्लता की भावना बढी है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी थी।

बहुत वर्षों पूर्व पूज्यपाद श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने आगामो के हिन्दी अनुवाद का जो भगीरथ कार्य सम्पन्न किया था, वह सम्पूर्ण स्थानकवासी जैन समाज के लिए एक गौरव का कार्य तो था ही, अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी भी था। वर्तमान मे उन आगामो की उपलब्धि भी कठिन हो गई और आगमपाठी जिज्ञासुओ को बडी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। श्रद्धेय आचार्यसम्राट् श्री आनन्दऋषिजी महाराज भी इस दिशा मे चिन्तनशील थे और आपकी हार्दिक भावना थी कि आगामो का आधुनिक संस्करण विद्यार्थियो को सुलभ हो। युवाचार्यश्री की साहसिक योजना ने आचार्यश्री की अन्तरग भावना को सन्तोष ही नही किन्तु आनन्द प्रदान किया।

आगम-सम्पादन-कार्य मे अनेक श्रमण, श्रमणियो तथा विद्वनो का सहकार अपेक्षित है और युवाचार्य श्री ने बडी उदारता के साथ सबका सहयोग आमन्त्रित किया। इससे अनेक प्रतिभाओ को सक्रिय होने का अवसर व प्रोत्साहन मिला। मुझ जैसे नये विद्यार्थियो को भी अनुभव की देहरी पर चढने का अवसर मिला। सिकन्द्राबाद वर्षावास मे राजस्थानकेसरी श्री पुष्करमुनिजी, साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनिजी आदि भी आचार्यश्री के साथ थे। श्री देवेन्द्रमुनिजी हमारे स्थानकवासी जैन समाज के सिद्धहस्त लेखक व अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होने मुझे भी आगम-सम्पादन-कार्य मे प्रेरित किया। उनकी बार-बार की प्रोत्साहनपूर्ण प्रेरणा से मैंने भी आगम-सम्पादन-कार्य मे सहयोगी बनने का सकल्प किया। परम श्रद्धेय आचार्यश्री का मार्गदर्शन मिला और मैं इस पथ पर एक कदम बढाकर आगे आया। फिर गति मे कुछ मन्दता आ गई। आदरणीया विदुषी महासती प्रीतिसुधाजी ने मेरी मन्दता को तोडा, बल्कि कहना चाहिए झकझोरा, उन्होने सिर्फ प्रेरणा व प्रोत्साहन ही नही, सहयोग भी दिया, बार-बार पूछते रहना, हर प्रकार का सहकार देना तथा अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ, टीकाएँ, टब्बा आदि उपलब्ध कराना, यह सब उन्ही का काम था। यदि उनकी बलवती प्रेरणा व जीवन्त सहयोग न होता तो मैं शायद प्रश्नव्याकरणसूत्र का अनुवाद नही कर पाता।

प्रश्नव्याकरणसूत्र अपनी शैली का एक अनूठा आगम है। अन्य आगमो मे जहाँ वर्ण्यविषय की विविधता विहगम गति से चली हैं, वहाँ इस आगम की वर्णनशैली पिपीलिकायोग-मार्ग की तरह पिपीलिकागति से क्रमबद्ध चली है। पाच आश्रवो तथा पाच सवरो का इतना सूक्ष्म, तलस्पर्शी, व्यापक और मानव-मनोविज्ञान को छूने वाला वर्णन ससार के किसी भी अन्य शास्त्र या ग्रन्थ मे मिलना दुर्लभ है।

शब्दशास्त्र का नियम है कि कोई भी दो शब्द एकार्थक नही होते। प्रत्येक शब्द, जो भले पर्यायवाची हो, एकार्थक प्रतीत होते हो, किन्तु उनका अर्थ, प्रयोजन, निष्पत्ति भिन्न होती है और वह स्वय मे कुछ न कुछ भिन्न

अर्थवत्ता लिए होता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यही अद्भुतता है, विलक्षणता है कि हिंसा अहिंसा, सत्य, असत्य आदि के ६०, ३० आदि जो पर्यायवाची नाम दिये है, वे सभी भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक हैं। उनकी पहुँच मानव के गहन अन्त करण तक होती है और भिन्न-भिन्न मानसवृत्तियो, स्थितियो और प्रवृत्तियो को दर्शाती हैं। उदाहरण स्वरूप—हिंसा के पर्यायवाची नामों मे क्रूरता भी है और क्षुद्रता भी है। क्रूरता को हिंसा समझना बहुत सरल है, किन्तु क्षुद्रता भी हिंसा है, यह बडी गहरी व सूक्ष्म बात है। क्षुद्र का हृदय छोटा, अनुदार होता है तथा वह भीत व त्रस्त रहता है। उसमे न देने की क्षमता है, न सहने की, इस दृष्टि से अनुदारता, असहिष्णुता तथा कायरता 'क्षुद्र' शब्द के अर्थ को उद्घाटित करती है और यहाँ हिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है।

तीसरे सवरद्वार मे अस्तेयव्रत की आराधना कौन कर सकता है, उसकी योग्यता, अर्हता व पात्रता का वर्णन करते हुए बताया है—'संग्रह-परिग्रहकुशल' व्यक्ति अस्तेयव्रत की आराधना कर सकता है।

सग्रह-परिग्रह शब्द की भावना बडी सूक्ष्म है। टीकाकार आचार्य ने बताया है—'सग्रह-परिग्रह-कुशल' का अर्थ है सविभागशील, जो सबको समान रूप से बँटवारा करके सन्तुष्ट करता हो, वह समवितरणशील या सविभाग मे कुशल व्यक्ति ही अस्तेयव्रत की आराधना का पात्र है।

'प्रार्थना' को चौर्य मे गिनना व आदर को परिग्रह मे समाविष्ट करना बहुत ही सूक्ष्म विवेचना व चिन्तना की बात है। इस प्रकार के सैकडो शब्द हैं, जिनका प्रचलित अर्थों से कुछ भिन्न व कुछ विशिष्ट अर्थ है और उस अर्थ के उद्घाटन से बहुत नई अभिव्यक्ति मिलती है। मैंने टीका आदि के आधार पर उन अर्थों का उद्घाटन कर उनकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है।

यद्यपि आगम अनुवाद-सम्पादन के क्षेत्र मे यह मेरा प्रथम प्रयास है, इसलिए भाषा का सौष्ठव, वर्णन की प्रवाहबद्धता व विषय की विशदता लाने मे अपेक्षित सफलता नही मिली, जो स्वाभाविक ही है, किन्तु सुप्रसिद्ध साहित्यशिल्पी श्रीचन्दजी सुराना का सहयोग, पथदर्शन तथा भारतप्रसिद्ध विद्वान् मनीषी आदरणीय प श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का अकथनीय सहयोग इस आगम को सुन्दर रूप प्रदान करने मे समर्थ हुआ है। वास्तव मे युवाचार्यश्री की उदारता तथा गुणज्ञता एव प श्री भारिल्लजी साहब का सशोधन-परिष्कार मेरे लिए सदा स्मरणीय रहेगा। यदि भारिल्ल साहब ने सशोधन-श्रम न किया होता तो यह आगम इतने सुव्यवस्थित रूप मे प्रकट न होता। मैं आशा व विश्वास करता हूँ कि पाठको को मेरा श्रम सार्थक लगेगा और मुझे भी उनकी गुणज्ञता से आगे बढने का साहस व आत्मबल मिलेगा। इसी भावना के साथ—

—प्रवीण ऋषि

विषयानुक्रमणिका

प्रथम श्रुतस्कन्ध : आस्रवद्वार

विषय | पृष्ठाङ्क

प्रथम अध्ययन—हिंसा

चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्म

पञ्चम अध्ययन—परिग्रह

द्वितीय श्रुतस्कन्ध—संवरद्वार

प्रथम अध्ययन—अहिंसा

द्वितीय अध्ययन—सत्य

तृतीय अध्ययन—दत्तानुज्ञात

चतुर्थ अध्ययन—ब्रह्मचर्य

पंचम अध्ययन—परिग्रहत्याग

परिशिष्ट

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिपणीयं दसमं अंग

पण्हावागरणाइं

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिप्रणीत दशम अंग

प्रश्नव्याकरणसूत्र

प्रश्नव्याकरणसूत्र

पूर्वपीठिका

प्रश्नव्याकरणसूत्र भगवान् महावीर द्वारा अर्थत: प्रतिपादित द्वादशांगी में दसवे अग के रूप में परिगणित है। नन्दी आदि आगमो मे इसका प्रतिपाद्य जो विषय बतलाया गया है, उपलब्ध प्रश्न-व्याकरण मे वह वर्णित नही है। वर्त्तमान मे यह सूत्र दो मुख्य विभागो में विभक्त है—आस्रवद्वार और सवरद्वार। दोनो द्वारो मे पाँच-पाँच अध्ययन होने से कुल दस अध्ययनो मे यह पूर्ण हुआ है। अत इसका नाम 'प्रश्नव्याकरणदशा' भी कही-कही देखा जाता है।

प्रथम विभाग मे हिंसा आदि पाँच आस्रवो का और दूसरे विभाग मे अहिंसा आदि पाँच सवरो का वर्णन किया गया है।

प्रथम विभाग का प्रथम अध्ययन हिंसा है।

बहुतो की ऐसी धारणा है कि हिंसा का निषेध मात्र अहिंसा है, अतएव वह निवृत्तिरूप ही है; किन्तु तथ्य इससे विपरीत है। अहिंसा के निवृत्तिपक्ष से उसका प्रवृत्तिपक्ष भी कम प्रबल नही है। करुणात्मक वृत्तियाँ भी अहिंसा है।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा और उनका व्यावहारिक स्वरूप विवादास्पद रहा है। इसीलिए आगमकार हिंसा का स्वरूप-विवेचन करते समय किसी एक दृष्टिकोण से बात नही करते है। उसके अन्तरग, बहिरग, सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक स्वरूप को तथा उसके कारणो की भी मीमासा करते है।

प्रस्तुत आगम मे विषय-विश्लेषण के लिए पाँच द्वारो से हिंसा का वर्णन किया गया है:—हिंसा का स्वभाव, उसके स्वरूपसूचक गुणनिष्पन्न नाम, हिंसा की विधि—हिंस्य जीवो का उल्लेख, उसका फल और हिंसक व्यक्ति। इन पाँच माध्यमो मे हिंसा का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। हिंसा का कोई आयाम छूटा नही है।

हिंसा केवल चण्ड और रौद्र ही नही, क्षुद्र भी है। अनेकानेक रूप हैं और उन रूपो को प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रकार ने उसके अनेक नामो का उल्लेख किया है। वस्तुत: परिग्रह, मैथुन, अदत्तादान और असत्य भी हिंसाकारक एव हिंसाजन्य है, तथापि सरलता से समझाने के लिए इन्हे पृथक्-पृथक् रूप में परिभाषित किया गया है। अतएव आस्रवद्वार प्रस्तुत आगम मे पाँच बतलाए गए हैं और इनका हृदयग्राही विशद वर्णन किया गया है।

आस्रव और सवर सात तत्त्वो या नौ पदार्थों में परिगणित हैं। अध्यात्मदृष्टि मुमुक्षु जनों के लिए इनका बोध होना आवश्यक ही नही, सफल साधना के लिए अनिवार्य भी है। आस्रव

जन्म-मरणरूप भवपरम्परा का प्रधान कारण है और सवर-आस्रवनिरोध विशुद्ध आत्मदशा-मुक्ति का मुख्य कारण है। इन दोनो तत्त्वों को जो यथावत् जान-बूझ लेता है, वही साधक निर्वाण-साधना मे सफलता का भागी बन सकता है। किन कारणो से कर्म का बन्ध होता है और किन उपायो से कर्मबन्ध का निरोध किया जा सकता है, इस तथ्य को समीचीन रूप से अधिगत किए विना ही साधना के पथ पर चलने वाला कदापि 'सिद्ध' नही बन सकता।

आस्रव और सवर तत्त्व जैन अध्यात्म का एक विशिष्ट और मौलिक अभ्युपगम है। यद्यपि बौद्ध आगमो मे भी आस्रव (आसव) शब्द प्रयुक्त हुआ है, पर उसका उद्गमस्थल जैन आगम ही हैं।

आगे पांचो आस्रवो का अनुक्रम से विवरण दिया जा रहा है। तत्पश्चात् द्वितीय सवरद्वार का निरूपण किया गया है।

□□

[१]

आस्रवद्वार

प्रथम अध्ययन : हिंसा

१—जंबू[1] !

इणमो अण्हय-संवर विणिच्छयं, पवयणस्स णिस्संदं ।
वोच्छामि णिच्छयत्थं, सुभासियत्थं महेसीहिं ॥१॥
पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहिं इह अण्हओ अणाईओ ।
हिंसामोसमदत्तं अब्बंभपरिग्गहं चेव ॥२॥
जारिसओ जं णामा, जह य कओ जारिसं फलं देइ ।
जे वि य करेंति पावा, पाणवहं[2] तं णिसामेह ॥३॥

१—हे जम्बू ! आस्रव और सवर का भलीभाँति निश्चय कराने वाले प्रवचन के सार को मैं कहूगा, जो महर्षियों—तीर्थंकरों एव गणधरो आदि के द्वारा निश्चय करने के लिए सुभाषित है—समीचीन रूप से कहा गया है ॥१॥

जिनेश्वर देव ने इस जगत् मे अनादि आस्रव को पाँच प्रकार का कहा है—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) अदत्तादान, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह ॥२॥

प्राणवधरूप प्रथम आस्रव जैसा है, उसके जो नाम हैं, जिन पापी प्रणियो द्वारा वह किया जाता है, जिस प्रकार किया जाता है और जैसा (घोर दु:खमय) फल प्रदान करता है, उसे तुम सुनो ॥३॥

विवेचन—आ—अभिविधिना सर्वव्यापकविधित्वेन श्रौति-स्रवति वा कर्म येभ्यस्ते आश्रवा । जिनसे आत्मप्रदेशो मे कर्म-परमाणु प्रविष्ट होते हो उन्हे आश्रव या आस्रव कहते हैं। आत्मा जिस समय क्रोधादि या हिंसादि भावो में तन्मय होती है उस समय आश्रव की प्रक्रिया सपन्न होती है। बधपूर्व प्रवृत्ति की उत्तर अवस्था आश्रव है। आत्मभूमि मे शुभाशुभ फलप्रद कर्म-बीजो के बोने की प्रक्रिया आश्रव है।

आश्रवो की सख्या और नामो के विषय मे विविध प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं। स्थानागसूत्र में एक, पाँच, छह, आठ, दस[3] आश्रव के प्रकार गिनाये है।

---

१. देखिए परिशिष्ट १

२ पाठान्तर—पाणिवहं ।

३ स्थानाग-[१-१२, ५-१०९, ६-१६, ८-१२, १०-११]

तत्त्वार्थसूत्र मे आश्रव के पांच भेद—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग माने हैं।[1]

कही-कही आश्रव के बीस भेद भी गिनाये गये है।

प्रस्तुत तीन गाथाओं में से प्रथम गाथा मे इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख कर दिया गया है, अर्थात् यह प्रदर्शित कर दिया गया है कि इस शास्त्र मे आस्रव और सवर की प्ररूपणा की जाएगी।

'सुभासियत्थ महेसीहिं (सुभाषितार्थं महर्षिभि) अर्थात् यह कथन तीर्थंकरो द्वारा समीचीन रूप से प्रतिपादित है। यह उल्लेख करके शास्त्रकार ने अपने कथन की प्रामाणिकना एव विश्वसनीयता प्रकट की है।

जिसने कर्मबन्ध के कारणो—आस्रवों और कर्मनिरोध के कारणों को भलीभाति जान लिया, उसने समग्र प्रवचन के रहस्य को ही मानो जान लिया। यह प्रकट करने के लिए इसे 'प्रवचन का निष्यद' कहा है।

दूसरी गाथा में बताया है—प्रत्येक ससारी जीव को आस्रव अनादिकाल से हो रहा है—लगातार चल रहा है। ऐसा नही है कि कोई जीव एक बार सर्वथा आस्रवरहित होकर नये सिरे से पुन: आस्रव का भागी बने। अतएव आस्रव को यहां अनादि कहा है। अनादि होने पर भी आस्रव अनन्तकालिक नही है। सवर के द्वारा उसका परिपूर्ण निरोध किया जा सकता है, अन्यथा सम्पूर्ण अध्यात्मसाधना निष्फल सिद्ध होगी।

यहां पर स्मरण रखना चाहिए कि आस्रव सततिरूप से—परम्परा रूप से ही अनादि है।

इसमे आगे कहे जाने वाले पाँच आस्रवो के नामो का भी उल्लेख कर दिया गया है।

तृतीय गाथा मे प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ हिंसा आस्रव के सबध मे निम्नलिखित विषयो पर प्रकाश डाला जायेगा—

(१) हिंसा आस्रव का स्वरूप क्या है ?
(२) उसके क्या-क्या नाम हैं, जिनसे उसके विविध रूपो का ज्ञान हो सके ?
(३) हिंसारूप आस्रव किस प्रकार से किन-किन कृत्यो द्वारा किया जाता है ?
(४) किया हुआ वह आस्रव किस प्रकार का फल प्रदान करता है ?
(५) कौन पापी जीव हिंसा करते हैं ?

हिंसा-आस्रव के सबध मे प्ररूपणा की जो विधि यहाँ प्रतिपादित की गई है, वही अन्य आस्रवो के विषय में भी समझ लेनी चाहिये।

प्राण-वध का स्वरूप

२—पाणवहो णाम एसो जिणेहिं भणिओ—१ पावो २ चंडो ३ रुद्दो ४ खुद्दो ५ साहसिओ ६ अणारिओ ७ णिग्घिणो ८ णिस्संसो ९ महब्भओ १० पइभओ ११ अइभओ १२ बीहणओ १३ तासणओ १४ अणज्जओ १५ उव्वेयणओ य १६ णिरवयक्खो १७ णिद्धम्मो १८ णिप्पिवासो १९

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगास्तद्भेदा:। —अ. ८-१।

निक्कलुणो २० णिरयवासगमणनिधणो २१ मोहमहब्भयपयट्टओ २२ मरणवेमणस्सो। एस पढमं अहम्मदारं ॥१॥

२—जिनेश्वर भगवान् ने प्राणवध को इस प्रकार कहा है—यथा (१) पाप (२) चण्ड (३) रुद्र, (४) क्षुद्र (५) साहसिक (६) अनार्य (७) निर्घृण (८) नृशंस (९) महाभय (१०) प्रतिभय (११) अतिभय (१२) भापनक (१३) त्रासनक (१४) अनार्य (१५) उद्वेगजनक (१६) निरपेक्ष (१७) निर्धर्म (१८) निष्पिपास (१९) निष्करुण (२०) नरकवास गमन-निधन (२१) मोहमहाभय प्रवर्तक (२२) मरणवैमनस्य, इति प्रथम अधर्म-द्वार।

विवेचन—कारण-कार्य की परपरानुसार अर्थात् सत्कार्यवाद के चिंतनानुसार कार्य का अस्तित्व केवल अभिव्यक्तिकाल मे ही नही अपितु कारण के रूप मे, अतीत में और परिणाम के रूप मे भविष्य मे भी रहता है।

हिंसा क्षणिक घटना नही है, हिसक कृत्य दृश्यकाल में अभिव्यक्त होता है, पर उसके उपादान अतीत मे एव कृत्य के परिणाम के रूप मे वह भविष्य में भी व्याप्त रहती है। अर्थात् उसका प्रभाव त्रैकालिक होता है।

कार्यनिष्पत्ति के लिए उपादान के समकक्ष ही निमित्तकारण की भी आवश्यकता होती है। उपादान आत्मनिष्ठ कारण है। निमित्त, परिवेष, उत्तेजक, उद्दीपक एव साधनरूप है। वह बाहर स्थित होता है। आश्रव—हिसा का मौलिक स्वरूप उपादान मे ही स्पष्ट होता है। आश्रव का उपादात चैतन्य की विभाव परिणति है। निमित्तसापेक्षता के कारण वैभाविक परिणति में वैविध्य आता है। स्वरूपसूचक नामो का विषय है दृश्य—अभिव्यक्ति कालीन हिसा के विविध आयामो को अभिव्यक्त करना। हिसा के स्वरूपसूचक ग्रथकार द्वारा निर्दिष्ट कई विशेषण प्रसिद्ध हिंसाप्रवृत्ति के प्रतिपादक है, किंतु कई नाम हिसा की अप्रसिद्ध प्रवृत्ति को प्रकाशित करते हैं। इन नामो का अभिप्राय इस प्रकार है—

(१) **पाव**—पापकर्म के बन्ध का कारण होने मे यह पाप-रूप है।

(२) **चंडो**—जब जीव कषाय के भडकने से उग्र हो जाता है, तब प्राणवध करता है, अतएव यह चण्ड है।

(३) **रुद्दो**—हिसा करते समय जीव रौद्र-परिणाम बन जाता है, अतएव हिंसा रुद्र है।

(४) **खुद्दो**—सरसरी तौर पर देखने से क्षुद्र व्यक्ति हिंसक नजर नही आता। वह सहिष्णु, प्रतीकार प्रवृत्ति से शून्य नजर आता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्षुद्रता के जनक हैं दुर्बलता, कायरता एव सकीर्णता। क्षुद्र अन्य के उत्कर्ष से ईर्ष्या करना है। प्रतीकार की भावना, शत्रुता की भावना उसका स्थायी भाव है। प्रगति का सामर्थ्य न होने के कारण वह अन्तर्मानस में प्रतिक्रियावादी होता है। प्रतिक्रिया का मूल है असहिष्णुता। असहिष्णुता व्यक्ति को सकीर्ण बनाती है। अहिंसा का उद्गम सर्वजगजीव के प्रति वात्सल्यभाव है और हिंसा का उद्गम अपने और परायेपन की भावना है।

सकीर्णता की विचारधारा व्यक्ति को चिंतन की समदृष्टि से व्यष्टि मे केन्द्रित करती है।

१—पाठान्तर-पवड्ढओ

स्वकेन्द्रित विचारधारा व्यक्ति को क्षुद्र बनाती है। क्षुद्र प्राणी इसका सेवन करते हैं। यह आत्मभाव की अपेक्षा नीच भी है। अतएव इसे क्षुद्र कहा गया है।

(५) **साहसिक**—आवेश में विचारपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होता है। उसमें आकस्मिक अनसोचा काम व्यक्ति कर गुजरता है। स्वनियन्त्रण भग होता है। उत्तेजक परिस्थिति से प्रवृत्ति गतिशील होती है। विवेक लुप्त होता है। अविवेक का साम्राज्य छा जाता है। दशवैकालिक के अनुसार विवेक अहिंसा है, अविवेक हिंसा है। साहसिक अविवेकी होता है। इसी कारण उसे हिंसा कहा गया है। **'साहसिकः सहसा अविचार्य कारित्वात्'** अर्थात् विचार किए बिना कार्य कर डालने वाला।

(६) **अणारिओ**—अनार्य पुरुषो द्वारा आचरित होने से अथवा हेय प्रवृत्ति होने से इसे अनार्य कहा गया है।

(७) **णिग्घिणो**—हिंसा करते समय पाप से घृणा नही रहती, अतएव यह निर्घृण है।

(८) **णिस्संसो**—हिंसा दयाहीनता का कार्य है, प्रशस्त नही है, अतएव नृशस है।

(९, १०, ११) **महब्भअ, पइभव, अतिभअ**—'अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहति, अप्पेगे हिंसति मे त्ति वा वहति, अप्पेगे हिसिस्सत्ति मेत्ति वा वहति, (आचाराग १। ७। ५२) अर्थात् कोई यह सोच कर हिंसा करते हैं कि इसने मेरी या मेरे सबंधी की हिसा की थी या यह मेरी हिसा करता है अथवा मेरी हिंसा करेगा। तात्पर्य यह है कि हिसा की पृष्ठभूमि प्रतीकार के अतिरिक्त भय भी प्रबल कारण है। हिंसा की प्रक्रिया मे हिंसक भयभीत रहता है। हिस्य भयभीत होता है। हिसा कृत्य को देखनेवाले दर्शक भी भयभीत होते हैं। हिंसा मे भय व्याप्त है। हिसा भय का हेतु होने के कारण उसे महाभयरूप माना है। **'महाभयहेतुत्वात् महाभयः।'** (ज्ञानविमलसूरि प्र. व्या)

हिंसा प्रत्येक प्राणी के लिए भय का कारण है। अतएव प्रतिभय है—**'प्रतिप्राणि-भयनिमित्त-त्वात्।'** हिंसा प्राणवध (मृत्यु) स्वरूप है। प्राणिमात्र को मृत्युभय से बढकर अन्य कोई भय नही। प्रतिभय—**'एतस्मात् अन्यत् भयं नास्ति,' 'मरणसमं नत्थि भयमिति'** वचनात् अर्थात् मरण से अधिक या मरण के समान अन्य कोई भय नही है।

(१२) **बीहणओ**—भय उत्पन्न करने वाला।

(१३) **त्रासनक**—दूसरो को त्रास या क्षोभ उत्पन्न करने वाली है।

(१४) **अन्याय्य**—नीतियुक्त न होने के कारण वह अन्याय्य है।

(१५) **उद्वेजनक**—हृदय मे उद्वेग—घबराहट उत्पन्न करने वाली।

(१६) **निरपेक्ष**—हिंसक प्राणी अन्य के प्राणों की अपेक्षा—परवाह नही करना—उन्हे तुच्छ समझता है। प्राणहनन करना उसके लिए खिलवाड होता है। अतएव उसे निरपेक्ष कहा गया है।

(१७) **निर्द्धर्म**—हिसा धर्म से विपरीत है। भले ही वह किसी लौकिक कामना की पूर्त्ति के लिये, सद्गति की प्राप्ति के लिए अथवा धर्म के नाम पर की जाए, प्रत्येक स्थिति में वह अधर्म है, धर्म से विपरीत है। 'हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति।' अर्थात् हिंसा त्रिकाल में भी धर्म नही हो सकती।

(१८) निष्पिपास—हिंसक के चित्त मे हिंस्य के जीवन की पिपासा—इच्छा नही होती, अत. वह निष्पिपास कहलाती है ।

(१९) निष्करुण—हिंसक के मन मे करुणाभाव नही रहता—वह निर्दय हो जाता है, अतएव निष्करुण है ।

(२०) नरकवासगमन-निधन—हिंसा नरकगति की प्राप्ति रूप परिणाम वाली है ।

(२१) मोहमहाभयप्रवर्त्तक—हिंसा मूढता एव परिणाम मे घोर भय को उत्पन्न करने वाली प्रसिद्ध है ।

(२२) मरणवैमनस्य—मरण के कारण जीवो मे उससे विमनस्कता उत्पन्न होती है ।

उल्लिखित विशेषणो के द्वारा सूत्रकार ने हिंसा के वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित करके उसकी हेयता प्रकट की है ।

प्राणवध के नामान्तर

३—तस्स य णामाणि इमाणि गोण्णाणि होंति तीस, त जहा—१ पाणवहं २ उम्मूलणा सरीराओ ३ अवीसंभो ४ हिंसविहिंसा तहा ५ अकिच्चं च ६ घायणा य ७ मारणा य ८ वहणा ९ उद्दवणा १० तिवायणा[1] य ११ आरंभसमारंभो १२ आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो १३ मच्चू १४ असंजमो १५ कडगमद्दणं १६ वोरमण १७ परभवसंकामकारओ १८ दुग्गइप्पवाओ १९ पावकोवो य २० पावलोभो २१ छविच्छेओ २२ जीवियंतकरणो २३ भयंकरो २४ अणकरो २५ वज्जो २६ परियावणअण्हओ २७ विणासो २८ णिज्जवणा २९ लुंपणा ३० गुणाणं विराहणत्ति विय तस्स एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीसं, पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफलदेसगाइ ॥२॥

३—प्राणवधरूप हिंसा के विविध आयामो के प्रतिपादक गुणवाचक तीस नाम हैं । यथा—(१) प्राणवध (२) शरीर से (प्राणो का) उन्मूलन (३) अविश्वास (४) हिंस्य विहिंसा (५) अकृत्य (६) घात (ना) (७) मारण (८) वधना (९) उपद्रव (१०) अतिपातना (११) आरम्भ-समारभ (१२) आयुकर्म का उपद्रव—भेद—निष्ठापन—गालना—सवर्तक और सक्षेप (१३) मृत्यु (१४) असयम (१५) कटक (सैन्य) मर्दन (१६) व्युपरमण (१७) परभवसक्रामणकारक (१८) दुर्गतिप्रपात (१९) पापकोप (२०) पापलोभ (२१) छविच्छेद (२२) जीवित-अतकरण (२३) भयकर (२४) ऋणकर (२५) वज्र (२६) परितापन आस्रव (२७) विनाश (२८) निर्यापना (२९) लुंपना (३०) गुणो की विराधना । इत्यादि प्राणवध के कलुष फल के निर्देशक ये तीस नाम हैं ।

१—पाणवह (प्राणवध)– जिस जीव को जितने प्राण प्राप्त है, उनका हनन करना ।

२—उम्मूलणा सरीराओ (उन्मूलना शरीरात्)—जीव को शरीर से पृथक् कर देना—प्राणी के प्राणों का उन्मूलन करना ।

---

[1]. पाठान्तर—णिवायणा ।

(३) अवीसंभ (अविश्रम्भ)—अविश्वास, हिंसाकारक पर किसी को विश्वास नहीं होता वह अविश्वासजनक है, अतः अविश्रम्भ है।

(४) हिंसविहिंसा (हिंस्यविहिंसा)—जिसकी हिंसा की जाती है उसके प्राणों का हनन।

(५) अकिच्चं (अकृत्यम्)—सत्पुरुषों द्वारा करने योग्य कार्य न होने के कारण हिंसा अकृत्य—कुकृत्य है।

(६) घायणा (घातना)—प्राणों का घात करना।

(७) मारणा (मारण)—हिंसा मरण को उत्पन्न करने वाली होने से मारणा है।

(८) वहणा (वधना)—हनन करना, वध करना।

(९) उद्दवणा (उपद्रवणा)—अन्य को पीडा पहुँचाने के कारण यह उपद्रवरूप है।

(१०) तिवायणा (त्रिपातना) मन, वाणी एव काय अथवा देह, आयु और इन्द्रिय—इन तीन का पतन कराने के कारण यह त्रिपातना है। इसके स्थान पर 'निवायणा' पाठ भी है, किन्तु अर्थ वही है।

(११) आरभ-समारभ (आरम्भ-समारम्भ)—जीवो को कष्ट पहुँचाने से या कष्ट पहुँचाते हुए उन्हे मारने से हिसा को आरम्भ-समारम्भ कहा है। जहाँ आरम्भ-समारम्भ है, वहाँ हिसा अनिवार्य है।

(१२) आउयकम्मस्स-उवद्दवो—भेयणिट्ठवणगालणा य सवट्टगसखेवो (आयु कर्मण उपद्रव.—भेदनिष्ठापनगालना—सवर्त्तकसक्षेप.)—आयुष्य कर्म का उपद्रवण करना, भेदन करना अथवा आयु को संक्षिप्त करना—दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्प समय मे भोगने योग्य बना देना।

(१३) मच्चू (मृत्यु)—मृत्यु का कारण होने से अथवा मृत्यु रूप होने से हिसा मृत्यु है।

(१४) असजमो (असयम)—जब तक प्राणी सयमभाव में रहता है, तब तक हिसा नही होती। सयम की सीमा से बाहर—असयम की स्थिति मे ही हिसा होती है, अतएव वह असयम है।

(१५) कडगमद्दण (कटकमर्दन)—सेना द्वारा आक्रमण करके प्राणवध करना अथवा सेना का वध करना।

(१६) वोरमण (व्युपरमण)—प्राणो से जीव को जुदा करना।

(१७) परभवसकामकारओ (परभवसक्रमकारक)—वर्त्तमान भव से विलग करके परभव में पहुचा देने के कारण यह परभवसक्रमकारक है।

(१८) दुग्गतिप्पवाओ (दुर्गतिप्रपात)—नरकादि दुर्गति मे गिराने वाली।

(१९) पावकोव (पापकोप)—पाप को कुपित—उत्तेजित करने वाली—भडकाने वाली।

(२०) पावलोभ (पापलोभ)—पाप के प्रति लुब्ध करने वाली—प्रेरित करने वाली।

(२१) छविच्छेअ (छविच्छेद)—हिंसा द्वारा विद्यमान शरीर का छेदन होने से यह छविच्छेद है।

(२२) जीवियतकरण (जीवितान्तकरण)—जीवन का अन्त करने वाली।

(२३) भयकर (भयङ्कर)—भय को उत्पन्न करने वाली।

(२४) अणकर (ऋणकर)—हिंसा करना अपने माथे ऋण—कर्ज चढ़ाना है, जिसका भविष्य में भुगतान करते घोर कष्ट सहना पडता है।

(२५) वज्ज (वज्र-वर्ज्य)—हिंसा जीव को वज्र की तरह भारी बनाकर अधोगति मे ले जाने का कारण होने से वज्र है और आर्य पुरुषो द्वारा त्याज्य होने से वर्ज्य है।

(२६) परियावण-अण्हअ (परितापन-आस्रव)—प्राणियो को परितापना देने के कारण कर्म के आस्रव का कारण।

(२७) विणास (विनाश)- प्राणो का विनाश करना।

(२८) णिज्जवणा (निर्यापना)—प्राणो की समाप्ति का कारण।

(२९) लुपणा (लुम्पना)—प्राणो का लोप करना।

(३०) गुणाण विराहणा (गुणाना विराधना)—हिंसा मरने और मारने वाले—दोनो के सद्गुणो को विनष्ट करती है, अत वह गुणविराधनारूप है।

विवेचन—स्वरूपसूचक नामो मे दृश्यकालीन अर्थात् अभिव्यक्त हिंसा का चित्रण हुआ है। साथ ही हिंसा की प्रवृत्ति, परिणाम, कारण, उपजीवी, अनुजीवी, उत्तेजक, उद्दीपक, अतर्बाह्य तथ्यो के आधार पर भी गुणनिष्पन्न नाम दिए है। ग्रथकार ने गुणनिष्पन्न नामो का आधार बताते हुए लिखा है—**'कलुसस्स कडुयफलदेसगाइं'**—कलुष (हिंसारूप पाप) के कटुफल-निर्देशक ये नाम है। भाषा का हम सदैव उपयोग करते है, किंतु शब्दगत अर्थभेद की विविधता से प्राय परिचित नही रहते। एक परिवार के अनेक शब्द होते हैं, जो समानताओ मे बँधे होकर भी एक सूक्ष्म विभाजक रेखा से अलग-अलग होते हैं। गुणनिष्पन्न नाम ऐसे ही हैं।

प्राणवध, व्युपरमण, मृत्यु, जीवनविनाश ये गुणनिष्पन्न नाम समानताओ मे बधे होकर भी स्वय की विशेषता प्रदर्शित करते है। प्राणवध मे हिंसाप्रवृत्ति द्वारा प्राणियो का (प्राणो का) घात अभिप्रेत है। व्युपरमण मे प्राणो से अर्थात् जीवन से प्राणी पृथक् होता है। व्युपरमण—प्राणेभ्य. उपरमण। प्राणवध से चैतन्य के शारीरिक सम्बन्ध के लिए आधारभूत जो प्राणशक्ति है, उस प्राण-शक्ति पर ही आघात प्रकट होता है। व्युपरमण मे उस आधारभूत शक्ति से चैतन्य विरत होता है या परिस्थितियो के कारण उसे विरत होना पडता है। प्राणवध मे हत्या का भाव तथा व्युपरमण मे आत्महत्या का भाव समाविष्ट है। मृत्यु, जीवनविनाश एवं परभवसक्रामणकारक, इस शब्दत्रयी मे जीवन-समाप्तिकाल की घटना को तीन दृष्टियो से विश्लेषित किया गया है। 'मृत्यु, परलोकगमनकाल:। परभवसक्रामणकारक प्राणातिपातस्यैव परभवगमन। जीवितव्य प्राण-धारण तस्य अतकर:।' सहजतया होनेवाली मृत्यु हिंसा नही है। परभवसक्रमणकारक में भवान्तक को जो हेतु है, वह अभिप्रेत है। जीवित-अतकर मे जीने की इच्छा को या जिसके लिए व्यक्ति जीता है, जिसके आलंबन से जीता है, उसका विनाश अभिप्रेत है। जैसे धनलोभी व्यक्ति का धन ही सर्वस्व होता है। उसके प्राण धर्म में होते हैं। धन का विनाश उसके जीवन का विनाश होता है।

अवीसंभो (अविश्वास)—आस्था जीवन का शिखर है। जीवन के सारे व्यवहार विश्वास के बल पर ही होते है। विश्वसनीय बनने के लिए परदुःखकातरता तथा सुरक्षा का आश्वासन व्यक्ति की तरफ से अपेक्षित है। अहिंसा को आ-श्वास कहते हैं। विश्वास भी कहते हैं क्योकि अहिंसा **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** तथा सहजीवन जैसे जीवनदायी कल्याणकारक पवित्र सूत्रो को जीवन मे साकार करती है। हिंसा का आधार सहजीवन नही, उसका विरोध है। सहअस्तित्व की अस्वीकृति जनसामान्य की दृष्टि मे हिंसक को अविश्वसनीय बनाती है।

आस्था वहाँ पनपती है, जहाँ अपेक्षित प्रयोजन के लिए प्रयुक्त साधन से साध्य सिद्ध होता है। हिंसा साध्य-सिद्धि का सार्वकालिक सार्वभौमिक साधन नही है। हिंसा मे साध्यप्राप्ति का आभास होता है किंतु वह मृगमरीचिका होती है। इसलिए हिंसा अविश्वास है।

हिंस-विहिंसा—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, 'हे पार्थ ! अहंकार का त्याग कर, तू निमित्त-मात्र है। जिन्हें तू मार रहा है, वे मर चुके है, नियति के गर्भ में।'

आत्मा शाश्वत, अमर, अविनाशी, अछेद्य एव अभेद्य है। शरीर जड है, हिंसा किसकी ? अहिंसा के चिंतको के सामने यह प्रश्न सदा रहा। हिटलर ने आत्म-अस्तित्व को अस्वीकृति देकर युद्ध की भयानकता को ओझल किया। श्रीकृष्ण ने आत्मस्वीकृति के साथ युद्ध को अनिवार्य बताकर अर्जुन को प्रेरित किया, किंतु श्रमण महर्षियो के सम्मुख युद्धसमर्थन-असमर्थन का प्रश्न न होने पर भी अहिसा और हिंसा की व्याख्या आत्मा की अमरता की स्वीकृति के साथ हिसा की सगति और हिंसा के निषेध को कैसे स्पष्ट किया जाय, यह प्रश्न था ही।

अहिंसा के परिपालन में श्रमण सस्कृति और उसमे भी जैनधर्म सर्वाधिक अग्रसर रहा। समस्या का समाधान देते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा है 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा' अर्थात् हिसा में परप्राणवध से भी महत्त्वपूर्ण प्रमाद है। जैन चिंतको ने अहिंसा का मूल आत्मस्वभाव मे माना है। आत्मा की विभावपरिणति ही हिंसा है। जिस समय चेतन स्वभाव से भ्रष्ट हो जाता है, उसके फलस्वरूप घटने वाली अनेक क्रोधादि क्रियाएँ प्राणातिपातादि १८ पाप घटित होते हैं। अतएव वस्तुत हिंसा के साथ आत्महिसा होती ही है। अर्थात् स्व-घाती होकर ही हिंसा की जा सकती है। जब आत्मगुणो का घात होता है, तब ही हिंसा होती है।

न हिंसा परप्राणवधमात्र है, न परप्राणवध-निवृत्तिमात्र अहिंसा है। अप्रमत्त अवस्था की वह श्रेणी जो वीतरागता में परिणत होती है। द्रव्यहिंसा भी भाव अहिंसा की श्रेणी मे आती है, जब कि प्रमत्त उन्मत्त अवस्था मे द्रव्यहिंसा न होकर भी भाव हिंसा के कारण हिंसा मान्य होती है। हिसा मे स्वभावच्युति प्रधान है। हिंसक सर्वप्रथम स्वय के शात-प्रशात अप्रमत्त स्वभाव का हनन करता है।

पापकोप—हिंसा का प्रथम नाम है पाप। हिसा पाप है, क्योकि उसका आदि, मध्य और अन्त अशुभ है। कर्मशास्त्रानुसार हिंसा औदायिकभाव का फल है। औदायिक भाव पूर्वबद्ध कर्मोदय-जन्य है। अर्थात् हिसक हिंसा तब करता है जब उसके हिंसक सस्कारो का उदय होता है। आवेगमय सस्कारो का उदय कषाय है। कषाय में स्फोटकता है, तूफान है, अतएव उसे कोप भी कहा जाता है। बिना कषाय के हिसा सभव नही है। अत हिसा को पापकोप कहा है।

पापलोभ--हिसा पापो के प्रति लोभ—आकर्षण—प्रीति बढाने वाली है, अतएव इसका एक नाम पापलोभ है।

पापियों का पापकर्म

४—तं च पुण करेंति केइ पावा असंजया अविरया अणिहुयपरिणामदुप्पयोगा पाणवहं भयंकरं बहुविहं बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा ।

किं ते ?

४—कितने ही पातकी, सयमविहीन, तपश्चर्या के अनुष्ठान से रहित, अनुपशान्त परिणाम वाले एव जिनके मन, वचन और काम का व्यापार दुष्ट है, जो अन्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने मे आसक्त रहते हैं तथा त्रस और स्थावर जीवो की रक्षा न करने के कारण वस्तुत: जो उनके प्रति द्वेषभाव वाले हैं, वे अनेक प्रकारो से, विविध भेद-प्रभेदो से भयकर प्राणवध—हिंसा किया करते हैं ।

वे विविध भेद-प्रभेद से कैसे हिंसा करते हैं ?

जलचर जीव

५—पाठीण-तिमि-तिमिंगल-अणेगझस-विविहजातिमंडुक्क-दुविहकच्छभ-नक्क[1]-मगर-दुविह-गाह-दिलिवेढय-मंडुय-सीमागार-पुलुय-सुंसुमार-बहुप्पगारा जलयरविहाणा कते य एवमाई ।

५—पाठीन—एक विशेष प्रकार की मछली, तिमि—बडे मत्स्य, तिमिघल—महामत्स्य, अनेक प्रकार की मछलियाँ, अनेक प्रकार के मेंढक, दो प्रकार के कच्छप—अस्थिकच्छप और मासकच्छप, मगर—सुडामगर एव मत्स्यमगर के भेद से दो प्रकार के मगर, ग्राह—एक विशिष्ट जलजन्तु, दिलिवेष्ट—पूछ से लपेटने वाला जलीय जन्तु, मडूक, सीमाकार, पुलक आदि ग्राह के प्रकार, सुसुमार, इत्यादि अनेकानेक प्रकार के जलचर जीवो का घात करते है ।

विवेचन—पापासक्त करुणाहीन एव अन्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने मे आनन्द का अनुभव करने वाले पुरुष जिन-जिन जीवो का घात करते हैं, उनमे से प्रस्तुत पाठ मे केवल जलीय जीवो का उल्लेख किया गया है । जलीय जीव इतनी अधिक जातियो के होते हैं कि उन सब के नामो का निर्देश करना कठिन ही नही, असभव-सा है । उन सब का नामनिर्देश आवश्यक भी नही है । अतएव उल्लिखित नामो का मात्र उपलक्षण ही समझना चाहिए । सूत्रकार ने स्वय ही **'एवमाई'** पद से यह लक्ष्य प्रकट कर दिया है ।

स्थलचर चतुष्पद जीव

६—कुरंग-रुरु-सरस- चमर-संबर- उरब्भ-ससय- पसय-गोण- रोहिय- हय-गय- खर-करभ-खग्ग वाणर-गवय- विग-सियाल- कोल-मज्जार-कोलसुणह- सिरियंदलगावत्त-कोकंतिय- गोकण्ण-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण-तरच्छ-अच्छ-भल्ल सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणाकए य एवमाई ।

६—कुरग और रुरु जाति के हिरण, सरभ—अष्टापद, चमर—नील गाय, सबर—साभर, उरभ्र—मेढा, शशक—खरगोश, पसय—प्रशय—वन्य पशुविशेष, गोण—बैल, रोहित—पशुविशेष, घोडा, हाथी, गधा, करभ—ऊँट, खड्ग—गेडा, वानर, गवय—रोझ, वृक—भेडिया, शृगाल—सियार—गीदड, कोल—शूकर, मार्जार—बिलाव—बिल्ली, कोलशुनक—बडा शूकर, श्रीकदलक एव आवर्त्त

---

१ पाठान्तर—नक्कचक्क ।

नामक खुर वाले पशु, लोमडी, गोकर्ण— दो खुर वाला विशिष्ट जानवर, मृग, भैंसा, व्याघ्र, बकरा, द्वीपिक—तेंदुआ, श्वान—जगली कुत्ता, तरक्ष—जरख, रीछ—भालू, शार्दूल—सिंह, सिंह—केसरीसिंह, चित्तल—नाखून वाला एक विशिष्ट पशु अथवा हिरण की आकृति वाला पशुविशेष, इत्यादि चतुष्पद प्राणी हैं, जिनकी पूर्वोक्त पापी हिंसा करते हैं।

विवेचन—ऊपर जिन प्राणियो के नामो का उल्लेख किया गया है, उनमें से अधिकाश प्रसिद्ध हैं। उनके सम्बन्ध में विवेचन की आवश्यकता नही।

इन नामो मे एक नाम 'सरभ' प्रयुक्त हुआ है। यह एक विशालकाय वन्य प्राणी होता है। इसे परासर भी कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि सरभ, हाथी को भी अपनी पीठ पर उठा लेता है।

खड्ग ऐसा प्राणी है, जिसके दोनो पार्श्वभागो मे पखो की तरह चमडी होती है और मस्तक के ऊपर एक सीग होता है।[1]

उरपरिसर्प जीव

७ अयगर-गोणस-वराहि-मउलि-काउदर-दब्भपुप्फ-आसालिय-महोरगोरगविहाणकाए य एवमाई।

७- अजगर, गोणस—बिना फन का सर्पविशेष, वराहि—दृष्टिविष सर्प—जिसके नेत्रो मे विष होता है, मुकुली—फन वाला साप, काउदर—काकोदर—सामान्य सर्प, दब्भपुप्फ—दर्भपुष्प—एक प्रकार का दर्वीकर सर्प, आसालिक—सर्पविशेष—महोरग—विशालकाय सर्प, इन सब और इस प्रकार के अन्य उरपरिसर्प जीवो का पापी वध करते है।

विवेचन प्रस्तुत पाठ मे उरपरिसर्प जीवो के कतिपय नामो का उल्लेख किया गया है। उरपरिसर्प जीव वे कहलाते हैं जो छाती से रेंग कर चलते हैं। इन नामो मे एक नाम **आसालिक** आया है। टीका मे इस जन्तु का विशेष परिचय दिया गया है। लिखा है—आसालिक बारह योजन लम्बा होता है। यह सम्मूर्च्छिम है और इसकी आयु मात्र एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होती है। इसकी उत्पत्ति भूमि के अन्दर होती है। जब किसी चक्रवर्ती अथवा वासुदेव के विनाश का समय सन्निकट आता है तब यह उसके स्कन्धावार—सेना के पडाव के नीचे अथवा किसी नगरादि के विनाश के समय उसके नीचे उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने से पृथ्वी का वह भाग पोला हो जाता है और वह स्कन्धावार अथवा वस्ती उसी पोल मे समा जाती है—विनष्ट हो जाती है।

महोरग का परिचय देते हुए टीकाकार ने उल्लेख किया है कि यह सर्प एक हजार योजन लम्बा होता है और अढाई द्वीप के बाहर होता है। किन्तु यदि यह अढाई द्वीप से बाहर ही होता है तो मनुष्य इसका वध नही कर सकते। सम्भव है अन्य किसी जाति के प्राणी वध करते हो। चतुर्थ सूत्र मे 'केइ पावा' आदि पाठ है। वहाँ मनुष्यो का उल्लेख भी नही किया गया है। तत्त्व केवलिगम्य है।

भुजपरिसर्प जीव

८—खीरल-सरंब-सेह-सेल्लग-गोधा-उंदुर-णउल-सरड-जाहग-मुगुंस-खाडहिल-वाउप्पिय[2] घिरोलिया सिरीसिवगणे य एवमाई।

---

१ प्रश्नव्याकरण—आचार्य हस्तीमलजी म., पृ. १६

२. 'वाउप्पिय' शब्द के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'वाउप्पाइय'—वातुत्पतिक शब्द है।

८—क्षीरल—एक विशिष्ट जीव जो भुजाओं के सहारे चलता है, शरम्ब; सेह—सेही—जिसके शरीर पर बड़े-बड़े काले-सफेद रग के काटे होते हैं जो उसकी आत्मरक्षा मे उपयोगी होते हैं, शल्यक, गोह, उदर—चूहा, नकुल—नेवला—सर्प का सहज वैरी, शरट—गिरगिट—जो अपना रग पलटने मे समर्थ होता है, जाहक—काटों से ढका जीवविशेष—मुगुस—गिलहरी, खाडहिल—छछू दर, गिल्लोरी, वातोत्पत्तिका—लोकगम्य जन्तुविशेष, घिरोलिका—छिपकली, इत्यादि अनेक प्रकार के भुजपरिसर्प जीवों का वध करते है।

विवेचन—परिसर्प जीव दो प्रकार के होते हैं—उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प। सर्प और चूहे का सावधानी से निरीक्षण करने पर दोनो का अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रस्तुत पाठ मे ऐसे जीवो का उल्लेख किया गया है, जो भुजाओं—अपने छोटे-छोटे पैरो से चलते हैं। उरपरिसर्पों के ऐसा कोई अग नही होता। वे रेंग-रेंग कर ही चलते है।

नभचर जीव

९—कादंबक-बक-बलाका-सारस-आडा-सेतीय-कुलल-वंजुल-पारिप्पव-कीर-सउण-दीविय-हंस-धत्तरिट्ठग-भास-कुलीकोस-कुंच-दगतुंड-ढेणियालग-सुईमुह-कविल-पिंगलक्खग-कारंडग-चक्कवाग-उक्कोस-गरुल-पिंगुल-सुय-बरहिण-मयणसाल-णंदीमुह-णंदमाणग-कोरंग-भिंगारग-कोणालग-जीवजीवग-तित्तिर-वट्टग-लावग-कपिंजलग-कवोतग-पारेवग-चडग-ढिंक-कुक्कुड-वेसर-मयूरग-चउरग-हयपोंडरीय-करकरग-चीरल्लग-सेण-वायस-विहग-सेण-सिणचास-वग्गुलि-चम्मट्ठिल-विययपक्खी-समुग्गपक्खी खहयर-विहाणाकए य एवमाई।

९—कादम्बक—विशेष प्रकार का हस, बक—बगुला, बलाका—विषकण्ठिका—बकजातीय पक्षिविशेष, मारस, आडासेतीय—आड, कुलल, वजुल, परिप्लव, कीर—तोता, शकुन—तीतुर, दीपिका—एक प्रकार की काली चिडिया, हस—श्वेत हस, धार्तराष्ट्र—काले मुख एव पैरो वाला हस-विशेष, भास—भासक, कुटीक्रोश, क्रौंच, दकतुडक—जलकूकडी ढेलियाणक—जलचर पक्षी, शूचीमुख—मुघरी, कपिल, पिगलाक्ष, कारडक, चक्रवाक—चकवा, उक्कोस, गरुड, पिगुल—लाल रग का तोता, शुक—तोता, मयूर, मदनशालिका—मैना, नन्दीमुख, नन्दमानक—दो अगुल प्रमाण शरीर वाला और भूमि पर फुदकने वाला विशिष्ट पक्षी[1], कोरग, भृगारक—भिगोडी, कुणालक, जीवजीवक—चातक, तित्तिर—तीतुर, वर्त्तक (वतख), लावक, कपिजल, कपोत—कबूतर, पारावत—विशिष्ट प्रकार का कपोत—परेवा, चटक—चिडिया, ढिक, कुक्कुट—कुकडा—मुर्गा, वेसर, मयूरक—मयूर, चकोर, ह्रद-पुण्डरीक—जलीय पक्षी, करक, चीरल्ल—चील, श्येन—बाज, वायस—काक, विहग एक विशिष्ट जाति का पक्षी, श्वेत चास, वल्गुली, चमगादड, विततपक्षी—अढाई द्वीप से बाहर का एक विशेष पक्षी, समुद्गपक्षी, इत्यादि पक्षियो की अनेकानेक जातियाँ है, हिसक जीव इनकी हिंसा करते हैं।

अन्य विविध प्राणी

१०—जल-थल-खग-चारिणो उ पंचिंदियपसुगणे बिय-तिय-चउरिंदिए विविहे जीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणंति बहुसंकिलिट्ठकम्मा।

---

1 प्रश्नव्याकरणसूत्र—सैलाना-सस्करण।

१०—जल, स्थल और आकाश मे विचरण करने वाले पचेन्द्रिय प्राणी तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय अथवा चतुरिन्द्रिय प्राणी अनेकानेक प्रकार के हैं। इन सभी प्राणियो को जीवन—प्राणधारण किये रहना—जीवित रहना प्रिय है। मरण का दुःख प्रतिकूल—अनिष्ट—अप्रिय है। फिर भी अत्यन्त सक्लिष्टकर्मा—अतीव क्लेश उत्पन्न करने वाले कर्मों से युक्त—पापी पुरुष इन बेचारे दीन-हीन प्राणियों का वध करते हैं।

विवेचन—जगत् में अगणित प्राणी हैं। उन सब की गणना सर्वज्ञ के सिवाय कोई छद्मस्थ नही जान सकता, किन्तु उनका नामनिर्देश करना तो सर्वज्ञ के लिए भी सम्भव नही। अतएव ऐसे स्थलो पर वर्गीकरण का सिद्धान्त अपनाना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ यही सिद्धान्त अपनाया गया है। तिर्यंच समस्त त्रस जीवो को जलचर, स्थलचर, खेचर (आकाशगामी) और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियो में वर्गीकृत किया गया है। द्वीन्द्रियादि जीव विकलेन्द्रिय—अधूरी-अपूर्ण इन्द्रियो वाले कहलाते हैं, क्योकि इन्द्रियाँ कुल पाच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय। इनमे से किन्ही जीवों को परिपूर्ण पाचो प्राप्त होती है, किन्ही को चार, तीन, दो और एक ही प्राप्त होती है। प्रस्तुत मे एकेन्द्रिय जीवो की विवक्षा नही की गई है। केवल त्रस जीवो का ही उल्लेख किया गया है और उनमे भी तिर्यंचों का।

यद्यपि पहले जलचर, स्थलचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, नभश्चर जीवों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ तिर्यंच पचेन्द्रियो को जलचर, स्थलचर और नभश्चर—इन तीन भेदों मे ही समाविष्ट कर दिया गया है। यह केवल विवक्षाभेद है।

ये सभी प्राणी जीवित रहने की उत्कट अभिलाषा वाले होते हैं। जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं, इसी प्रकार इन्हें भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। प्राणो पर सकट आया जान कर सभी अपनी रक्षा के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार बचाव का प्रयत्न करते हैं। मृत्यु उन्हे भी अप्रिय है—अनिष्ट है। किन्तु कलुषितात्मा विवेकविहीन जन इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर उनके वध मे प्रवृत्त होते है। ये प्राणी दीन हैं, मानव जैसा बचाव का सामर्थ्य भी उनमें नही होता। एक प्रकार से ये प्राणी मनुष्य के छोटे बन्धु हैं, मगर निर्दय एव क्रूर मनुष्य ऐसा विचार नही करते।

हिंसा करने के प्रयोजन

११—इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं, किं ते ? चम्म-वसा-मंस-मेय-सोणिय-जग-फिप्फिस-मत्थुलुंग-हिययंत-पित्त-फोफस-दंतट्ठा अट्ठिमिंज-णह-णयण-कण्ण-ण्हारुणि-णक्क-धमणि-सिंग-दाढि-पिच्छ-विस-विसाण-वालहेउं।

हिंसंति य भमर-महुकरिगणे रसेसु गिद्धा तहेव तेइंदिए सरीरोवगरणट्ठयाए किवणे बेइंदिए बहवे वत्थोहर-परिमंडणट्ठा।

११—चमडा, चर्बी, मास, मेद, रक्त, यकृत, फेफडा, भेजा, हृदय, आत, पित्ताशय, फोफस (शरीर का एक विशिष्ट अवयव), दांत, अस्थि—हड्डी, मज्जा, नाखून, नेत्र, कान, स्नायु, नाक, धमनी, सीग, दाढ, पिच्छ, विष, विषाण—हाथी-दात तथा शूकरदत और बालों के लिए (हिंसक प्राणी जीवो की हिंसा करते हैं)।

रसासक्त मनुष्य मधु के लिए भ्रमर—मधुमक्खियो का हनन करते है, शारीरिक सुख या

दु खनिवारण करने के लिए खटमल आदि त्रीन्द्रियो का वध करते है, (रेशमी) वस्त्रो के लिए अनेक द्वीन्द्रिय कीडो आदि का घात करते है।

विवेचन--अनेक प्रकार के वाद्यो, जूतो, बटुवा, घडी के पट्टे, कमरपट्टे, सदूक, बैग, थैला आदि-आदि चर्मनिर्मित काम मे लिये जाते हैं। इनके लिए पचेन्द्रिय जोवो का वध किया जाता है, क्योकि इन वस्तुओ के लिये मुलायम चमडा चाहिए और वह स्वाभाविक रूप से मृत पशुओ से प्राप्त नही होता। स्वाभाविक रूप से मृत पशुओ की चमडी अपेक्षाकृत कडी होती है। अत्यन्त मुलायम चमडे के लिए तो विशेषत छोटे बच्चो या गर्भस्थ बच्चो का वध करना पडता है। प्रथम गाय, भैस आदि का घात करना, फिर उनके उदर को चीर कर गर्भ में स्थित बच्चे को निकाल कर उनकी चमडी उतारना कितना निर्दयतापूर्ण कार्य है। इस निर्दयता के सामने पैशाचिकता भी लज्जित होती है! इन वस्तुओ का उपयोग करने वाले भी इस अमानवीय घोर पाप के लिए उत्तरदायी है। यदि वे इन वस्तुओ का उपयोग न करें तो ऐसी हिसा होने का प्रसग ही क्यो उपस्थित हो!

चर्बी खाने, चमडी को चिकनी रखने, यन्त्रो मे चिकनाई देने तथा दवा आदि मे काम आती है।

माम, रक्त, यकृत, फेफडा आदि खाने तथा दवाई आदि के काम मे लिया जाता है। आधुनिक काल मे मासभोजन निरन्तर बढ रहा है। अनेक लोगो की यह धारणा है कि पृथ्वी पर बढती हुई मनुष्यसख्या को देखते मास-भोजन अनिवार्य है। केवल निरामिष भोजन--अन्न-शाक आदि की उपज इतनी कम है कि मनुष्यो के आहार की मामग्री पर्याप्त नही है। यह धारणा पूर्ण रूप से भ्रमपूर्ण है। डाक्टर ताराचन्द गगवाल का कथन है--**'परीक्षण व प्रयोग के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि एक पौंड मांस प्राप्त करने के लिए लगभग सोलह पौंड अन्न पशुओ को खिलाया जाता है। उदाहरण के लिए एक बछडे को, जन्म के समय जिसका वजन १०० पौंड हो, १४ महीने तक, जब तक वह ११०० पौंड का होकर बूचड़खाने में भेजने योग्य होता है, पालने के लिए १४०० पौंड दाना, २५०० पौंड सूखा घास, २५०० पौंड दाना मिला साइलेज और करीब ६००० पौंड हरा चारा खिलाना पड़ता है। इस ११०० पौंड के बछड़े से केवल ४६० पौंड खाने योग्य मांस प्राप्त हो सकता है। शेष हड्डो आदि पदार्थ अनुपयोगी निकल जाता है। यदि इतनी आहार-सामग्री खाद्यान्न के रूप में सीधे भोजन के लिए उपयोग की जाये तो बछड़े के मास मे प्राप्त होने वाली प्रोटीन की मात्रा से पांच गुनी अधिक मात्रा में प्रोटीन व अन्य पोषक पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि मांसाहार से सस्ती प्रोटीन व पोषक पदार्थ प्राप्त होते हैं।'**

डाक्टर गगवाल आगे लिखते हैं--'कुछ लोगो की धारणा है, यद्यपि यह धारणा भ्रान्ति पर ही आधारित है, कि शरीर को सबल और मशक्त बनाने के लिए मासाहार जरूरी है। कुछ लोगो का यह विश्वाम भी है कि शरीर मे जिस चीज की कमी हो उसका सेवन करने से उसकी पूर्ति हो जाती है। शरीरपुष्टि के लिए माम जरूरी है, इम तर्क के आधार पर ही कई लोग मासाहार की उपयोगिता सिद्ध करते है।

किन्तु इसकी वास्तविकता जानने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर मे भोजन से तत्त्व प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझ लिया जाए। भोजन हम इसलिए करते हैं कि इससे हमें शरीर की गतिविधियो के सचालन के लिए आवश्यक ऊर्जा या शक्ति प्राप्त हो सके। इस ऊर्जा के मुख्य स्रोत हैं वायु और सूर्य। प्राणवायु या आक्सीजन से ही हमारे भोजन की पाचनक्रिया--

ऑक्साइडेशन—सम्पन्न होकर ऊर्जा प्राप्त होती है। यह प्राणवायु (ग्राक्सीजन) प्रकृति द्वारा प्रभूत मात्रा मे हमे दी गई है। वायु में लगभग पाचवाँ भाग प्राणवायु का ही होता है।

शक्ति का दूसरा स्रोत है सूर्य। सूर्य की वेदो मे अनेक मन्त्रो द्वारा स्तुति की गई है, क्योंकि यही जीवनदाता है। सूर्य से ही सारा वनस्पति जगत् पैदा होता है और जीवित रहता है। इन्ही वनस्पतियो या खाद्यान्नो से हम जीवन के लिए सत्त्व प्राप्त करते है। मासाहार करने वाले भी अन्ततोगत्वा सूर्य की शक्ति पर ही निर्भर रहते हैं, क्योकि पशु-पक्षी भी वनस्पतिया खाकर ही बढ़ते व जिन्दा रहते हैं। इसी प्रकार गर्मी, प्रकाश, विद्युत्, रासायनिक व यान्त्रिक ऊर्जा भी वास्तव मे आरभिक रूप से सूर्य से ही प्राप्त होती है, यह बात अलग है कि बाद में एक प्रकार की ऊर्जा दूसरे प्रकार की ऊर्जा मे परिणत होती रहती है।

इस प्रकार हमें अस्तित्व के लिए अनिवार्य पदार्थों—वायु, ऊर्जा, खनिज, विटामिन, जल आदि में से वायु और जल प्रकृति-प्रदत्त है। ··ऊर्जा, शरीर में जिसकी माप के लिए 'कैलोरी' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तीन पदार्थों—कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन—से प्राप्त होती है। (एक लीटर पानी को १५ डिग्री सेंटीग्रेड से १६ सेंटीग्रेड तक गर्म करने के लिए जितनी ऊष्मा या ऊर्जा की जरूरत होती है, उसे एक कैलोरी कहा जाता है।) एक ग्राम कार्बोहाइड्रेट से ४ कैलोरी, एक ग्राम वसा से ९ कैलोरी और एक ग्राम प्रोटीन से ४ कैलोरी प्राप्त होती है। इस प्रकार शरीर में ऊर्जा या शक्ति के लिए वसा और कार्बोहाइड्रेट अत्यावश्यक है।

हमारा भोजन मुख्य रूप से इन्ही तीन तत्त्वों का सयोग होता है। भोजन खाने के बाद शरीर के भीतर होने वाली रासायनिक क्रियाओ से ही ये तत्त्व प्राप्त होते हैं। एक कुत्ते को कुत्ते का मांस खिला कर मोटा नही बनाया जा सकता, क्योकि इस मास को भी उसी प्रकार की शारीरिक रासायनिक क्रिया से गुजरना होता है। **अतः यह धारणा तो भ्रान्तिमात्र ही है कि मांसाहार से शरीर में सीधी मांसवृद्धि होती है।**

जब शरीर मे मांस और वनस्पति—दोनो प्रकार के आहार पर समान रासायनिक प्रक्रिया होती है तो फिर हमें यह देखना चाहिए कि किस पदार्थ से शरीर को शीघ्र और सरलता से आवश्यक पोषक तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं?

साधारणतया एक व्यक्ति को बिल्कुल आराम की स्थिति में ७० कैलोरी प्रतिघटा जरूरी होती है, अर्थात् पूरे दिन में लगभग १७०० कैलोरी पर्याप्त होती है। यदि व्यक्ति काम करता है तो उसकी कैलोरी की आवश्यकता बढ जाती है और उठने, बैठने, अन्य क्रिया करने में भी ऊर्जा की खपत होती है, अतः सामान्य पुरुषों के लिए २४००, महिला के लिए २२०० और बच्चे को १२०० से २२०० कैलोरी प्रतिदिन की जरूरत होती है।

कैलोरी का सब से सस्ता और सरल स्रोत कार्बोहाइड्रेट है। यह अनाज, दाल, शक्कर, फल व वनस्पतियो से प्राप्त किया जाता है। ··

इस प्रकार कहने की आवश्यकता नही कि स्वास्थ्यप्रद और सतुलित भोजन के लिए मास का प्रयोग अनिवार्य नही है। जो तत्त्व सामिष आहार से प्राप्त किए जाते हैं, उतने ही और कही तो उससे भी अधिक तत्त्व, उतनी ही मात्रा मे अनाज, दालो और दूध इत्यादि से प्राप्त किए जा सकते हैं। अत शरीर की आवश्यकता के लिए मांस का भोजन कतई अनिवार्य नहीं है।

शाकाहारी निर्जीव अंडा—आजकल शाकाहारी अडे का चलन भी बढता जा रहा है। कहा जाता है कि अडा पूर्ण भोजन है, अर्थात् उसमे वे सभी एमीनो एसिड मौजूद है जो शरीर के लिए आवश्यक होते हैं। पर दूध भी एक प्रकार से भोजन के उन सभी तत्त्वो से भरपूर है जो शारीरिक क्रियाओ के लिए अनिवार्य हैं। अत जब दूसरे पदार्थों से आवश्यक एमीनो एसिड प्राप्त किया जा सकता है और उससे भी अपेक्षाकृत सस्ती कीमत में, तब अडा खाना क्यो जरूरी है ?

फिर अडे की जर्दी मे कोलेस्ट्रोल की काफी मात्रा होती है। यह सभी जानते है कि कोलेस्ट्रोल की मात्रा शरीर मे बढ जाने पर ही हृदयरोग, हृदयाघात आदि रोग होते है। आज की वैज्ञानिक व्यवस्था के अनुसार शरीर को नीरोग और स्वस्थ रखने के लिए ऐसे पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए, जिनमे कोलेस्ट्रोल की मात्रा विद्यमान हो।

अडे मे विटामिन 'सी' नही होता और इसकी पूर्ति के लिए अडे के साथ अन्य ऐसे पदार्थों का सेवन जरूरी है जिनमे विटामिन 'सी' पाया जाता है। दूध मे यह बात नही है। वह सब आवश्यक तत्त्वो से भरपूर है। मेरे विचार से अडा अडा ही है, शाकाहारी क्या ? बच्चे देने वाले अडे मे जो तत्त्व होते है वे सभी तथाकथित शाकाहारी अडे मे भी मिलते हैं। **वैज्ञानिको द्वारा जो प्रयोग किए गए हैं, उनसे यह सिद्ध हो गया है कि यदि शाकाहारी अडे को भी विभिन्न प्रकार से उत्तेजित किया जाए तो उसमें जीवित प्राणी की भांति ही क्रियाएँ होने लगती हैं। इसलिए यह कहना तो गलत होगा कि बच्चे न देने वाले अंडों में जीव नहीं होता**। अत अहिंसा मे विश्वास करने वाले लोगो को शाकाहारी अडे से भी परहेज करना ही चाहिए।

अन्त मे डाक्टर महोदय कहते है—यह कितना विचित्र लगता है कि मानव आदिकाल मे, जब सभ्यता का प्रादुर्भाव नही हुआ था, जगली पशुओ को मार कर अपना पेट भरता था और ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास होता गया, वह मासाहार से दूर होता गया। "किन्तु अब लगता है कि नियति अपना चक्र पूरा कर रही है। मानव अपने भोजन के लिए पशुओ की हत्या करना अब बुरा नही मान रहा। क्या हम फिर उसी शिकारी सस्कृति की ओर आगे नही बढ रहे है, जिसे असभ्य और जगली कह कर हजारो वर्ष पीछे छोड आए थे ?[1]

इसी प्रकार मेद, रक्त, यकृत, फेफडा, आत, हड्डी, दन्त, विषाण आदि विभिन्न अगो के लिए भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियो का पापी लोग घात करते है। इन सब का पृथक्-पृथक् उल्लेख करना अनावश्यक है। मात्र विलासिता के लिए अपने ही समान सुख-दुःख का अनुभव करने वाले, दीन-हीन, असहाय, मूक और अपना बचाव करने मे असमर्थ निरपराध प्राणियो का हनन करना मानवीय विवेक का दिवाला निकालना है, हृदयहीनता और अन्तरतर मे पैठी पैशाचिक वृत्ति का प्रकटीकरण है। विवेकशील मानव को इस प्रकार की वस्तुओ का उपयोग करना किसी भी प्रकार योग्य नही कहा जा सकता।

१२—अण्णेहि य एवमाइएहि बहूहि कारणसएहि अबुहा इह हिंसंति तसे पाणे। इमे य—एगिंदिए बहवे वराए तसे य अण्णे तयस्सिए चेव तणुसरीरे समारंभंति। अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबंधवे, कम्मणिगड-बद्धे, अकुसलपरिणाम-मंदबुद्धिजणदुव्विजाणए, पुढविमए, पुढविसंसिए, जलमए, जलगए,

१—राजस्थानपत्रिका, १७ अक्टूबर, १९८२

अणलाणिल-तण-वणस्सइगणणिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तयाहारे तप्परिणय-वण्ण-गंध-रस-फास-बोंदिरूवे अचक्खुसे चक्खुसे य तसकाइए असंखे । थावरकाए य सुहुम-बायर-पत्तेय-सरीरणामसाहारणे अणंते हणंति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं ।

१२ -बुद्धिहीन अज्ञान पापी लोग पूर्वोक्त तथा अन्य अनेकानेक प्रयोजनों से त्रस - चलते-फिरते, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय- जीवो का घात करते हैं तथा बहुत-से एकेन्द्रिय जीवो का उनके आश्रय से रहे हुए अन्य सूक्ष्म शरीर वाले त्रस जीवो का समारभ करते है । ये प्राणी त्राणरहित है—उनके पास अपनी रक्षा के साधन नही है, अशरण हैं—उन्हे कोई शरण—आश्रय देने वाला नही है, वे अनाथ हैं, बन्धु-बान्धवो से रहित है—सहायकविहीन हैं और बेचारे अपने कृत कर्मों की बेड़ियो से जकडे हुए है । जिनके परिणाम--अन्तःकरण की वृत्तियाँ अकुशल—अशुभ है, जो मन्दबुद्धि हैं, वे इन प्राणियो को नही जानते । वे अज्ञानी जन न पृथ्वीकाय को जानते है, न पृथ्वीकाय के आश्रित रहे अन्य स्थावरो एव त्रस जीवो को जानते है । उन्हे जलकायिक तथा जल मे रहने वाले अन्य त्रस-स्थावर जीवो का ज्ञान नही है । उन्हे अग्निकाय, वायुकाय, तृण तथा (अन्य) वनस्पतिकाय के एव इनके आधार पर रहे हुए अन्य जीवो का परिज्ञान नही है । ये प्राणी उन्ही (पृथ्वीकाय आदि) के स्वरूप वाले, उन्हीं के आधार से जीवित रहने वाले अथवा उन्ही का आहार करने वाले हैं । उन जीवो का वर्ण, गध, रस, स्पर्श और शरीर अपने आश्रयभूत पृथ्वी, जल आदि सदृश होता है । उनमे से कई जीव नेत्रो से दिखाई नही देते हैं और कोई-कोई दिखाई देते है । इसे असख्य त्रसकायिक जीवो की तथा अनन्त सूक्ष्म, बादर, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर वाले स्थावरकाय के जीवो की जानबूझ कर या अनजाने इन (आगे कहे जाने वाले) कारणो से हिसा करते है ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र मे एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की दीनता, अनाथता, अशरणता आदि प्रदर्शित करके सूत्रकार ने उनके प्रति करुणाभाव जागृत किया है । तत्पश्चात् प्राणियो की विविधता प्रदर्शित की है ।

जो जीव पृथ्वी को अपना शरीर बना कर रहते हैं, अर्थात् पृथ्वी ही जिनका शरीर है, वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक कहलाते है । इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ही जिनका शरीर है, वे क्रमश जलकायिक, अग्निकाकिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक कहलाते है । पृथ्वी-कायिक आदि के जीवत्व की सयुक्तिक एव सप्रमाण सिद्धि आचाराग आदि शास्त्रो मे की गई है । अतएव पाठक वही से समझ ले । विस्तार भय से यहाँ उसका उल्लेख नही किया जा रहा है ।

जब कोई मनुष्य पृथ्वीकाय आदि की हिसा करता है तब वह केवल पृथ्वीकाय की ही हिसा नही करता, अपितु उसके आश्रित रहे हुए अनेकानेक अन्यकायिक एव त्रसकायिक जीवो की भी हिंसा करता है ।

जल के एक बिन्दु मे वैज्ञानिको ने ३६००० जो जीव देखे है, वस्तुत वे जलकायिक नही, जलाश्रित त्रस जीव हैं । जलकायिक जीव तो असख्य होते है, जिन्हे वैज्ञानिक अभी नही जान सके हैं ।

पृथिवीकाय की हिंसा के कारण

१३—किं ते ?

करिसण-पोक्खरिणी-वावि-वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिइ-वेइय[1] खाइय-आराम-विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेउ-संकम-पासाय-विकप्प-भवण-घर-सरण-लयण-आवण-चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मंडवाण कए भायणभंडोवगरणस्स य विविहस्स य अट्ठाए पुढवि हिंसंति मंदबुद्धिया।

१३—वे कारण कौन-से हैं, जिनसे (पृथ्वीकायिक) जीवों का वध किया जाता है ?

कृषि, पुष्करिणी (चौकोर वावडी जो कमलो से युक्त हो), वावडी, क्यारी, कूप, सर, तालाब, भित्ति, वेदिका, खाई, आराम, विहार (बौद्धभिक्षुओ के ठहरने का स्थान), स्तूप, प्राकार, द्वार, गोपुर (नगरद्वार—फाटक), अटारी, चरिका (नगर और प्राकार के बीच का आठ हाथ प्रमाण मार्ग), सेतु—पुल, सक्रम (ऊबड-खाबड भूमि को पार करने का मार्ग), प्रासाद—महल, विकल्प—विकप्प—एक विशेष प्रकार का प्रासाद, भवन, गृह, सरण—झोपडी, लयन—पर्वत खोद कर बनाया हुआ स्थानविशेष, दूकान, चैत्य—चिता पर बनाया हुआ चबूतरा, छतरी और स्मारक, देवकुल—शिखर-युक्त देवालय, चित्रसभा, प्याऊ, आयतन, देवस्थान, आवसथ—तापसो का स्थान, भूमिगृह—भौंयरा-तलघर और मडप आदि के लिए तथा नाना प्रकार के भाजन—पात्र, भाण्ड—वर्त्तन आदि एव उपकरणो के लिए मन्दबुद्धि जन पृथ्वीकाय की हिसा करते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे उन वस्तुओ के नामों का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए पृथ्वी-काय के जीवो की हिसा की जाती है। किन्तु इन उल्लिखित वस्तुओ के लिए ही पृथ्वीकाय की हिसा होती है, ऐसा नही समझना चाहिए। यह पदार्थ तो उपलक्षण मात्र है, अत. पृथ्वीकाय का घात जिन-जिन वस्तुओ के लिए किया जाता है, उन सभी का ग्रहण कर लेना चाहिए। 'भायण-भडावगरणस्स विविहस्स' इन पदो द्वारा यह तथ्य सूत्रकार ने स्वय भी प्रकट कर दिया है।

अप्काय की हिंसा के कारण

१४—जलं च मज्जण-पाण-भोयण-वत्थधोवण-सोयमाइएहिं।

१४—मज्जन—स्नान, पान—पीने, भोजन, वस्त्र धोना एव शौच—शरीर, गृह आदि की शुद्धि, इत्यादि कारणो से जलकायिक जीवो की हिसा की जाती है।

विवेचन—यहाँ भी उपलक्षण से अन्य कारण जान लेना चाहिए। पृथ्वीकाय की हिसा के कारणों में भवनादि बनाने का जो उल्लेख किया गया है, उनके लिए भी जलकाय की हिंसा होती है। सूत्रकार ने 'आइ (आदि)' पद का प्रयोग करके इस तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है।

तेजस्काय की हिंसा के कारण

१५—पयण-पयावण-जलावण-विदंसणेहिं अगणिं।

---

१ श्री ज्ञानविमलसूरि रचित वृत्ति मे 'वेइय' के स्थान पर "चेतिय" शब्द है, जिसका अर्थ किया है—"चेति मृतदहनार्थं काष्ठस्थापन।"

१५—भोजनादि पकाने, पकवाने, दीपक आदि जलाने तथा प्रकाश करने के लिए अग्निकाय के जीवो की हिंसा की जाती है।

विवेचन—यहाँ भी वे सब निमित्त समझ लेने चाहिए, जिन-जिन से अग्निकाय के जीवों की विराधना होती है।

वायुकाय की हिंसा के कारण

१६—सुप्प-वियण-तालयंट-पेहुण-मुह-करयल-सागपत्त-वत्थमाईएहिं अणिलं हिंसंति।

१६—सूर्प—सूप—धान्यादि फटक कर साफ करने का उपकरण, व्यजन—पखा, तालवृन्त—ताड का पखा, मयूरपख आदि से, मुख से, हथेलियो से, सागवान आदि के पत्ते से तथा वस्त्र-खण्ड आदि से वायुकाय के जीवो की हिंसा की जाती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे जिन-जिन कारणो से वायुकाय की विराधना होती है, उन कारणो मे से कतिपय कारणो का कथन किया गया है। शेष कारण स्वय ही समझे जा सकते है।

वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण

१७—अगार-परियार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मूसल-उक्खल-तत-विततातोज्ज-वहण-वाहण-मंडव-विविह-भवण-तोरण-विडंग-देवकुल-जालय-द्धचंद-णिज्जूहग-चंदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि-चंगेरी-खील-मंडक-सभा-पवावसहागंध-मल्लाणुलेवणं-अंबर-जुहणंगल-मइय-कुलिय-सदण-सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिय-दार-गोउर-फलिहा-जंत-सूलिय-लउड-मुसंढि-सयग्घी-बहुपहरणा-वरणुवक्खराणकए, अण्णेहि य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं हिंसंति ते तरुगणे भणियाभणिए य एवमाई।

१७ अगार—गृह, परिचार—तलवार की म्यान आदि, भक्ष्य—मोदक आदि, भोजन—रोटी वगैरह, शयन—शय्या आदि, आसन—विस्तर-बैठका आदि, फलक पाट-पाटिया, मूसल, ओखली, तत वीणा आदि, वितत ढोल आदि, आतोद्य—अनेक प्रकार के वाद्य, वहन—नौका आदि, वाहन रथ-गाडी आदि, मण्डप, अनेक प्रकार के भवन, तोरण, विडग—विटक, कपोतपाली—कबूतरो के बैठने के स्थान, देवकुल—देवालय, जालक—झरोखा, अर्द्धचन्द्र—अर्धचन्द्र के आकार की खिडकी या सोपान, निर्यूहक—द्वारशाखा, चन्द्रशाला—अटारी, वेदी, नि.सरणी—नसैनी, द्रौणी—छोटी नौका, चगेरी—बडी नौका या फूलो की डलिया, खूटा—खूटी, स्तभ—खम्भा, सभागार, प्याऊ, आवसथ—आश्रम, मठ, गध, माला, विलेपन, वस्त्र, युग—जूवा, लागल—हल, मतिक—जमीन जोतने के पश्चात् ढेला फोडने के लिए लम्बा काष्ठ-निर्मित उपकरणविशेष, जिससे भूमि समतल की जाती है, कुलिक—विशेष प्रकार का हल-बखर, स्यन्दन—युद्ध-रथ, शिविका—पालकी, रथ, शकट छकडा गाड़ी, यान, युग्य—दो हाथ का वेदिकायुक्त यानविशेष, अट्टालिका, चरिका—नगर और प्राकार के मध्य का आठ हाथ का चौड़ा मार्ग, परिघ—द्वार, फाटक, आगल, अरहट आदि, शूली, लकुट—लकड़ी-लाठी, मुसुढी, शतघ्नी—तोप या महासिला जिससे सैकड़ो का हनन हो सके तथा अनेकानेक प्रकार के शस्त्र, ढक्कन एव अन्य उपकरण बनाने के लिए और इसी प्रकार

के ऊपर कहे गए तथा नही कहे गए ऐसे बहुत-से सैकडो कारणो से अज्ञानी जन वनस्पतिकाय की हिंसा करते है ।

विवेचन—वनस्पतिकाय की सजीवता अब केवल आगमप्रमाण से ही सिद्ध नही, अपितु विज्ञान से भी सिद्ध हो चुकी है । वनस्पति का आहार करना, आहार से वृद्धिगत होना, छेदन-भेदन करने से मुरझाना आदि जीव के लक्षण प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं । इनके अतिरिक्त उनमें चैतन्य के सभी धर्म विद्यमान हैं । वनस्पति मे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय है, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप सज्ञाएँ हैं, लेश्या विद्यमान है, योग और उपयोग है । वे मानव की तरह सुख-दु ख का अनुवेदन करते हैं । अतएव वनस्पति की सजीवना मे किंचित् भी सन्देह के लिए अवकाश नही है ।

वनस्पति का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । उसका आरभ-समारभ किए विना गृहस्थ का काम नही चल सकता । तथापि निरर्थक आरभ का विवेकी जन सदैव त्याग करते हैं । प्रयोजन विना वृक्ष या लता का एक पत्ता भी नही तोडते--नही तोडना चाहिए ।

वृक्षो के अनाप-सनाप काटने से आज विशेषत भारत का वायुमडल बदलता जा रहा है । वर्षा की कमी हो रही है । लगातार अनेक प्रान्तो में सूखा पड रहा है । हजारो मनुष्य और लाखो पशु मरण-शरण हो रहे है । अतएव शासन का वृक्षसरक्षण की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है । जैनशास्त्र सदा से ही मानव-जीवन के लिए वनस्पति की उपयोगिता और महत्ता का प्रतिपादन करते चले आ रहे है । इससे ज्ञानी पुरुषो की सूक्ष्म और दूरगामिनी प्रज्ञा का परिचय प्राप्त होता है ।

हिंसक जीवों का दृष्टिकोण

१८—सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमई कोहा माणा माया लोहा हस्स रई अरई सोय वेयत्थी जीय-धम्मत्थकामहेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसंति मंदबुद्धी ।

सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रईय हणंति, हस्सा-वेरा-रईय हणंति, कुद्धा हणंति लुद्धा हणंति,, मुद्धा हणंति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति ॥३॥

१८---दृढमूढ—हिताहित के विवेक से सर्वथा शून्य अज्ञानी, दारुण मति वाले पुरुष क्रोध से प्रेरित होकर, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर तथा हँसी-विनोद-दिलबहलाव के लिए, रति, अरति एव शोक के अधीन होकर, वेदानुष्ठान के अर्थी होकर, जीवन, धर्म, अर्थ एव काम के लिए, (कभी) स्ववश—अपनी इच्छा से और (कभी) परवश- पराधीन होकर, (कभी) प्रयोजन से और (कभी) विना प्रयोजन त्रस तथा स्थावर जीवो का, जो अशक्त शक्तिहीन है, घात करते हैं । (ऐसे हिंसक प्राणी वस्तुत) मन्दबुद्धि हैं ।

वे बुद्धिहीन क्रूर प्राणी स्ववश (स्वतत्र) होकर घात करते हैं, विवश होकर घात करते है, स्ववश—विवश दोनो प्रकार मे घात करते हैं । सप्रयोजन घात करते हैं, निष्प्रयोजन घात करते हैं, सप्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनो प्रकार से घात करते है । (अनेक पापी जीव) हास्य-विनोद से, वैर से और अनुराग से प्रेरित होकर हिंसा करते है । क्रुद्ध होकर हनन करते हैं, लुब्ध होकर हनन

करते हैं, मुग्ध होकर हनन करते हैं, क्रुद्ध-लुब्ध-मुग्ध होकर हनन करते हैं, अर्थ के लिए घात करते हैं, धर्म के लिए—धर्म मान कर घात करते है, काम-भोग के लिए घात करते है तथा अर्थ-धर्म-कामभोग तीनो के लिए घात करते हैं।

विवेचन—पृथक्-पृथक् जातीय प्राणियो की हिसा के विविध प्रयोजन प्रदर्शित करके शास्त्रकार ने यहाँ सब का उपसहार करते हुए त्रस एव स्थावर प्राणियो की हिसा के सामूहिक कारणो का दिग्दर्शन कराया है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्व सूत्रो मे बाह्य निमित्तो की मुख्यता मे चर्चा की गई है और प्रस्तुत सूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति आदि अन्तरग वृत्तियो की प्रेरणा को हिंसा के कारण मे चित्रित किया गया है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणो के सयोग से ही कार्य की निष्पत्ति होनी है। अन्तर मे कषायादि दूषित वृत्तिया न हो तो केवल बाह्य प्रयोजनो के लिए हिंसा नही की जाती अथवा कम से कम अनिवार्य हिसा ही की जाती है। साधु-सन्त हिसा के बिना ही जीवन-निर्वाह करते है। इसके विपरीत अनेक सुसस्कारहीन, कलमषवृत्ति वाले, निर्दय मनुष्य मात्र मनोविनोद के लिए—मरते हुए प्राणियो का छटपटाते- तडफते देख कर आनन्द अनुभव करने के लिए अत्यन्त क्रूरतापूर्वक हिरण, खरगोश आदि निरपराध भद्र प्राणियो का घात करने मे भी नही हिचकते। ऐसे लोग दानवता, पैशाचिकता को भी मात करते है।

मूल मे धर्म एव वेदानुष्ठान के निमित्त भी हिंसा करने का उल्लेख किया गया है। इसम मूढता—मिथ्यात्व ही प्रधान कारण है। बकरा, भैसा, गाय, अश्व आदि प्राणियों की अग्नि मे आहुति देकर अथवा अन्य प्रकार से उनका वध करके मनुष्य स्वर्गप्राप्ति का मनोरथ—मसूबा करता है। यह विषपान करके अमर बनने के मनोरथ के समान है। निरपराध पचेन्द्रिय जीवो का जान-बूझकर क्रूरतापूर्वक वध करने से भी यदि स्वर्ग की प्राप्ति हो तो नरक के द्वार ही बद हो जाएं!

तात्पर्य यह है कि बाह्य कारणो से अथवा कलुषित मनोवृत्ति से प्रेरित होकर या धर्म मान कर—किसी भी कारण से हिसा की जाए, यह एकान्त पाप ही है और उससे आत्मा का अहित ही होता है।

हिंसक जन

१९—कयरे ते ?

जे ते सोयरिया मच्छबधा साउणिया वाहा कूरकम्मा वाउरिया दीवित-बंधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसीदब्भ-वग्गुरा-कूडछेलियाहत्था हरिएसा साउणिया य वीदंसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा महुघाया पोयघाया एणीयारा पएणीयारा सर-दह-दीहिय-तलाग-पल्लल-परिगालण-मलण-सोत्तबंधण-सलिलासयसोसगा विसगरलस्स य दायगा उत्तणवल्लर-दवग्गि-णिद्दया पलीवगा कूर-कम्मकारी।

१९—वे हिंसक प्राणी कौन है ?

शौकरिक—जो शूकरो का शिकर करते है, मत्स्यबन्धक—मछलियो को जाल मे बाधकर मारते है, जाल में फँसाकर पक्षियो का घात करते हैं, व्याध—मृगो, हिरणो को फँसाकर मारने

वाले, क्रूरकर्मा वागुरिक—जाल मे मृग ग्रादि को फँसाने के लिए घूमने वाले, जो मृगादि को मारने के लिए चीता, बन्धनप्रयोग फँसाने—बाधने के लिए उपाय, मछलिया पकडने के लिए तप्र—छोटी नौका, गल—मछलिया पकड़ने के लिए काटे पर ग्राटा या मास, जाल, वीरल्लक—बाज पक्षी, लोहे का जाल, दर्भ—डाभ या दर्भनिर्मित रस्सी, कूटपाश, बकरी—चीता ग्रादि को पकड़ने के लिए पिजरे ग्रादि मे रक्खी हुई ग्रथवा किसी स्थान पर बाँधी हुई बकरी ग्रथवा बकरा, इन सब साधनो को हाथ मे लेकर फिरने वाले—इन साधनो का प्रयोग करने वाले, हरिकेश—चाण्डाल, चिडीमार, बाज पक्षी तथा जाल को रखने वाले, वनचर—भील ग्रादि वनवासी, मधु-मक्खियो का घात करने वाले, पोतघातक -पक्षियो के बच्चो का घात करने वाले, मृगो को ग्राकर्षित करने के लिए मृगियो का पालन करने वाले, सरोवर, ह्रद, वापी, तालाब, पल्लव—क्षुद्र जलाशय को मत्स्य, शख ग्रादि प्राप्त करने के लिये खाली करने वाले—पानी निकाल कर, जलागम का मार्ग रोक कर तथा जलाशय को किसी उपाय से सुखाने वाले, विष ग्रथवा गरल—ग्रन्य वस्तु मे मिले विष को खिलाने वाले, उगे हुए तृण—घास एव खेत को निर्दयतापूर्वक जलाने वाले, ये सब क्रूरकर्मकारी हैं, (जो ग्रनेक प्रकार के प्राणियो का घात करते हैं)।

विवेचन—प्रारभ मे, तृतीय गाथा मे हिंसा ग्रादि पापो का विवेचन करने के लिए जो क्रम निर्धारित किया गया था, उसके ग्रनुसार पहले हिंसा के फल का कथन किया जाना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत मे इस क्रम मे परिवर्त्तन कर दिया गया है। इसका कारण ग्रल्पवक्तव्यता है। हिंसको का कथन करने के पश्चात् विस्तार से हिंसा के फल का निरूपण किया जाएगा।

सूत्र का ग्रर्थ सुगम है, ग्रतएव उसके पृथक् विवेचन की ग्रावश्यकता नही है।

हिंसक जातियाँ

२० —**इमे य बहवे मिलक्खुजाई, के ते ? सक-जवण-सबर-बब्बर-गाय-मुरुंडोव-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस-कोचंध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-ग्ररोस-डोंब-पोक्कण-गंध-हारग-बहलीय-जल्क-रोम-मास-बउस-मलया-चुंचुया य चूलिया कोंकणगा-मेत्त**[1] **पण्हव-मालव-महुर-ग्राभासिय-ग्रणक्ख-चीण-लासिय-खस-खासिया-नेहुर-मरहट्ठ-मुट्ठिय-ग्रारब-डोबिलग-कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया-चिलायविसयवासी य पावमइणो।**

२०—(पूर्वोक्त हिंसाकारियो के ग्रतिरिक्त) ये बहुत-सी म्लेच्छ जातियाँ भी हैं, जो हिंसक हैं। वे (जातियाँ) कौन-सी है ?

शक, यवन, शबर, बब्बर, काय (गाय), मुरुड, उद, भडक, तित्तिक, पक्कणिक, कुलाक्ष, गौड, सिंहल, पारस, क्रौंच, ग्रान्ध्र, द्रविड, विल्वल, पुलिंद, ग्रारोष, डौब, पोकण, गान्धार, बहलीक, जल्ल, रोम, मास, वकुश, मलय, चुंचुक, चूलिक, कोंकण, मेद, पण्हव, मालव, महुर, ग्राभाषिक, ग्रणक्क, चीन, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहुर, महाराष्ट्र, मौष्टिक, ग्रारब, डोबलिक, कुहण, कैकय, हूण,

---

१ पूज्य श्री हस्तीमलजी म सम्पादित तथा बीकानेर वाली प्रति मे 'कोंकणगामेत्त' पाठ है ग्रौर पूज्य श्री घासीलालजी म तथा श्रीमद्ज्ञानविमल सूरि की टीकावली प्रति मे -'कोंकणग-कणय-सेय-मेता'—पाठ है। यह पाठभेद है।

रोमक, रुरु, मरुक, चिलात, इन देशो के निवासी, जो पाप बुद्धि वाले है, वे (हिंसा मे प्रवृत्त रहते हैं।)

विवेचन—मूल पाठ मे जिन जातियो का नाम-निर्देश किया गया है, वे अधिकाश देश-सापेक्ष हैं। इनमें कुछ नाम ऐसे है जो आज भी भारत के अन्तर्गत हैं और कुछ ऐसे जो भारत से बाहर है। कुछ नाम परिचित है, बहुत-से अपरिचित हैं। टीकाकार के समय मे भी उनमें से बहुत-से अपरिचित ही थे। कुछ के विषय मे आधुनिक विद्वानो ने जो अन्वेषण किया है, वह इस प्रकार है—

शक—ये सोवियाना अथवा कैस्पियन सागर के पूर्व मे स्थित प्रदेश के निवासी थे। ईसा की प्रथम शताब्दी मे उन्होने तक्षशिला, मथुरा तथा उज्जैन पर अपना प्रभाव जमा लिया था। चौथी शताब्दी तक पश्चिमी भारत पर ये राज्य करते रहे।

बर्बर—इन लोगो का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से लगाकर अरब सागर तक फैला हुआ था।

शबर—डॉ डी. सी सरकार ने इनको गजम और विशाखापत्तन के सावर लोगो के सदृश माना है। डॉ बा सी लॉ इन्हे दक्षिण के जगल-प्रदेश की जाति मानते हैं। 'पउमचरिउ'[1] मे इन्हे हिमालय के पार्वत्य प्रदेश का निवासी बतलाया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में इन्हे दस्युओ के रूप मे आध्र, पुलिन्द और पुड्रो के साथ वर्गीकृत किया गया है।

यवन—अशोककालिक इनका निवासस्थान काबुल नदी की घाटी एव कधार देश था। पश्चात् ये उत्तर-पश्चिमी भाग मे रहे। कालीदास के अनुसार यवनराज्य सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर था।

साधनाभाव से पाठनिर्दिष्ट सभी प्रदेशो और उनमे बसने वाली जातियो का परिचय देना शक्य नही है। विशेष जिज्ञासु पाठक अन्यत्र देखकर उनका परिचय प्राप्त कर सकते है।

२१—जलयर-थलयर-सणप्फ-योरग-खहयर-संडासतुंड-जीवोवग्घायजीवी सण्णी य असण्णिणो पज्जत्ते अपज्जत्ते य असुभलेस्स-परिणामे एए अण्णे य एवमाई करेंति पाणाइवायकरणं।

पावा पावाभिगमा[2] पावरुई पाणवहकयरई पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमता तुट्ठा पावं करेत्तु होंति य बहुप्पगारं।

२१—ये—पूर्वोक्त विविध देशो और जातियो के लोग तथा इनके अतिरिक्त अन्य जातीय और अन्य देशीय लोग भी, जो अशुभ लेश्या-परिणाम वाले है, वे जलचर, स्थलचर, सनखपद, उरग, नभश्चर, सडासी जैसी चोच वाले आदि जीवो का घात करके अपनी आजीविका चलाते है। वे संज्ञी, असज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त जीवो का हनन करते है।

वे पापी जन पाप को ही उपादेय मानते है। पाप मे ही उनकी रुचि-प्रीति होती है। वे प्राणियो का घात करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं। उनका अनुष्ठान—कर्त्तव्य प्राणवध करना ही

१. पउमचरिउ—२७-५-७

२. किसी किसी प्रति में यहाँ "पावमई" शब्द भी है।

होना है। प्राणियो की हिंसा की कथा-वार्ता मे ही वे आनन्द मानते हैं। वे अनेक प्रकार के पापो का आचरण करके सतोष अनुभव करते हैं।

विवेचन—जलचर और स्थलचर प्राणियो का उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है। जिनके पैरो के अग्रभाग में नख होते हैं वे सिह, चीता आदि पशु सनखपद कहलाते हैं। सडासी जैसी चोच वाले प्राणी ढक, कक आदि पक्षी होते है।

प्रस्तुत पाठ मे कुछ पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसे सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त। उनका आशय इस प्रकार है—

संज्ञी—सज्ञा अर्थात् विशिष्ट चेतना—आगे-पीछे के हिताहित का विचार करने की शक्ति जिन प्राणियो को प्राप्त है, वे सज्ञी अथवा समनस्क—मन वाले—कहे जाते है। ऐसे प्राणी पचेन्द्रियो मे ही होते है।

असंज्ञी—एक इन्द्रिय वाले जीवो से लेकर चार इन्द्रिय वाले सभी जीव असंज्ञी है, अर्थात् उनमे मनन-चिन्तन करने की विशिष्ट शक्ति नही होती। पाँचों इन्द्रियो वाले जीवो मे कोई-कोई सज्ञी और कोई-कोई असज्ञी होते है।

पर्याप्त—पर्याप्ति शब्द का अर्थ पूर्णता है। जिन जीवो को पूर्णता प्राप्त हो चुकी है, वे पर्याप्त और जिन्हे पूर्णता प्राप्त नही हुई है, वे अपर्याप्त कहलाते है।

अभिप्राय यह है कि कोई भी जीव वर्तमान भव को त्याग कर जब आगामी भव में जाता है तब तैजस और कार्मण शरीर के सिवाय उसके साथ कुछ नही होता। उसे नवीन भव मे नवीन सृष्टि रचनी पडती है। सर्वप्रथम वह उस भव के योग्य शरीरनिर्माण करने के लिए पुद्गलो का आहरण—ग्रहण करता है। इन पुद्गलो को ग्रहण करने की शक्ति उसे प्राप्त होती है। इस शक्ति की पूर्णता आहारपर्याप्ति कहलाती है। तत्पश्चात् उन गृहीत पुद्गलो को शरीररूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता शरीरपर्याप्ति है। गृहीत पुद्गलो को इन्द्रिय रूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता इन्द्रियपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वास के योग्य, भाषा के योग्य और मनोनिर्माण के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के रूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता क्रमश श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति कही जाती है।

शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन का निर्माण यथाकाल होता है। उनके लिए दीर्घ काल अपेक्षित है। किन्तु निर्माण करने की शक्ति—क्षमता अन्तर्मुहूर्त्त मे ही उत्पन्न हो जाती है। जिन जीवो को इस प्रकार की क्षमता प्राप्त हो चुकी है, वे पर्याप्त और जिन्हे वह क्षमता प्राप्त नही हुई -होने वाली है अथवा होगी ही नही --जो शीघ्र ही पुन मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे, वे अपर्याप्त कहलाते है।

पर्याप्तियाँ छह प्रकार की है---१ आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४ श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति और ६. मनःपर्याप्ति। इनमे से एकेन्द्रिय जीवो में आदि की चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रियो मे पाँच और सज्ञी पचेन्द्रियो में छहो पर्याप्तियाँ होती हैं। सभी पर्याप्तियो का प्रारंभ तो एक साथ हो जाता है किन्तु पूर्णता क्रमशः होती है।

हिंसकों की उत्पत्ति

२२—तस्स य पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं अविस्सामवेयण दीहकाल-बहुदुक्खसंकडं णरयतिरिक्खजोणिं ।

२२—(पूर्वोक्त मूढ हिंसक लोग) हिंसा के फल-विपाक को नही जानते हुए, अत्यन्त भयानक एवं दीर्घकाल पर्यन्त बहुत-से दु खो से *व्याप्त*—परिपूर्ण एवं *अविश्रान्त*—लगातार निरन्तर होने वाली दु:ख रूप वेदना वाली नरकयोनि और तिर्यञ्चयोनि को बढाते हैं ।

विवेचन—पूर्व मे तृतीय गाथा में कथित फलद्वार का वर्णन यहाँ किया गया है । हिंसा का फल तिर्यंचयोनि और नरकयोनि बतलाया गया है और वह भी अतीव भयोत्पादक एवं निरन्तर दु खो से परिपूर्ण । तिर्यचयोनि की परिधि बहुत विशाल है । एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यंचयोनिक ही होते हैं । पचेन्द्रियो मे चारो गति के जीव होते है । इनमें पचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक जीवो के दु ख तो किसी अश मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु अन्य एकेन्द्रियादि तिर्यंचों के कष्टो को मनुष्य नही-जैसा ही जानता है । एकेन्द्रियो के दु:खो का हमे प्रत्यक्षीकरण नही होता । इनमे भी जिनको निरन्तर एक श्वासोच्छ्वास जितने काल मे साधिक १७ बार जन्म-मरण करना पडता है, उनके दु ख तो हमारी कल्पना से भी अतीत है । नरकयोनि तो एकान्तत दु खमय ही है । इस योनि मे उत्पन्न होने वाले प्राणी जन्मकाल से लेकर मरणकाल तक निरन्तर—एक क्षण के व्यवधान या विश्राम विना सतत भयानक से भयानक पीडा भोगते ही रहते है । उसका दिग्दर्शन मात्र ही कराया जा सकता है । शास्त्रकार ने स्वय उन दु खो का वर्णन आगे किया है ।

कई लोग नरकयोनि का अस्तित्व स्वीकार नही करते । किन्तु किसी की स्वीकृति या अस्वीकृति पर किसी वस्तु का अस्तित्व और नास्तित्व निर्भर नही है । तथ्य स्वत है । जो है उसे अस्वीकार कर देने से उसका अभाव नही हो जाता ।

कुछ लोग नरकयोनि के अस्तित्व मे शकाशील रहते है । उन्हे विचार करना चाहिए कि नरक का अस्तित्व मानकर दुष्कर्मों से बचे रहना तो प्रत्येक परिस्थिति मे हितकर ही है । नरक न हो तो भी पापो का परित्याग लाभ का ही कारण है, किन्तु नरक का नास्तित्व मान कर यदि पापाचरण किया और नरक का अस्तित्व हुआ तो कैसी दुर्गति होगी ! कितनी भीषणतम वेदनाएँ भुगतनी पड़ेगी !

प्रत्येक शुभ और अशुभ कर्म का फल अवश्य होता है । तो फिर घोरतम पापकर्म का फल घोरतम दु:ख भी होना चाहिए और उसे भोगने के लिए कोई योनि और स्थान भी अवश्य होना चाहिए । इस प्रकार घोरतम दु.खमय वेदना भोगने का जो स्थान है, वही नरकस्थान है ।

नरक-वर्णन

२३—इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जंति णरएसु हुलियं महालएसु वयरामय-कुड्ड-रुद्द-निस्संधि-दार-विरहिय-निम्मद्दव-भूमितल-खरामरिसविसम-णिरय-घरचारएसु महोसिण-सया-पतत्त दुग्गंध-विस्स-उव्वेयजणगेसु बीभच्छदरिसणिज्जेसु णिच्चं हिमपडलसीयलेसु कालोभासेसु य भीम-गंभीर-लोमहरिसणेसु णिरभिरामेसु णिप्पडियार-वाहिरोगजरापीलिएसु अईव णिच्चधयार-

तिमिस्सेसु पइभएसु ववगय-गह-चंद-सूर-णक्खत्तजोइसेसु मेय-वसा-मंसपडल-पोच्चड-पूय-रुहिर-रुक्किण्ण-विलीण-चिक्कण- रसिया वावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकू-लाणल-पलित्तजालमुम्मुर-असिक्खुर करवत्तधारासु णिसिय-विच्छुयडंक-णिवायोवम्म-फरिसअइदुस्सहेसु य, अत्ताणा असरणा कडुयदुक्ख-परितावणेसु अणुबद्ध-णिरंतर-वेयणेसु जमपुरिस-संकुलेसु।

२३—पूर्ववर्णित हिंसाकारी पापीजन यहाँ—मनुष्यभव से आयु की समाप्ति होने पर, मृत्यु को प्राप्त होकर अशुभ कर्मों की बहुलता के कारण शीघ्र ही—सीधे ही—नरकों मे उत्पन्न होते हैं।

नरक बहुत विशाल- -विस्तृत है। उनकी भित्तियाँ वज्रमय हैं। उन भित्तियो मे कोई सन्धि-छिद्र नही है, बाहर निकलने के लिए कोई द्वार नही है। वहाँ की भूमि मृदुतारहित—कठोर है, अत्यन्त कठोर है। वह नरक रूपी कारागार विषम है। वहाँ नारकावास अत्यन्त उष्ण एव तप्त रहते है। वे जीव वहाँ दुर्गन्ध—सडाध के कारण सदैव उद्विग्न—घबराए रहते हैं। वहाँ का दृश्य ही अत्यन्त बीभत्स है—वे देखते ही भयकर प्रतीत होते है। वहाँ (किन्ही स्थानो मे जहाँ शीत की प्रधानता है) हिम-पटल के सदृश शीतलता (बनी रहती) है। वे नरक भयकर हैं, गंभीर एव रोमाच खडे कर देने वाले है। अरमणीय—घृणास्पद है। वे जिसका प्रतीकार न हो सके अर्थात् असाध्य कुष्ठ आदि व्याधियो, रोगो एव जरा से पीड़ा पहुचाने वाले है। वहाँ सदैव अन्धकार रहने के कारण प्रत्येक वस्तु अतीव भयानक लगती है। ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र आदि की ज्योति—प्रकाश का अभाव है, मेद, वसा—चर्बी, मास के ढेर होने से वह स्थान अत्यन्त घृणास्पद है। पीव और रुधिर के बहने से वहाँ की भूमि गीली और चिकनी रहती है और कीचड-सी बनी रहती है। (जहाँ उष्णता की प्रधानता है) वहाँ का स्पर्श दहकती हुई करीष की अग्नि या खदिर (खैर) की अग्नि के समान उष्ण तथा तलवार, उस्तरा अथवा करवत की धार के सदृश तीक्ष्ण है। वह स्पर्श बिच्छू के डक से भी अधिक वेदना उत्पन्न करने वाला अतिशय दुस्सह है। वहाँ के नारक जीव त्राण और शरण से विहीन है—न कोई उनकी रक्षा करता है, न उन्हे आश्रय देता है। वे नरक कटुक दु:खो के कारण घोर परिणाम उत्पन्न करने वाले है। वहाँ लगातार दु:खरूप वेदना चालू ही रहती है—पल भर के लिए भी चैन नही मिलता। वहाँ यमपुरुष अर्थात् पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव भरे पडे हैं। (जो नारको को भयकर-भयकर-यातनाएँ देते है—जिनका वर्णन आगे किया जाएगा।)

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे नरकभूमियो का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है। इस वर्णन से नारक जीवो को होने वाली वेदना—पीडा का उल्लेख भी कर दिया गया है। नरकभूमियाँ विस्तृत हैं सो केवल लम्बाई-चौडाई की दृष्टि से ही नही, किन्तु नारको के आयुष्य की दृष्टि से भी समझना चाहिए। मनुष्यो की आयु की अपेक्षा नारको की आयु बहुत लम्बी है वहाँ कम से कम आयु भी दस हजार वर्ष से कम नही और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम जितनी है। सागरोपम एक बहुत बडी संख्या है, जो प्रचलित गणित की परिधि से बाहर है।

नरकभूमि अत्यन्त कर्कश, कठोर और ऊबड़-खाबड़ है। उस भूमि का स्पर्श ही इतना कष्टकर होता है, मानो हजार बिच्छुओ के डको का एक साथ स्पर्श हुआ हो। कहा है—

तहाँ भूमि परसत दुख इसो,
बीछू सहस डसे तन तिसो।

नरक मे घोर अधकार सदैव व्याप्त रहता है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि का लेशमात्र भी प्रकाश नही है।

मास, रुधिर, पीव, चर्बी आदि घृणास्पद वस्तुएँ ढेर की ढेर वहाँ बिखरी पडी हैं, जो अतीव उद्वेग उत्पन्न करती हैं। यद्यपि मास, रुधिर आदि औदारिक शरीर मे ही होते है और वहाँ औदारिक शरीरधारी मनुष्य एव पचेन्द्रिय तिर्यंच नही हैं, तथापि वहाँ के पुद्गल अपनी विचित्र परिणमनशक्ति से इन घृणित वस्तुओ के रूप मे परिणत होते रहते हैं। इनके कारण वहाँ सदैव दुर्गन्ध-- सडाध फैली रहती है जो दुस्सह त्रास उत्पन्न करती है।

नरको के कोई स्थान अत्यन्त शीतमय है तो कोई अतीव उष्णतापूर्ण है। जो स्थान शीतल हैं वे हिमपटल से भी असंख्यगुणित शीतल हैं और जो उष्ण हैं वे खदिर की धधकती अग्नि से भी अत्यधिक उष्ण है।

नारक जीव ऐसी नरकभूमियो मे सुदीर्घ काल तक भयानक से भयानक यातनाएँ निरन्तर, प्रतिक्षण भोगते है। वहाँ उनके प्रति न कोई सहानुभूति प्रकट करने वाला, न सान्त्वना देने वाला और न यातनाओ से रक्षण करने वाला है। इतना ही नही, वरन् भयकर से भयकर कष्ट पहुँचाने वाले परमाधामी देव वहाँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ 'जमपुरिस' (यमपुरुष) के नाम से किया गया है। ये यमपुरुष पन्द्रह प्रकार के हैं और विभिन्न रूपो मे नारको को घोर पीडा पहुँचना इनका मनोरजन है। वे इस प्रकार हैं—

१ **अम्ब**--ये नारको को ऊपर आकाश मे ले जाकर एकदम नीचे पटक देते है।

२. **अम्बरीष**--छुरी आदि शस्त्रो से नारको के शरीर के टुकडे-टुकडे करके भाड मे पकाने योग्य बनाते है।

३ **श्याम**-- रस्सी से या लातो-घूसो से नारको को मारते है और यातनाजनक स्थानो मे पटक देते है।

४ **शबल**--ये नारक जीवो के शरीर की आँते, नसे और कलेजे आदि को बाहर निकाल लेते है।

५. **रुद्र**—भाला-बर्छी आदि नुकीले शस्त्रो मे नारको को पिरो देते है। इन्हे रौद्र भी कहते है। अतीव भयकर होते हैं।

६. **उपरुद्र**—नारको के अगोपागो को फाडने वाले, अत्यन्त ही भयकर असुर।

७. **काल**—ये नारको को कडाही में पकाते है।

८. **महाकाल**—नारको के मास के खण्ड-खण्ड करके उन्हे जबर्दस्ती खिलाने वाले अतीव काले असुर।

९ **असिपत्र**—अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा तलवार जैसे तीक्ष्ण पत्तो वाले वृक्षो का वन बनाकर उनके पत्ते नारको पर गिराते है और नारको के शरीर के तिल जितने छोटे-छोटे टुकडे कर डालते है।

१०. **धनुष**—ये धनुष से तीखे बाण फेककर नारको के कान, नाक आदि अवयवों का छेदन करते हैं और अन्य प्रकार से भी उन्हें पीडा पहुँचा कर आनन्द मानते हैं।

११. **कुम्भ**—ये असुर नारको को कुम्भियो मे पकाते है।

१२. **बालु**—ये वैक्रियलब्धि द्वारा बनाई हुई कदम्ब-वालुका अथवा वज्र-बालुका—रेत में नारको को चना आदि की तरह भूनते हैं।

१३. **वैतरणी**—ये यम पुरुष मास, रुधिर, पीव, पिघले ताँबे—सीसे आदि अत्युष्ण पदार्थों से उबलती-उफनती वैतरणी नदी मे नारको को फेक देते हैं और उसमे तैरने को विवश करते हैं।

१४. **खरस्वर**—ये वज्रमय तीक्ष्ण कटको से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर चढा कर करुण आक्रन्दन करते नारको को इधर-उधर खीचते है।

१५. **महाघोष**—ये भयभीत होकर अथवा दुस्सह यातना से बचने के अभिप्राय से भागते हुए नारक जीवो को बाडे मे बन्द करते है और भयानक ध्वनि करते हुए उन्हें रोक देते हैं।

इस प्रकार हिसा करने वाले और हिंसा करके आनन्द का अनुभव करने वाले जीवो को नरक मे उत्पन्न होकर जो वचनागोचर घोरतर यातनाएं भुगतनी पडती हैं, यहाँ उनका साधारण शब्द-चित्र ही खीचा गया है। वस्तुत वे वेदनाएँ तो अनुभव द्वारा ही जानी जा सकती है।

नारको का बीभत्स शरीर

२४—**तत्थ य अंतोमुहुत्तलद्धिभवपच्चएणं णिवत्तंति उ ते सरीरं हुंडं बीभच्छदरिसणिज्जं बीहणगं अट्ठि-ण्हारु-णह-रोम-वज्जिय असुभग दुक्खविसहं।**

तओ य पज्जत्तिमुवगया इंदिएहिं पंचहिं वेएंति असुहाए वेयणाए उज्जल-बल-विउल-कक्खड-खर-फरुस-पयंड-घोर-बीहणगदारुणाए।

२४—वे पूर्वोक्त पापी जीव नरकभूमि मे उत्पन्न होते ही अन्तर्मुहूर्त्त मे नरकभवकारणक (वैक्रिय) लब्धि से अपने शरीर का निर्माण कर लेते हैं। वह शरीर हुड—हुडक सस्थान वाला—बेडौल, भद्दी आकृति वाला, देखने मे बीभत्स, घृणित, भयानक, अस्थियो, नसों, नाखूनो और रोमो से रहित, अशुभ और दु खो को सहन करने मे सक्षम होता है।

शरीर का निर्माण हो जाने के पश्चात् वे पर्याप्तियो मे—इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा-मन रूप पर्याप्तियो मे पूर्ण—पर्याप्त हो जाते है और पाचो इन्द्रियो से अशुभ वेदना का वेदन करते है। उनकी वेदना उज्ज्वल, बलवती, विपुल, उत्कट, प्रखर, परुष, प्रचण्ड, घोर, बीहनक—डरावनी और दारुण होती है।

विवेचन—वेदना का सामान्य अर्थ है—अनुभव करना। वह प्राय दो प्रकार की होती है—सातावेदना और असातावेदना। अनुकूल, इष्ट या सुखरूप वेदना सातावेदना कहलाती है और प्रतिकूल, अनिष्ट या दु खरूप वेदना को असातावेदना कहते है। नारक जीवो की वेदना असातावेदना ही होती है। उस असातावेदना का प्रकर्ष प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। इन विशेषणो मे आपातत एकार्थकता का आभास होता है किन्तु **'शब्दभेदादर्थभेदः'** अर्थात् शब्द के भेद से अर्थ मे भेद हो जाता है, इस नियम के अनुसार प्रत्येक शब्द के अर्थ मे विशेषता—भिन्नता है, जो इस प्रकार है—

उज्जल—(उज्ज्वल)—उजली अर्थात् सुखरूप विपक्ष के लेश से भी रहित—जिसमे सुख का तनिक भी सम्मिश्रण नही।

बल-विउल (बल-विपुल)—प्रतीकार न हो सकने के कारण अतिशय बलवती एव समग्र शरीर में व्याप्त रहने के कारण विपुल।

उक्कड (उत्कट)—चरम सीमा को प्राप्त।

खर-फरुस (खर-परुष)—शिला आदि के गिरने पर होने वाली वेदना के सदृश होने से खर तथा कूष्माण्डी के पत्ते के समान कर्कश स्पर्श वाले पदार्थो से होने वाली वेदना के समान होने से परुष—कठोर।

पयंड (प्रचण्ड)—शीघ्र ही समग्र शरीर मे व्याप्त हो जाने वाली।

घोर (घोर)- शीघ्र ही औदारिक शरीर मे युक्त जीवन को विनष्ट कर देने वाली अथवा दूसरे के जीवन की अपेक्षा न रखने वाली (किन्तु नारक वैक्रिय शरीर वाले होते है, अत इस वेदना को निरन्तर सहन करते हुए भी उनके जीवन का अन्त नही होता।)

बीहणग (भीषणक)—भयानक भयजनक।

दारुण (दारुण)—अत्यन्त विकट, घोर।

यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि देवो की भाति नारको का शरीर वैक्रिय शरीर होना है और उसका कारण नरकभव है। आयुष्य पूर्ण हुए बिना—अकाल मे—इस शरीर का अन्त नही होता। परमाधामी उस शरीर के टुकडे-टुकडे कर देते है तथापि वह पारे की तरह फिर जुड जाता है।

देवो और नारको की भाषा और मन पर्याप्ति एक साथ पूर्ण होती है, अत दोनो मे एकता की विवक्षा कर ली जाती हे। वस्तुत. ये दोनो पर्याप्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

नारकों को दिया जाने वाला लोमहर्षक दुःख

२५—किं ते ?

कंदुमहाकुंभिए पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ठभज्जणाणि य लोहकडाहुकड्ढणाणि य कोट्टबलि-करण-कोट्टणाणि य सामलितिक्खग्ग-लोहकंटग-अभिसरणपसारणाणि फालणविदारणाणि य अवकोडक-बंधणाणि लट्ठिसयतालणाणि य गलगबलुल्लंबणाणि सूलग्गभेयणाणि य आएसपवंचणाणि खिंसणविमाण-णाणि विघुट्ठपणिज्जणाणि वज्झसयमाइकाणि य।

२५—नारको को जो वेदनाएँ भोगनी पडती है, वे क्या - कैसी हैं ?

नारक जीवो को कंदु—कढाव जैसे चौडे मुख के पात्र मे और महाकुंभी संकडे मुखवाले घड़ा सरीखे महापात्र मे पकाया और उबाला जाता है। तवे पर रोटी की तरह सेका जाता है। चनो की भानि भाड मे भूंजा जाता है। लोहे की कढाई मे ईख के रस के समान औटाया जाता है। जैसे देवी के सामने बकरे की बलि चढाई जाती है, उसी प्रकार उनकी बलि चढाई जाती है—उनकी काया के खड-खड कर दिए जाते है। लोहे के तीखे शूल के समान तीक्ष्ण काटो वाले शाल्मलिवृक्ष

(सेमल) के काटो पर उन्हे इधर-उधर घसीटा जाता है। काष्ठ के समान उनकी चीर-फाड की जाती है। उनके पैर और हाथ जकड दिए जाते हैं। सैंकडो लाठियो से उन पर प्रहार किए जाते हैं। गले मे फदा डाल कर लटका दिया जाता है। उनके शरीर को शूली के अग्रभाग से भेदा जाता है। झूठे आदेश देकर उन्हे ठगा जाता—धोखा दिया जाता है। उनकी भर्त्सना की जाती है, अपमानित किया जाता है। (उन्हे पूर्वभव मे किए गए घोर पापो की) घोषणा करके उन्हे वधभूमि मे घसीट कर ले जाया जाता है। वध्य जीवो को दिए जाने वाले सैंकडो प्रकार के दु.ख उन्हे दिए जाते है।

विवेचन—मूल पाठ का आशय स्पष्ट है। इसका विवरण करने की आवश्यकता नही। नरकभूमि के कारण होने वाली वेदनाओ (क्षेत्र-वेदनाओ) का पहले प्रधानता से वर्णन किया गया था। प्रस्तुत पाठ मे परमाधामी देवो द्वारा दी जाने वाली भयानक यातनाओ का दिग्दर्शन कराया गया है।

पाठ से स्पष्ट है कि परमाधामी जीव जब नारको को व्यथा प्रदान करते है तब वे उनके पूर्वकृत पापो की उद्घोषणा भी करते है, अर्थात् उन्हे अपने कृत पापो का स्मरण भी कराते है। नारको के पाप जिस कोटि के होते है, उन्हे प्राय उसी कोटि की यातना दी जाती है। जैसे—जो लोग जीवित मुर्गा-मुर्गी को उबलते पानी मे डाल कर उबालते है, उन्हे कदु और महाकुभी मे उबाला जाता है। जो पापी जीववध करके मास को काटते-भूनते है, उन्हे उसी प्रकार काटा-भूना जाता है। जो देवी-देवता के आगे बकरा आदि प्राणियो का घात करके उनके खण्ड-खण्ड करते है, उनके शरीर के भी नरक मे परमाधामियो द्वारा तिल-तिल जितने खण्ड-खण्ड किए जाते है। यही बात प्राय अन्य वेदनाओ के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

२६—**एवं ते पुव्वकम्मकयसंचयोवतत्ता णिरयग्गिमहग्गिसपलित्ता गाढदुक्खं महब्भयं कक्कसं असायं सारीरं माणसं य तिव्वं दुविहं वेएंति वेयणं पावकम्मकारी बहूणि पलिओवम-सागरोवमाणि कलुणं पालेंति ते अहाउयं जमकाइयतासिया य सद्दं करेंति भीया।**

२६—इस प्रकार वे नारक जीव पूर्व जन्म मे किए हुए कर्मों के सचय से सन्तप्त रहते है। महा-अग्नि के समान नरक की अग्नि से तीव्रता के साथ जलते रहते है। वे पापकृत्य करने वाले जीव प्रगाढ दु ख-मय, घोर भय उत्पन्न करने वाली, अतिशय कर्कश एव उग्र शारीरिक तथा मानसिक दोनो प्रकार की असातारूप वेदना का अनुभव करते रहते है। उनकी यह वेदना बहुत पल्योपम और सागरोपम काल तक रहती है। अपनी आयु के अनुसार करुण अवस्था मे रहते है। वे यमकालिक देवो द्वारा त्रास को प्राप्त होते हैं और (दुस्सह वेदना के वशीभूत हो कर) भयभीत होकर शब्द करते हैं—रोते-चिल्लाते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में नारको के सम्बन्ध मे 'अहाउय' पद का प्रयोग किया गया है। यह पद सूचित करता है कि जैसे सामान्य मनुष्य और तिर्यंच उपघात के निमित्त प्राप्त होने पर अकाल-मरण से मर जाते हैं, अर्थात् दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्पकाल मे, यहाँ तक कि अन्त-मुहूर्त्त मे भोग कर समाप्त कर देते हैं, वैसा नारको में नही होता। उनकी आयु निरुपक्रम होती है। जितने काल की आयु बँधी है, नियम से उतने ही काल में वह भोगी जाती है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, नारको का आयुष्य बहुत लम्बा होता है। वर्षों

या युगों में उस की गणना नही की जा सकती। अतएव उसे उपमा द्वारा ही बतलाया जाता है। इसे जैन आगमों में उपमा-काल कहा गया है। वह दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।

पल्य का अर्थ गड्हा—गड्ढा है। एक योजन (चार कोस) लम्बा-चौडा और एक योजन गहरा एक गड्हा हो। उसमें देवकुरु या उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिक मनुष्य के, अधिक से अधिक सात दिन के जन्मे बालक के बालो के छोटे-छोटे टुकडो से—जिनके फिर टुकड़े न हो सकें, भरा जाए। बालो के टुकड़े इस प्रकार ठूस-ठूस कर भरे जाएँ कि उनमे न वायु का प्रवेश हो, न जल प्रविष्ट हो सके और न अग्नि उन्हें जला सके। इस प्रकार भरे पल्य मे से सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक बालाग्र निकाला जाए। जितने काल मे वह पल्य पूर्ण रूप से खाली हो जाए, उतना काल एक पल्योपम कहलाता है। दस कोटाकोटी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है। एक करोड से एक करोड का गुणाकार करने पर जो सख्या निष्पन्न होती है उसे कोटाकोटी कहते हैं।

नारक जीव अनेकानेक पल्योपमो और सागरोपमो तक निरन्तर ये वेदनाएँ भुगतते रहते हैं। कितना भयावह है हिंसाजनित पाप का परिणाम!

नारक जीवों की करुण पुकार

२७—किं ते ?

अविभाव सामि भाय बप्प ताय जियवं मुय मे मरामि दुब्बलो वाहिपीलिओऽहं किं दाणिऽसि एवं दारुणो णिद्दय ? मा देहि मे पहारे, उस्सासेयं मुहुत्तं मे देहि, पसाय करेह, मा रुस वीसमामि, गेविज्जं मुयह मे मरामि गाढं तण्हाइओ अहं देहि पाणीयं।

२७—(नारक जीव) किस प्रकार रोते-चिल्लाते हैं ?

हे अज्ञातबन्धु ! हे स्वामिन् ! हे भ्राता ! अरे बाप ! हे तात ! हे विजेता ! मुझे छोड दो। मैं मर रहा हूँ। मै दुर्बल हूँ ! मैं व्याधि से पीडित हूँ। आप इस समय क्यो ऐसे दारुण एव निर्दय हो रहे हैं ? मेरे ऊपर प्रहार मत करो। मुहूर्त्त भर—थोडे समय तक सास तो लेने दीजिए ! दया कीजिए। रोष न कीजिए। मै जरा विश्राम ले लूँ। मेरा गला छोड दीजिए। मै मरा जा रहा हूँ। मैं प्यास से पीडित हूँ। (तनिक) पानी दे दीजिए।

विवेचन—नारको को परमाधामी असुर जब लगातार पीडा पहुँचाते है, पल भर भी चैन नही लेने देते, तब वे किस प्रकार चिल्लाते है, किस प्रकार दीनता दिखलाते है और अपनी असहाय अवस्था को व्यक्त करते हैं, यह इस पाठ मे वर्णित है। पाठ से स्पष्ट है कि नारको को क्षण भर भी शान्ति-चैन नही मिलती है। जब प्यास से उनका गला सूख जाता है और वे पानी की याचना करते हैं तो उन्हे पानी के बदले क्या मिलता है, इसका वर्णन आगे प्रस्तुत है।

नरकपालों द्वारा दिये जाने वाले घोर दुःख

२८—हंता पिय[1] इमं जलं विमलं सीयल त्ति घेत्तूण य णरयपाला तवियं तउयं से दिति कलसेण अंजलीसु दट्ठूण य तं पवेवियंगोवंगा अंसुपगलंतपप्पुयच्छा छिण्णा तण्हाइयम्ह कलुणाणि

---

१. 'ताहे तं पिय'—पाठभेद।

जंपमाणा विप्पेक्खंता दिसोदिसिं प्रत्ताणा असरणा अणाहा प्रबंधवा बंधुविप्पहूणा विपलायंति य मिया इव वेगेण भयुव्विग्गा।

२८—'अच्छा, हाँ, (तुम्हें प्यास सता रही है ? तो लो) यह निर्मल और शीतल जल पीओ।' इस प्रकार कह कर नरकपाल अर्थात् परमाधामी असुर नारकों को पकड कर खौला हुआ सीसा कलश से उनकी अंजुली में उडेल देते है। उसे देखते ही उनके अंगोपांग कांपने लगते हैं। उनके नेत्रों से आंसू टपकने लगते हैं। फिर वे कहते है—'(रहने दीजिए), हमारी प्यास शान्त हो गई!' इस प्रकार करुणापूर्ण वचन बोलते हुए भागने-बचने के लिए दिशाएँ—इधर-उधर देखने लगते हैं। अन्ततः वे त्राणहीन, शरणहीन, अनाथ—हित को प्राप्त कराने वाले और अहित से बचाने वाले से रहित, बन्धु-विहीन—जिनका कोई सहायक नहीं, बन्धुओं से वंचित एवं भय के मारे घबडा करके मृग की तरह बडे वेग से भागते हैं।

विवेचन—जिन लोगों ने समर्थ होकर, प्रभुता प्राप्त करके, सत्तारूढ होकर असहाय, दुर्बल एवं असमर्थ प्राणियों पर अत्याचार किए हैं, उन्हें यदि इस प्रकार की यातनाएँ भोगनी पडें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

यहाँ आंसुओं के टपकने का या इसी प्रकार के जो अन्य कथन है, वे भाव के द्योतक हैं, जैसे अश्रुपात केवल आन्तरिक पीडा को प्रकट करने के लिए कहा गया है। प्रस्तुत कथन मुख्य रूप से औदारिक शरीरधारियों (मनुष्यों) के लिए है, अतएव उन्हें उनकी भाषा में—भावना में समझाना शास्त्रकार ने योग्य समझा होगा।

२९—**घेत्तूणबला पलायमाणाणं णिरणुकंपा मुहं विहाडेत्तुं लोहदंडेहिं कलकलं ण्हं वयणंसि छुभंति केइ जमकाइया हसंता। तेण दड्ढा संतो रसंति य भीमाइं विस्सराइं रुवंति य कलुणगाइं पारेयवगा व एवं पलविय-विलाव-कलुण-कंदिय-बहुरुण्णरुइयसद्दो परिदेवियरुद्धबद्धय णारयारवसंकुलो णीसिट्ठो। रसिय-भणिय-कुविय-उक्कूइय-णिरयपाल तज्जिय गिण्हक्कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेह उक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो हण विहण विच्छुब्भोच्छुब्भ-आकड्ढ-विकड्ढ।**

किं ण जंपसि ? सराहि पावकम्माइं[1] दुक्कयाइं एवं वयणमहप्पगब्भो पडिसुयासद्दसंकुलो तासओ सया णिरयगोयराण महाणगरडज्झमाण-सरिसो णिग्घोसो, सुच्चइ अणिट्ठो तहियं णेरइयाणं जाइज्जंताणं जायणाहिं।

२९—कोई-कोई अनुकम्पा-विहीन यमकायिक उपहास करते हुए इधर-उधर भागते हुए उन नारक जीवों को जबर्दस्ती पकड कर और लोहे के डंडे से उनका मुख फाड कर उसमें उबलता हुआ शीशा डाल देते हैं। उबलते शीशे से दग्ध होकर वे नारक भयानक आर्त्तनाद करते है—बुरी तरह चिल्लाते है। वे कबूतर की तरह करुणाजनक आक्रंदन करते है, खूब रुदन करते है—चीत्कार करते हुए अश्रु बहाते है। विलाप करते हैं। नरकपाल उन्हें रोक लेते है, बांध देते हैं। तब नारक आर्त्तनाद करते हैं, हाहाकार करते है, बड़बडाते है—शब्द करते है, तब नरकपाल कुपित होकर और उच्च ध्वनि से उन्हें धमकाते हैं। कहते हैं—इसे पकडो, मारो, प्रहार करो, छेद डालो, भेद डालो, इसकी

१. 'पावकम्माण' के आगे 'कियाइ' पाठ भी कुछ प्रतियों में है, जिसका अर्थ—'किये हुए' होता है।

चमडी उधेड़ दो, नेत्र बाहर निकाल लो, इसे काट डालो, खण्ड-खण्ड कर डालो, हनन करो, फिर से श्रौर अधिक हनन करो, इसके मुख मे (गर्मागर्म) शीशा उडेल दो, इसे उठा कर पटक दो या मुख मे श्रौर शीशा डाल दो, घसीटो, उलटो, घसीटो।

नरकपाल फिर फटकारते हुए कहते हैं—बोलता क्यो नही! श्रपने पापकर्मों को, श्रपने कुकर्मों को स्मरण कर! इस प्रकार अत्यन्त कर्कश नरकपालो की ध्वनि की वहाँ प्रतिध्वनि होती है। नारक जीवो के लिए वह ऐसी सदैव त्रासजनक होती है कि जैसे किसी महानगर मे श्राग लगने पर घोर शब्द— कोलाहल होता है, उसी प्रकार निरन्तर यातनाएँ भोगने वाले नारको का श्रनिष्ट निर्घोष वहाँ सुना जाता है।

विवेचन— मूल पाठ स्वय विवेचन है। यहाँ भी नारकीय जीवो की घोरातिघोर यातनाश्रो का शब्द-चित्र अकित किया गया है। कितना भीषण चित्र है! जब किसी का गला तीव्र प्यास से सूख रहा हो तब उसे उबला हुश्रा गर्मागर्म शीशा अजलि में देना श्रौर जब वह श्रार्त्तनाद कर भागे तो जबर्दस्ती लोहमय दड से उसका मुँह फाड कर उसे पिलाना कितना करुण है! इस व्यथा का क्या पार है? मगर पूर्वभव मे घोरातिघोर पाप करने वालो—नारको को ऐसी यातना सुदीर्घ काल तक भोगनी पडती हैं। वस्तुत उनके पूर्वकृत दुष्कर्म ही उनकी इन श्रसाधारण व्यथाश्रो के प्रधान कारण हैं।

नारकों की विविध पीड़ाएं

३०—किं ते?

श्रसिवण-दब्भवण-जंतपत्थर-सूइतल-क्खार-वावि-कलकलंत-वेयरणि-कलंब-वालुया-जलियगुह-णिरुंभण-उसिणोसिण-कंटइल्ल-दुग्गम-रहजोयण-तत्तलोहमग्गगमण-वाहणाणि।

३०- (नारक जीवो की यातनाएँ इतनी ही नही हैं।) प्रश्न किया गया है—वे यातनाएँ कैसी है?

उत्तर है—नारको को श्रसि-वन मे श्रर्थात् तलवार की तीक्ष्णधार के समान पत्तो वाले वृक्षो के वन में चलने को बाध्य किया जाता है, तीखी नोक वाले दर्भ (डाभ) के वन मे चलाया जाता है, उन्हे यन्त्रप्रस्तर—कोल्हू मे डाल कर (तिलो की तरह) पेरा जाता है, सूई की नोक समान श्रतीव तीक्ष्ण कण्टको के सदृश स्पर्श वाली भूमि पर चलाया जाता है, क्षारवापी -क्षारयुक्त पानी वाली वापिका मे पटक दिया जाता है, उबलते हुए सीसे श्रादि से भरी वैतरणी नदी मे बहाया जाता है, कदम्बपुष्प के समान— श्रत्यन्त तप्त—लाल हुई रेत पर चलाया जाता है, जलती हुई गुफा मे बद कर दिया जाता है, उष्णोष्ण श्रर्थात् श्रत्यन्त ही उष्ण एव कण्टकाकीर्ण दुर्गम—विषम-ऊबडखाबड मार्ग मे रथ मे (बैलो की तरह) जोत कर चलाया जाता है, लोहमय उष्ण मार्ग मे चलाया जाता है श्रौर भारी भार वहन कराया जाता है।

नारकों के शस्त्र

३१—इमेहिं विविहेहि श्राउहेहिं—

किं ते?

मुग्गर-मुसुंढि-करकय-सत्ति-हल-गय-मूसल-चक्क-कोंत-तोमर-सूल-लउड-भिडिपालसद्धल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुहण-मुट्ठिय-असि-खेडग-खग्ग-चाव-णाराय-कणग-कप्पिणि-वासि-परसु-टंक-तिक्ख-णिम्मल-अण्णेहिं य एवमाइएहिं असुभेहिं वेउव्विएहिं पहरणसएहिं अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परवेयणं उदीरेंति अभिहणंता ।

तत्थ य मोग्गर-पहारचुण्णिय-मुसुंढि-संभग्ग-महियदेहा जंतोवपीलणफुरंतकप्पिया केइत्थ सचम्मका विगत्ता णिम्मूलुल्लूणकण्णोट्ठणासिका छिण्णहत्थपाया, असि-करकय-तिक्ख-कोंत-परसुप्पहारफालिय-वासीसंतच्छितंगमंगा कलकलमाण-खार-परिसित्त-गाढडज्झंतगत्ता कुंतग्ग-भिण्ण-जज्जरिय-सव्वदेहा विलोलंति महीतले विसूणियंगमंगा ।

३१—(नारको में परस्पर मे तीव्र वैरभाव बंधा रहता है, अर्थात् नरकभव के स्वभाव से ही नारक आपस मे एक-दूसरे के प्रति उग्र वैरभाव वाले होते हैं । अतएव) वे अशुभ विक्रियालब्धि मे निर्मित सेकडो शस्त्रो से परस्पर—एक-दूसरे को वेदना उत्पन्न—उदीरित करते है ।

शिष्य ने प्रश्न किया —वे विविध प्रकार के आयुध—शस्त्र कौन-से है ?

गुरु ने उत्तर दिया —वे शस्त्र ये है—मुद्गर, मुसुंढि, करवत, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (भाला), तोमर (बाण का एक प्रकार), शूल, लकुट (लाठी), भिडिमार (पाल), सद्धल (एक विशेष प्रकार का भाला), पट्टिस—पट्टिश—शस्त्रविशेष, चम्मेट्ठ (चमडे से मढ़ा पाषाणविशेष—गोफण) द्रुघण—वृक्षों को भी गिरा देने वाला शस्त्रविशेष, मौष्टिक—मुष्टिप्रमाण पाषाण, असि—तलवार अथवा असिखेटक—तलवार सहित फलक, खड्ग, चाप—धनुष, नाराच—बाण, कनक—एक प्रकार का बाण, कप्पिणी—कत्तिका —कैंची, वसूला—लकडी छीलने का औजार, परशु—फरसा और टक —छेनी । ये सभी अस्त्र-शस्त्र तीक्ष्ण और निर्मल—शाण पर चढे जैसे चमकदार होते हैं । इनसे तथा इसी प्रकार के अन्य शस्त्रो से भी (नारक परस्पर एक-दूसरे को) वेदना की उदीरणा करते है ।

नरको मे मुद्गर के प्रहारो से नारको का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, मुसुढी से सभिन्न कर दिया जाता है, मथ दिया जाता है, कोल्हू आदि यन्त्रो से पेरने के कारण फडफडाते हुए उनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिए जाते है । कइयो को चमडी सहित विकृत कर दिया जाता है, कान ओठ नाक और हाथ-पैर समूल काट लिए जाते है, तलवार, करवत, तीखे भाले एव फरसे से फाड दिये जाते है, वसूला से छीला जाता है, उनके शरीर पर उबलता खारा जल सीचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालो की नोक से उसके टुकडे-टुकड़े कर दिए जाते है, इस इस प्रकार उनके समग्र शरीर को जर्जरित कर दिया जाता है । उनका शरीर सूज जाता है और वे पृथ्वी पर लोटने लगते हैं ।

विवेचन—नरकभूमियो मे मुख्यत. तीन प्रकार से घोर वेदना होती है- १ क्षेत्रजनित वेदना, २ नरकपालो द्वारा पहुँचाई जाने वाली वेदना और ३ परस्पर नारको द्वारा उत्पन्न का हुई वेदना । क्षेत्रजनित वेदना नरकभूमियो के निमित्त से होती है, जैसे अतिशय उष्णता और अतिशय शीतलता आदि । इस प्रकार की वेदना का उल्लेख पहले किया जा चुका है । (देखिए सूत्र २३) । वास्तव मे नरकभूमियो मे होने वाला शीत और उष्णता का भयानकतम दु ख कहा नही जा सकता । ऊपर की भूमियो मे उष्णता का दु ख है तो नीचे की भूमियो मे शीत का वचनातीत दु:ख है । उष्णता वाली नरकभूमियो को धधकते लाल-लाल अगारो की उपमा या अतिशय प्रदीप्त—जाज्वल्यमान पृथ्वी

की उपमा दी गई है। यह उपमा मात्र समझाने के लिए है। वहाँ की उष्णता तो इनसे अनेकानेक-गुणित है। वहाँ की गर्मी इतनी तीव्रतम होती है कि मेरु के बराबर का लोहपिण्ड भी उसमे गल सकता है।

जिन नरकभूमियो मे शीत है, वहाँ की शीतलता भी असाधारण है। शीतप्रधान नरकभूमि मे से यदि किसी नारक को लाकर यहाँ बर्फ पर लिटा दिया जाए, ऊपर से बर्फ ढक दिया जाए और पार्श्वभागो मे भी बर्फ रख दिया जाए तो उसे बहुत राहत का अनुभव होगा। वह ऐसी विश्रान्ति का अनुभव करेगा कि उसे निद्रा आ जाएगी। इससे वहाँ की शीतलता की थोडी-बहुत कल्पना की जा सकती है।

इसी प्रकार की क्षेत्रजनित अन्य वेदनाएँ भी वहाँ असामान्य हैं, जिनका उल्लेख पूर्व मे किया गया है।

परमाधार्मिक देवो द्वारा दिये जाने वाले घोर कष्टो का कथन भी किया जा चुका है। ज्यो ही कोई पापी जीव नरक मे उत्पन्न होता है, ये असुर उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देने के लिए सन्नद्ध हो जाते है और जब तक नारक जीव अपनी लम्बी आयु पूरी नही कर लेता तब तक वे निरन्तर उसे सताते ही रहते है। किन्तु परमाधामियो द्वारा दी जाने वाली वेदना तीसरे नरक तक ही होती है, क्योकि ये तीसरे नरक से आगे नही जाते। चौथे, पाँचवे छठे और सातवे नरक मे दो निमित्तो से ही वेदना होती है—भूमिजनित और परस्परजनित। प्रस्तुत सूत्र मे परस्परजानित वेदना का उल्लेख किया गया है।

नारको को भव के निमित्त से वैक्रियलब्धि प्राप्त होती है। किन्तु वह लब्धि स्वय उनके लिए और साथ ही अन्य नारको के लिए यातना का कारण बनती है। वैक्रियलब्धि से दु खो से बचने के लिए वे जो शरीर निर्मित करते है, उसमे उन्हे अधिक दु ख की ही प्राप्ति होती है। भला सोचते हैं, पर बुरा होता है। इसके अतिरिक्त जैसे यहाँ श्वान एक-दूसरे को सहन नही करता एक दूसरे को देखते ही घुर्राता है, झपटता है, आक्रमण करता है, काटता-नोचता है, उसी प्रकार नारक एक दूसरे को देखते ही उस पर आक्रमण करते है, विविध प्रकार के शस्त्रो से—जो वैक्रियशक्ति से बने होते है—हमला करते है। शरीर का छेदन-भेदन करते है। अगोपागो को काट डालते है। इतना त्रास देते हैं जो हमारी कल्पना से भी बाहर है। यह वेदना सभी नरकभूमियो मे भोगनी पडती है।

नरको का वर्णन जानने के लिए जिज्ञासु जनो को सूत्रकृतागसूत्र[1] के प्रथमश्रुत का 'नरक-विभक्ति' नामक पचम अध्ययन भी देखना चाहिए।

३२ तत्थ य विग-सुणग-सियाल-काक-मज्जार-सरभ-दीविय-वियग्घग-सद्दूल-सीह-दप्पिय-खुहाभिभूएहिं णिच्चकालमणसिएहिं घोरा रसमाण-भीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढागाढ-डक्क-कड्ढिय-सुतिक्ख-णह-फालिय-उद्धदेहा विच्छिप्पंते समंतओ विमुक्कसंधिबंधणा वियंगियंगमंगा कंक-कुरर-गिद्ध-घोर-कट्ठवायसगणेहि य पुणो खरथिरदढणक्ख-लोहतुंडेहि उवइत्ता पक्खाहय-तिक्ख-णक्ख-विक्किण्ण-जिब्भंछिय-णयणणिद्दओलुग्गविगय-वयणा उक्कोसंता य उप्पयंता णिपयता भमता।

३२ -नरक मे दर्पयुक्त—मदोन्मत्त, मानो सदा काल से भूख से पीडित, जिन्हे कभी भोजन न मिला हो, भयावह, घोर गर्जना करते हुए, भयकर रूप वाले भेड़िया, शिकारी कुत्ते, गीदड, कौवे,

१—आगम प्रकाशन समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित सूत्रकृताग प्रथम भाग, पृ. २८६ से ३१४

बिलाव, अष्टापद, चीते, व्याघ्र, केसरी सिह और सिह नारको पर आक्रमण कर देते है, अपनी मजबूत दाढ़ो से नारको के शरीर को काटते है, खीचते है, अत्यन्त पैने नोकदार नाखूनो से फाडते है और फिर इधर-उधर चारो ओर फेक देते हैं। उनके शरीर के बन्धन ढीले पड जाते है। उनके अगोपाग विकृत और पृथक् हो जाते है। तत्पश्चात् दृढ एव तीक्ष्ण दाढो, नखो और लोहे के समान नुकीली चोच वाले कक, कुरर और गिद्ध आदि पक्षी तथा घोर कष्ट देने वाले काक पक्षियों के झु ड कठोर, दृढ तथा स्थिर लोहमय चोचो से (उन नारको के ऊपर) झपट पडते है। उन्हे अपने पखो से आघात पहुँचाते है। तीखे नाखूनो से उनकी जीभ बाहर खीच लेते हैं और आंखे बाहर निकाल लेते हैं। निर्दयतापूर्वक उनके मुख को विकृत कर देते है। इस प्रकार की यातना से पीडित वे नारक जीव रुदन करते हैं, कभी ऊपर उछलते हैं और फिर नीचे आ गिरते है, चक्कर काटते है।

विवेचन—वस्तुत नरक में भेडिया, बिलाव, सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच चतुष्पद नही होते, किन्तु नरकपाल ही नारको को त्रास देने के लिए अपनी विक्रियाशक्ति से भेड़िया आदि का रूप बना लेते है। नारको की इस करुणाजनक पीडा पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नही है। इन भयानक मे भयानक यातनाओ का शास्त्रकार ने स्वय वर्णन किया है। इसका एक मात्र प्रयोजन यही है कि मनुष्य हिसा रूप दुष्कर्म से बचे और उसके फलस्वरूप होने वाली यातनाओ का भाजन न बनें। ज्ञानी महापुरुषो की यह अपार करुणा ही समझना चाहिए कि उन्होने जगत् के जीवो को सावधान किया है। शास्त्रकारो का हिसको के प्रति जैसा करुणाभाव है, उसी प्रकार हिंस्य जीवो के प्रति भी है। फिर भी जिनका विवेक सर्वथा लुप्त है, जो मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान के घोरतर अन्धकार मे विचरण कर रहे है, वे अपनी रसलोलुपता की क्षणिक पूर्ति के लिए अथवा देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की कल्पना से प्रेरित होकर या पशुबलि से स्वर्ग—सुगति की प्राप्ति का मिथ्या मनोरथ पूर्ण करने के लिए हिसा मे प्रवृत्त होते हैं।

नारकों की मरने के बाद की गति

३३—पुव्वकम्मोदयोवगया, पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिदता पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं तहिं तहिं तारिसाणि ओसण्णचिक्कणाइं दुक्खाइं अणुभवित्ता तओ य आउक्खएणं उव्वट्टिया समाणा बहवे गच्छंति तिरियवसहिं दुक्खुत्तरं सुदारुणं जम्मणमरण-जरावाहिपरियट्टणारहट्टं जल-थल-खहयर-परोप्पर-विहिंसण-पवंचं इमं च जगपागडं वरागा दुक्खं पावेंति दीहकालं।

३३—पूर्वोपार्जित पाप कर्मो के अधीन हुए, पश्चात्ताप (की आग) से जलते हुए, अमुक-अमुक स्थानो मे, उस-उस प्रकार के पूर्वकृत कर्मों की निन्दा करके, अत्यन्त चिकने—बहुत कठिनाई से छूट सकने वाले—निकाचित दु खो को भुगत कर, तत्पश्चात् आयु (नारकीय आयु) का क्षय होने पर नरकभूमियो मे से निकल कर बहुत-से जीव तिर्यंचयोनि मे उत्पन्न होते है। (किन्तु उनकी वह तिर्यंच योनि भी) अतिशय दु खो से परिपूर्ण होती है अथवा अत्यन्त कठिनाई से पूरी की जाने वाली होती है, दारुण कष्टो वाली होती है, जन्म-मरण-जरा-व्याधि का अरहट उसमे घूमता रहता है। उसमे जलचर, स्थलचर और नभश्चर के पारस्परिक घात-प्रत्याघात का प्रपच या दुष्चक्र चलता रहता है। तिर्यंचगति के दु:ख जगत् मे प्रकट—प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। नरक से किसी भी भांति निकले और तिर्यंचयोनि में जन्मे वे पापी जीव बेचारे दीर्घ काल तक दु:खो को प्राप्त करते है।

विवेचन—जैनसिद्धान्त के अनुसार नारक जीव नरकायु के पूर्ण होने पर ही नरक से निकलते हैं। उनका मरण 'उद्वर्त्तन' कहलाता है। पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि नारको का आयुष्य निरुपक्रम होता है। विष, शस्त्र आदि के प्रयोग से भी वह बीच मे समाप्त नही होता, अर्थात् उनकी अकालमृत्यु नही होती। अतएव मूल पाठ मे 'आउक्खएण' पद का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जब नरक का आयुष्य पूर्ण रूप से भोग कर क्षीण कर दिया जाता है, तभी नारक नरकयोनि से छुटकारा पाता है।

मानव किसी कषाय आदि के आवेश से जब आविष्ट होता है तब उसमे एक प्रकार का उन्माद जागृत होता है। उन्माद के कारण उसका हिताहितसम्बन्धी विवेक लुप्त हो जाता है। वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के भान को भूल जाता है। उसे यह विचार नही आता कि मेरी इस प्रवृत्ति का भविष्य में क्या परिणाम होगा ? वह आविष्ट अवस्था में अकरणीय कार्य कर बैठता है और जब तक उसका आवेश कायम रहता है तब तक वह अपने उस दुष्कर्म के लिए गौरव अनुभव करता है, अपनी सराहना भी करता है। किन्तु उसके दुष्कर्म के कारण और उसके प्रेरक आन्तरिक दुर्भाव के कारण प्रगाढ—चिकने—निकाचित कर्मों का बन्ध होता है। बन्धे हुए कर्म जब अपना फल प्रदान करने के उन्मुख होते है—अबाधाकाल पूर्ण होने पर फल देना प्रारम्भ करते है तो भयकर से भयकर यातनाएँ उसे भोगनी पडती है। उन यातनाओ का शब्दो द्वारा वर्णन होना असभव है, तथापि जितना सभव है उतना वर्णन शास्त्रकार ने किया है। वास्तव मे तो उस वर्णन को 'नारकीय यातनाओ का दिग्दर्शन' मात्र ही समझना चाहिए।

स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक नारक जीव को भव-प्रत्यय अर्थात् नारक भव के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान होता है। उस अवधिज्ञान से नारक अपने पूर्वभव मे किए घोर पापो के लिए पश्चात्ताप करते हैं। किन्तु उस पश्चात्ताप मे भी उनका छुटकारा नही होता। हाँ, नारको मे यदि कोई सम्यग्दृष्टि जीव हो तो वह वस्तुस्वरूप का विचार करके कर्मफल की अनिवार्यता समझ कर नारकीय यातनाएँ समभाव से सहन करता है और अपने समभाव के कारण दुखानुभूति को किंचित् हल्का बना सकता है। मगर मिथ्यादृष्टि तो दुखो की आग के साथ-साथ पश्चात्ताप की आग में भी जलते रहते है। अतएव मूलपाठ मे 'पच्छाणुसएण डज्झमाणा' पदो का प्रयोग किया गया है।

नारक जीव पुन तदनन्तर भव मे नरक मे उत्पन्न नही होता। (देवगति मे भी उत्पन्न नही होता,) वह तिर्यंच अथवा मनुष्य गति मे ही जन्म लेता है। अतएव कहा गया है— **'बहवे गच्छंति तिरियवसहिं'** अर्थात् बहुत-से जीव नरक से निकल कर तिर्यचवसति मे जन्म लेते है।

तिर्यंचयोनि, नरकयोनि के समान एकान्त दुखमय नही है। उसमें दुखो की बहुलता के साथ किंचित् सुख भी होता है। कोई-कोई तिर्यंच तो पर्याप्त सुख की मात्रा का अनुभव करते है, जैसे राजा-महाराजाओ के हस्ती अश्व अथवा समृद्ध जनो द्वारा पाला हुए कुत्ता आदि।

नरक से निकले हुए और तिर्यचगति मे जन्मे हुए घोर पापियो को सुख-सुविधापूर्ण तिर्यचगति की प्राप्ति नही होती। पूर्वकृत कर्म वहाँ भी उन्हे चैन नही लेने देते। तिर्यच होकर भी वे अतिशय दु:खों के भाजन बनते है। उन्हे जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि के चक्कर में पडना पडता है।

तिर्यच प्राणी भी परस्पर मे आघात- प्रत्याघात किया करते हैं। चूहे को देखते ही बिल्ली उस पर झपटती है, बिल्ली को देख कर कुत्ता हमला करता है, कुत्ते पर उससे अधिक बलवान् सिंह आदि

आक्रमण करते हैं। मयूर सर्प को मार डालता है। इस प्रकार अनेक तिर्यंचो मे जन्मजात वैरभाव होता है। नारक जीव नरक से निकल कर दु खमय तिर्यंचयोनि मे जन्म लेते है। वहाँ उन्हें विविध प्रकार के दुःख भोगने पडते हैं।

तिर्यंचयोनि के दुःख

३४—किं ते ?

सीउण्ह-तण्हा- खुह-वेयण-अप्पईकार- अडवि- जम्मणणिच्च- भउव्विग्गवास- जग्गण-वह-बंधण-ताडण-अंकण - णिवायण- अट्ठिभंजण-णासाभेय- प्पहारदूमण- छविच्छेयण-अभिओग- पावण-कसंकुसार-णिवाय-दमणाणि-वाहणाणि य।

३४—प्रश्न—वे तिर्यंचयोनि के दु ख कौन-से हैं ?

उत्तर—शीत—सर्दी, उष्ण—गर्मी, तृषा—प्यास, क्षुधा—भूख, वेदना का अप्रतीकार, अटवी—जगल मे जन्म लेना, निरन्तर भय से घबडाते रहना, जागरण, वध—मारपीट सहना, बन्धन—बाधा जाना, ताडन, दागना—लोहे की शलाका, चीमटा आदि को गर्म करके निशान बनाना—डामना, गडहे आदि मे गिराना, हड्डियाँ तोड देना, नाक छेदना, चाबुक, लकडी आदि के प्रहार सहन करना, सताप सहना, छविच्छेदन—अगोपागो को काट देना, जबर्दस्ती भारवहन आदि कामो मे लगना, कोडा—चाबुक, अकुश एव आर—डडे के अग्र भाग मे लगी हुई नोकदार कील आदि से दमन किया जाना, भार वहन करना आदि-आदि।

विवेचन—शास्त्रकार पूर्व हो उल्लेख कर चुके है कि तिर्यंचगति के कष्ट जगत् मे प्रकट हैं, प्रत्यक्ष देखे-जाने जा सकते है। प्रस्तुत सूत्र मे उल्लिखित दु ख प्राय इसी कोटि के है। ये दुःख पचेन्द्रिय तिर्यंचो सम्बन्धी हैं। तिर्यंचो मे कोई पचेन्द्रिय होते है, कोई चार, तीन, दो या एक इन्द्रिय वाले होते है। चतुरिन्द्रिय आदि के दु खो का वर्णन आगे किया जाएगा।

मनुष्य सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए अनेकानेक उपायों का आश्रय लेते है। सर्दी से बचने के लिए अग्नि का, बिजली के चूल्हे आदि का, गर्म—ऊनी या मोटे वस्त्रो का, रुईदार रजाई आदि का, मकान आदि का उपयोग करते हैं। गर्मी से बचाव के लिए भी उनके पास अनेक साधन है और वातानुकूलित भवन आदि भी बनने लगे हैं। किन्तु पशु-पक्षियो के पास इनमे से कौन-से साधन हैं ? बेचारे विवश होकर सर्दी-गर्मी सहन करते हैं।

भूख-प्यास की पीडा होने पर वे उसे असहाय होकर सहते हैं। अन्न-पानी माग नही सकते। जब बैल बेकाम हो जाता है, गाय-भैस दूध नही देती, तब अनेक मनुष्य उन्हे घर से छुट्टी दे देते हैं। वे गलियो मे भूखे-प्यासे आवारा फिरते हैं। कभी-कभी पापी हिसक उन्हे पकड कर कत्ल करके उनके मास एव अस्थियो को बेच देते हैं।

कतिपय पालतू पशुओ को छोड़ कर तिर्यंचो की वेदना का प्रतीकार करने वाला कौन है ! कौन जगल मे जाकर पशु-पक्षियो के रोगो की चिकित्सा करता है !

तिर्यंचो मे जो जन्म-जात वैर वाले है, उन्हे परस्पर एक-दूसरे से निरन्तर भय रहता है, शशक, हिरण आदि शिकारियो के भय से ग्रस्त रहते हैं और पक्षी व्याधो—बहेलियो के डर से घबराते हैं। इसी प्रकार अत्राण—अशरण एव साधनहीन होने के कारण सभी पशु-पक्षी निरन्तर भय-ग्रस्त बने रहते हैं।

इसी प्रकार अन्य पीडाएँ भी उन्हे चुपचाप सहनी पड़ती हैं। मारना, पाटना, दागना, भार वहन करना, वध—बन्धन किया जाना आदि-आदि अपार यातनाएँ हैं जो नरक से निकले और तिर्यंच पंचेन्द्रिय पर्याय मे जन्मे पापी प्राणियो को निरन्तर भोगनी पडती हैं।

कुछ मासभक्षी और नरकगति के अतिथि बनने की सामग्री जुटाने वाले मिथ्या दृष्टि पापी जीव पशु-पक्षियो का अत्यन्त निर्दयतापूर्वक वध करते है। बेचारे पशु तडपते हुए प्राणो का परित्याग करते हैं। कुछ अधम मनुष्य तो मास विक्रय का धधा ही चलाते हैं। इस प्रकार तिर्यंचो की वेदना भी अत्यन्त दुस्सह होती है।

३५—मायापिइ-विप्पओग-सोय-परिपीलणाणि य सत्थग्गि-विसाभिघाय-गल-गवलावलण मारणाणि य गलजालुच्छिप्पणाणि य पउलण-विकप्पणाणि य जावज्जीविगबंधणाणि य, पंजरणिरोहणाणि य सयूहणिग्घाडणाणि य धमणाणि य दोहणाणि य कुदंडगलबंधणाणि य वाडगपरिवारणाणि य पंकजलणिमज्जणाणि य वारिप्पवेसणाणि य ओवायणिभंग-विसमणिवडणदवग्गिजालदहणाई य।

३५—(पूर्वोक्त दु:खो के अतिरिक्त तिर्यचगति मे) इन दु खा को भी सहन करना पडता है—

माता-पिता का वियोग, शोक से अत्यन्त पीडित होना, या श्रोत- नासिका आदि श्रोता-नथुनों आदि के छेदन से पीडित होना, शस्त्रो से, अग्नि से और विष से आघात पहुँचना, गदन- गले एव सीगों का मोड़ा जाना, मारा जाना, मछली आदि को गल-काँटे मे या जाल मे फंसा कर जल से बाहर निकालना, पकाना, काटा जाना, जीवन पर्यन्त बन्धन मे रहना, पीजरे में बन्द रहना, अपने समूह—टोले से पृथक् किया जाना, भैस आदि को फूंका लगाना अर्थात् ऊपर मे वायु भर देना और फिर उसे दुहना—जिससे दूध अधिक निकले, गले मे डडा बाँध देना, जिससे वह भाग न सके, वाड मे घेर कर रखना, कीचड-भरे पानी मे डुबोना, जल मे घुसेडना, गडहे मे गिरने से अग-भग हो जाना, पहाड के विषम—ऊँचे-नीचे-ऊबडखाबड मार्ग मे गिर पडना, दावानल की ज्वालाओ मे जलना या जल मरना; आदि-आदि कष्टो से परिपूर्ण तिर्यचगति मे हिसाकारी पापी नरक से निकल कर उत्पन्न होते हैं।

३६—एवं ते दुक्ख-सय-संपलित्ता णरगाओ आगया इहं सावसेसकम्मा तिरिक्ख-पंचिंदिएसु पावेंति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसंचियाइं अईव अस्साय-कक्कसाइं।

३६—इस प्रकार वे हिसा का पाप करने वाले पापी जीव सैकडो पीडाओ से पीडित होकर, नरकगति से आए हुए, प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत सचित किए और भोगने से शेष रहे कर्मो के उदयवाले अत्यन्त कर्कश असाता को उत्पन्न करने वाले कर्मों से उत्पन्न दु.खो के भाजन बनते है।

विवेचन—पचेन्द्रिय तिर्यचो को होने वाली यातनाओ का उल्लेख करने के पश्चात् प्रस्तुत सूत्र में नारकीय जीवो की तिर्यंचगति मे उत्पत्ति के कारण का निर्देश किया गया है।

नारको की आयु यद्यपि मनुष्यो और तिर्यचो से बहुत अधिक लम्बी होती है, तथापि वह अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म के सिवाय शेष सातो कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति कोटाकोटी सागरोपमो की बतलाई गई है, अर्थात् आयुकर्म की स्थिति से करोडो-करोडो गुणा अधिक है। तेतीस सागरोपम की आयु भी सभी नारको की नही होती। सातवी नरकभूमि मे उत्पन्न हुए

नारको की ही होती है और उनमें भी सब की नही—किन्ही-किन्ही की। ऐसी स्थिति मे जिन घोर पाप करने वालो का नरक मे उत्पाद होता है, वे वहाँ की तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम यातनाएँ निरन्तर भोग कर बहुतेरे पाप-कर्मों की निर्जरा तो कर लेते है, फिर भी समस्त पापकर्मों की निर्जरा हो ही जाए, यह सभव नही है। पापकर्मों का दुष्फल भोगते भोगते भी कुछ कर्मों का फल भोगना शेष रह जाता हे। यही तथ्य प्रकट करने के लिए शास्त्रकार,ने **'सावसेसकम्मा'** पद का प्रयोग किया है। जिन कर्मों का भोग शेष रह जाता है, उन्हे भोगने के लिए जीव नरक से निकल कर तिर्यचगति मे जन्म लेता है।

इतनी घोरातिघोर यातनाएँ सहन करने के पश्चात् भी कर्म अवशिष्ट क्यो रह जाते है? इस प्रश्न का एक प्रकार से समाधान ऊपर किया गया है। दूसरा समाधान मूलपाठ मे ही विद्यमान है। वह है—**'पमाय-राग-दोस बहुसंचियाइं'** अर्थात् घोर प्रमाद, राग और द्वेष के कारण पापकर्मों का बहुत सचय किया गया था। इस प्रकार सचित कर्म जब अधिक होते है और उनकी स्थिति भी आयुकर्म की स्थिति से अत्यधिक होती है तब उसे भोगने के लिए पापी जीवो को तिर्यचयोनि में उत्पन्न होना पडता है। जो नारक जीव नरक से निकल कर तिर्यंचो मे उत्पन्न होते है, वे पचेन्द्रियो मे उत्पन्न होते है। अतएव यहाँ पचेन्द्रिय जीवो—तिर्यचो के दु.ख का वर्णन किया गया है। किन्तु पचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर फिर चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यचो मे भी उत्पन्न हो सकता है और बहुत-से हिसक जीव उत्पन्न होते भी है, अतएव आगे चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यचो के दु खो का भी वर्णन किया जाएगा।

चतुरिन्द्रिय जीवों के दुःख

३७ -भमर-मसग-मच्छिमाइएसु य जाइकुलकोडि-सयसहस्सेहिं नवहिं-चउरिंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखिज्जं भमंति णेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसण-घाण-चक्खु-सहिया।

३७- चार इन्द्रियो वाले भ्रमर, मशक—मच्छर, मक्खी आदि पर्यायो मे, उनकी नौ लाख जाति-कुलकोटियो मे वारवार जन्म-मरण (के दु खो) का अनुभव करते हुए, नारको के समान तीव्र दु ख भोगते हुए स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु से युक्त होकर वे पापी जीव सख्यात काल तक भ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—इन्द्रियो के आधार पर तिर्यच जीव पाँच भागो में विभक्त है—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। प्रस्तुत सूत्र मे चतुरिन्द्रिय जीवो के दु.खो के विषय मे कथन किया गया है।

चतुरिन्द्रिय जीवो को चार पूर्वोक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती है। इन चारो इन्द्रियो के माध्यम से उन्हे विविध प्रकार की पीडाएँ भोगनी पडती है। भ्रमर, मच्छर, मक्खी आदि जीव चार इन्द्रियों वाले है।

उच्च अथवा नीच गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त वश कुल कहलाते है। उन कुलो की विभिन्न कोटियाँ (श्रेणियाँ) कुलकोटि कही जाती हैं। एक जाति मे विभिन्न अनेक कुल होते हैं। समस्त ससारी जीवो के मिल कर एक करोड़ साढे सत्तानवे लाख कुल शास्त्रो में कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

मनुष्य	१२	लाख कुलकोटियाँ
देव	२६	” ”
नारक	२५	” ”
जलचर पचेन्द्रिय तिर्यंच	१२½	” ”
स्थलचर चतुष्पद पचेन्द्रिय	१०	” ”
स्थलचर उरपरिसर्प पचेन्द्रिय	१०	” ”
स्थलचर भुजपरिसर्प पचेन्द्रिय	९	” ”
खेचर पचेन्द्रिय तिर्यंच	१२	” ”
चतुरिन्द्रिय तिर्यंच	९	” ”
त्रीन्द्रिय तिर्यंच	८	” ”
द्वीन्द्रिय तिर्यंच	७	” ”
पृथ्वीकायिक स्थावर	१२	” ”
अप्कायिक स्थावर	७	” ”
तेजःकायिक स्थावर	३	” ”
वायुकायिक स्थावर	७	” ”
वनस्पतिकायिक स्थावर	२८	” ”
	योग—१,९७५,००००	

इनमे से चतुरिन्द्रिय जीवो की यहाँ नव लाख कुलकोटियाँ प्रतिपादित की गई है। जैसे नारक जीव नारक पर्याय का अन्त हो जाने पर पुन तदनन्तर भव मे नरक मे जन्म नही लेते, वैसा नियम चतुरिन्द्रियो के लिए नही है। ये जीव मर कर बार-बार चतुरिन्द्रियो मे जन्म लेते रहते है। सख्यात काल तक अर्थात् सख्यात हजार वर्षों जितने सुदीर्घ काल तक वे चतुरिन्द्रिय पर्याय मे ही जन्म-मरण करते रहते हैं। उन्हे वहाँ नारको जैसे तीव्र दु खो को भुगतना पडता।

त्रीन्द्रिय जीवों के दुःख

३८—तहेव तेइंदिएसु कुंथु-पिप्पीलिया-अवधिकादिएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं अट्ठहिं अणूणएहिं तेइंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखेज्जगं भमंति णेरइयसमाण-तिव्वदुक्खा फरिस-रसण-घाण-संपउत्ता।

३८—इसी प्रकार कुंथु, पिपीलिका—चींटी, अधिका—दीमक आदि त्रीन्द्रिय जीवो की पूरी आठ लाख कुलकोटियो में से विभिन्न योनियो एव कुलकोटियो मे जन्म-मरण का अनुभव करते हुए (वे पापी हिंसक प्राणी) सख्यात काल अर्थात् सख्यात हजार वर्षों तक नारको के सदृश तीव्र दुःख भोगते हैं। ये त्रीन्द्रिय जीव स्पर्शन, रसना और घ्राण—इन तीन इन्द्रियो से युक्त होते है।

विवेचन—पूर्व सूत्र मे जो स्पष्टीकरण किया गया है, उसी प्रकार का यहाँ भी समझ लेना चाहिए। त्रीन्द्रिय-पर्याय मे उत्पन्न हुआ जीव भी उत्कर्षत सख्यात हजार वर्षों तक[1] बार-बार जन्म मरण करता हुआ त्रीन्द्रिय मे ही बना रहता है।

१. अभयदेवटीका

द्वीन्द्रिय जीवों के दुःख

३९—गंडूलय-जलूय-किमिय-चंदणगमाइएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं सत्तहिं अणूणएहिं बेइंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखेज्जगं भमंति णेरइयसमाण-तिव्वदुक्खा फरिस-रसण-संपउत्ता।

३९—गडूलक--गिडोला, जलौक—जोक, कृमि, चन्दनक आदि द्वीन्द्रिय जीव पूरी सात लाख कुलकोटियो मे से वही-वही अर्थात् विभिन्न कुलकोटियो में जन्म-मरण की वेदना का अनुभव करते हुए सख्यात हजार वर्षो तक भ्रमण करते रहते हैं। वहाँ भी उन्हे नारको के समान तीव्र दुःख भुगतने पडते हैं। ये द्वीन्द्रिय जीव स्पर्शन और रसना—जिह्वा, इन दो इन्द्रियो वाले होते हैं।

विवेचन—सूत्र का अर्थ स्पष्ट है। विशेषता इतनी ही है कि इनकी कुलकोटियाँ सात लाख है और ये जीव दो इन्द्रियो के माध्यम मे तीव्र असाता वेदना का अनुभव करते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के दुःख

४०--पत्ता एगिंदियत्तणं वि य पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणप्फइ-सुहुम-बायरं च पज्जत्तम-पज्जत्तं पत्तेयसरीरणाम-साहारणं च पत्तेयसरीरजीविएसु य तत्थवि कालमसंखेज्जगं भमंति अणंतकालं च अणंतकाए फासिंदियभावसंपउत्ता दुक्खसमुदयं इमं अणिट्ठं पावंति पुणो पुणो तहिं तहिं चेव परभव-तरुगणगहणे।

४०—एकेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त हुए पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वन-स्पतिकाय के दो-दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर, अर्थात् सूक्ष्मपृथ्वीकाय और बादरपृथ्वीकाय, सूक्ष्म-जलकाय और बादरजलकाय आदि। इनके अन्य प्रकार से भी दो-दो प्रकार होते हैं, यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। वनस्पतिकाय मे इन भेदो के अतिरिक्त दो भेद और भी है—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। इन भेदों में से प्रत्येकशरीर पर्याय मे उत्पन्न होने वाले पापी—हिंसक जीव असख्यात काल तक उन्ही उन्ही पर्यायो मे परिभ्रमण करते रहते हैं और अनन्तकाय अर्थात् साधारण-शरीरी जीवो मे अनन्त काल तक पुन पुन जन्म-मरण करते हुए भ्रमण किया करते है। ये सभी जीव एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले होते हैं। इनके दु ख अतीव अनिष्ट होते हैं। वनस्पतिकाय रूप एकेन्द्रिय पर्याय मे कायस्थिति सबसे अधिक—अनन्तकाल की है।[1]

विवेचन—प्रकृत सूत्र मे एकेन्द्रिय जीवो के दु खो का वर्णन करने के साथ उनके भेदो और प्रभेदो का उल्लेख किया गया है। एकेन्द्रिय जीव मूलत पाँच प्रकार के हैं—पृथ्वीकाय आदि। इनमे से प्रत्येक सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। वनस्पतिकाय के इन दो भेदो के अतिरिक्त साधारणशरीरी और प्रत्येकशरीरी, ये दो भेद अधिक होते है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ अस्सखोसप्पिणिउस्सप्पिणी एगिंदियाण चउण्ह।
ता चेव ऊ अणता, वणस्सईए य बोद्धव्वा॥
—अभयदेव टीका पृ. १४—आगमोदयसमिति

सूक्ष्म—सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिन स्थावर जीवो का शरीर अतीव सूक्ष्म हो, चर्मचक्षु से दिखाई न दे, सिर्फ अतिशयज्ञानी ही जिसे देख सके, ऐसे लोकव्यापी जीव ।

बादर—बादरनामकर्म के उदय से जिनका शरीर अपेक्षाकृत बादर हो । यद्यपि सूक्ष्म और बादर शब्द आपेक्षिक हैं, एक की अपेक्षा जो सूक्ष्म है वह दूसरे की अपेक्षा बादर (स्थूल) हो सकता है और जो किसी को अपेक्षा बादर है वह अन्य की अपेक्षा सूक्ष्म भी हो सकता है । किन्तु सूक्ष्म और बादर यहाँ आपेक्षिक नही समझना चाहिए । नामकर्म के उदय पर ही यहाँ सूक्ष्मता और बादरता निर्भर है । अर्थात् सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले जीव सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय वाले जीव बादर कहे गए है । कोई-कोई त्रसजीव भी अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वाले होते है । उनका शरीर भी चक्षुगोचर नही होता । सम्मूर्छिम मनुष्यो का शरीर भी इतना सूक्ष्म होता है कि दृष्टिगोचर नही हो सकता । फिर भी वे यहाँ गृहीत नही है, क्योंकि उनके सूक्ष्मनामकर्म का उदय नही होता ।

पर्याप्तक-अपर्याप्तक—इन दोनो शब्दो की व्याख्या पूर्व मे की जा चुकी है ।

प्रत्येकशरीर—यह वनस्पतिकाय का भेद है । जिस जीव के एक शरीर का स्वामी एक ही हो, वह प्रत्येकशरीर या प्रत्येकशरीरी जीव कहलाता है ।

साधारणशरीर—ऐसे जीव जो एक ही शरीर मे, उसके स्वामी के रूप मे अनन्त हो । ऐसे जीव निगोदकाय के जीव भी कहे जाते है । सूक्ष्म निगोद के जीव सम्पूर्ण आकाश मे व्याप्त है । बादर निगोद के जीव कन्दमूल आदि मे होते है ।

लोकाकाश मे असख्यात गोल है । एक-एक गोल मे असख्यात-असख्यात निगोद है और एक-एक निगोद मे अनन्त-अनन्त जीव हैं ।

साधारणशरीर वाले जीवो के विषय मे कहा गया है कि वे एक शरीर मे अर्थात् एक ही शरीर के स्वामी के रूप मे अनन्त होते है । यह कथन औदारिकशरीर की अपेक्षा मे ही समझना चाहिए, अर्थात् वे जीव तो अनन्त होते है किन्तु उन सब का शरीर एक ही होता है । जब शरीर एक ही होता है तो उनका आहार और श्वासोच्छ्वास आदि भी साधारण ही होता है ।[1] किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके तैजस और कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न ही होते है ।

ये साधारणशरीरी अथवा निगोदिया जीव अनन्त काल तक अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल पर्यन्त उसी पर्याय मे लगातार जन्म-मरण की वेदना का अनुभव करते रहते हैं ।

४१—कुद्दाल-कुलिय-दालण-सलिल-मलण-खु भण रु भण-अणलाणिल-विविहसत्थघट्टण-परोप्प-राभिहणणमारणविराहणाणि य अकामकाइं परप्पओगोदीरणाहि य कज्जप्पओयणेहि य पेस्सपसु-णिमित्तं ओसहाहारमाइएहिं उक्खणण उक्कत्थण-पयण-कुट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भंजण-छेयण-तच्छण-विलु चण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइ, एव ते भवपरपरादुक्ख-समणुबद्धा अडंति संसारबीहणकरे जीवा पाणाइवायणिरया अणंतकालं ।

---

१. साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहण च ।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खण भणिय ॥ —गोमट्टसार, जीवकाण्ड १९२

४१—कुदाल और हल से पृथ्वी का विदारण किया जाना, जल का मथा जाना और निरोध किया जाना, अग्नि तथा वायु का विविध प्रकार के शस्त्रो से घट्टन होना, पारस्परिक आघातो मे आहत होना—एक दूसरे को पीडा पहुँचाना, मारना, दूसरों के निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन वाले व्यापार से उत्पन्न होने वाली विराधना की व्यथा सहन करना, नौकर-चाकरो तथा गाय-भैंस-बैल आदि पशुओ की दवा और आहार आदि के लिए खोदना, छानना, मोडना, सड जाना, स्वय टूट जाना, मसलना-कुचलना, छेदन करना, छीलना, रोमो का उखाड़ना, पत्ते आदि तोडना, अग्नि से जलाना, इस प्रकार भवपरम्परा में अनुबद्ध हिसाकारी पापी जीव भयकर ससार मे अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे उन हिंसक जीवो के दु ख का वर्णन किया गया है जो पहले नरक के अतिथि बने, तत्पश्चात् पापकर्मों का फल भोगना शेष रह जाने के कारण तिर्यंच पचेन्द्रिय पर्याय में, फिर विकलेन्द्रिय अवस्था मे और फिर एकेन्द्रिय अवस्था मे उत्पन्न होते है । जब वे पृथ्वीकाय मे जन्म लेते है तो उन्हे कुदाल, फावडा, हल आदि द्वारा विदारण किए जाने का कष्ट भोगना पडता है । जलकाय मे जन्म लेते हैं तो उनका मथन, विलोडन आदि किया जाता है । तेजस्काय और वायुकाय मे स्वकाय शस्त्रो और परकाय शस्त्रो से विविध प्रकार से घात किया जाता है । वनस्पतिकाय के जीवो की यातनाएँ भी क्या कम हैं ! उन्हे उखाड कर फेंक दिया जाता है, पकाया जाता है, कूटा-पीसा जाता है, आग मे जलाया और जल मे गलाया जाता है—सडाया जाता है । उनका छेदन-भेदन आदि किया जाता है । फल-फूल-पत्र आदि तोडे जाते है, नोच लिये जाते हैं । इस प्रकार अनेकानेक प्रकार की यातनाएँ वनस्पतिकाय के जीवो को सहन करनी पडती हैं । वनस्पतिकाय के जीवो को वनस्पतिकाय मे ही वारवार जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल तक इस प्रकार की वेदनाएँ भोगनी पडती हैं । ये समस्त दु ख हिंसा मे रति रखने वाले—हिसा करके प्रसन्न होने वाले प्राणियो को भोगने पडते हैं ।

मनुष्यभव के दुःख

४२ —जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहिं वि णरगा उव्वट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति पायसो विकयविगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य बहिरा काणा कुंटा पंगुला विगला य मूका य मम्मणा य अंधयगा एगचक्खू विणिहयसंचिल्लया[1] वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थवज्झबाला कुलक्खण-उक्किण्णदेहा दुब्बल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया कुरूवा किविणा य हीणा हीणसत्ता णिच्चं सोक्खपरिवज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ इहं सावसेसकम्मा उव्वट्टिया समाणा ।

४२—जो अधन्य (हिसा का घोर पापकर्म करने वाले) जीव नरक से निकल कर किसी भाँति मनुष्य-पर्याय मे उत्पन्न होते है, किन्तु जिनके पापकर्म भोगने से शेष रह जाते हैं, वे भी प्राय· विकृत एव विकल—अपरिपूर्ण रूप-स्वरूप वाले, कुबडे, टेढे-मेढे शरीर वाले, वामन—बौने, बधिर -बहरे, काने, टोटे -टूटे हाथ वाले, पगुल—लँगडे, अगहीन, गू गे, मम्मण—अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, अधे, खराब एक नेत्र वाले, दोनो खराब आखो वाले या पिशाचग्रस्त, कुष्ठ आदि व्याधियो और ज्वर आदि रोगों मे अथवा मानसिक एव शारीरिक रोगो मे पीडित, अल्पायुष्क,

१ पाठान्तर—सपिसल्लया ।

शस्त्र से वध किए जाने योग्य, अज्ञान—मूढ, अशुभ लक्षणो से भरपूर शरीर वाले, दुर्बल, अप्रशस्त संहनन वाले, बेडौल अगोपागों वाले, खराब सस्थान—आकृति वाले, कुरूप, दीन, हीन, सत्त्वविहीन, सुख से सदा वचित रहने वाले और अशुभ दु खों के भाजन होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ऐसे प्राणियो की दुर्दशा का चित्रण किया गया है जो हिंसा के फलस्वरूप नरक मे उत्पन्न हुए थे और फिर नरक से किसी तरह कठिनाई से निकल कर सीधे मनुष्य-भव को प्राप्त हुए हैं अथवा पहले तिर्यंच गति की यातनाएँ भुगत कर फिर मानवभव को प्राप्त हुए हैं, किन्तु जिनके घोरतर पापकर्मों का अन्त नही हो पाया है। जिनको पापो का फल भोगना बाकी रह गया है। उस बाकी रहे पापकर्म का फल उन्हें मनुष्य योनि मे भोगना पड़ता है। उसी फल का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

ऐसे पापी प्राणी अधन्य होते हैं। उन्हें सर्वत्र निन्दा, अपमान, तिरस्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे कही और कभी आदर-सम्मान नही पाते। इसके अतिरिक्त उनका शरीर विकृत होता है, बेडौल होता है, अधे, काने, बहिरे, गू गे, चपडी आखो वाले, अस्पष्ट उच्चारण करने वाले होते हैं। उनका सहनन—अस्थिनिचय—कुत्सित होता है। सस्थान अर्थात् शरीर की आकृति भी निन्दित होती है। कुष्ठादि भीषण व्याधियो से और ज्वरादि रोगो से तथा मानसिक रोगो से पीडित रहते है। उनका जीवन ऐसा होता है मानो वे भूत-पिशाच से ग्रस्त हो। वे ज्ञानहीन, मूर्ख होते हैं। सत्त्वविहीन होते हैं और किसी न किसी शस्त्र से वध होने पर वे मरण-शरण होते हैं। जीवन मे उन्हे कभी और कही भी आदर-सन्मान नही मिलता, तिरस्कार, फटकार, दुत्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे सुखो के नही, दु खो के ही पात्र बनते है।

क्या नरक से निकले हुए सभी जीव मनुष्य-पर्याय पाकर पूर्वोक्त दुर्दशा के पात्र बनते है? इस प्रश्न का उत्तर मूल पाठ से ही मिल जाता है। मूल पाठ मे '**पायसो**' और '**सावसेसकम्मा**' ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि सभी जीवो की ऐसी दुर्दशा नही होती, वरन् प्राय अर्थात् अधिकाश जीव मनुष्यगति पाकर पूर्वोक्त दु खो के भागी होते है। अधिकाश जीव वे है जिनके पाप-कर्मों का फल-भोग पूरा नही हुआ है, अपितु कुछ शेष है।

जिन प्राणियो का फल-भोग परिपूर्ण हो जाता है, वे कुछ जीव नरक से सीधे निकल कर लोकपूज्य, आदरणीय, सन्माननीय एव यशस्वी भी होते हैं, यहाँ तक कि कोई-कोई अत्यन्त विशुद्धिप्राप्त जीव तीर्थंकर पद भी प्राप्त करता है।

उपसंहार

४३—एवं णरगं तिरिक्ख-जोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणंताइं दुक्खाइं पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो। इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुंचई ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु णाय-कुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसी य पाणवहस्स फलविवागं। एसो सो पाणवहो चंडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ णिग्घिणो णिसंसो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जाओ उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणणिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरण-वेमणसो। पढमं अहम्मदारं सम्मत्तं त्ति बेमि ॥१॥

४३—इस प्रकार (हिंसारूप) पापकर्म करने वाले प्राणी नरक और तिर्यंच योनि मे तथा कुमानुष-अवस्था मे भटकते हुए अनन्त दुःख प्राप्त करते हैं।

यह (पूर्वोक्त) प्राणवध (हिंसा) का फलविपाक है, जो इहलोक (मनुष्यभव) और परलोक (नारकादि भव) में भोगना पडता है। यह फलविपाक अल्प सुख किन्तु (भव-भवान्तर में) अत्यधिक दुःख वाला है। महान् भय का जनक है और अतीव गाढ कर्मरूपी रज से युक्त है। अत्यन्त दारुण है, अत्यन्त कठोर है और अत्यन्त असाता को उत्पन्न करने वाला है। हजारो वर्षों (सुदीर्घ काल) में इससे छुटकारा मिलता है। किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता। हिंसा का यह फलविपाक ज्ञातकुल-नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यह प्राणवध चण्ड, रौद्र, क्षुद्र और अनार्य जनो द्वारा आचरणीय है। यह घृणारहित, नृशस, महाभयो का कारण, भयानक, त्रासजनक और अन्यायरूप है, यह उद्वेगजनक, दूसरे के प्राणो की परवाह न करने वाला, धर्महीन, स्नेह-पिपासा से शून्य, करुणाहीन है। इसका अन्तिम परिणाम नरक मे गमन करना है, अर्थात् यह नरक-गति में जाने का कारण है। मोहरूपी महाभय को बढाने वाला और मरण के कारण उत्पन्न होने वाली दीनता का जनक है।

विवेचन—नरक से निकले तिर्यंचयोनियो मे उत्पन्न होकर पश्चात् मनुष्यभव में जन्मे अथवा सीधे मनुष्यभव मे आए घोर हिंसाकारी जीवो को विभिन्न पर्यायो मे दुःख भोगना पडता है, उसका वर्णन शास्त्रकार ने विस्तारपूर्वक किया है। उस फलविपाक का उपसहार प्रस्तुत पाठ मे किया गया है।

यह फलविपाक शास्त्रकार ने अपनी बुद्धि या कल्पना से प्ररूपित नही किया है किन्तु ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ देव श्रीमहावीर ने कहा है, यह उल्लेख करके प्रस्तुत प्ररूपणा की पूर्ण प्रामाणिकता भी प्रकट कर दी है।

मूल मे हिंसा के फलविपाक को अल्प सुख और बहुत दुःख का कारण कहा गया है, इसका तात्पर्य यह है कि हिंसक को हिंसा करते समय प्रसन्नता होती है। शिकारी शिकार करके, उसमे सफलता प्राप्त करके अर्थात् शशक, हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि के प्राण हरण करके प्रमोद का अनुभव करता है, यह हिंसाजन्य सुख है जो वास्तव मे घोर दुःख का कारण होने से सुखाभास ही है। सुख की यह क्षणिक अनुभूति जितनी तीव्र होती है, भविष्य में उतना ही अधिक और तीव्र दुःख का अनुभव करना पडता है।

प्राणवध के फलविपाक को चण्ड, रुद्र आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। इन शब्दो का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। (देखिए सूत्र संख्या २)

प्रथम अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर से सुना है, वैसा ही तुम्हारे समक्ष प्रतिपादन किया है, स्वमनीषिका से नही। □□

द्वितीय अध्ययन : मृषावाद

मृषावाद का स्वरूप

४४—जंबू[1] ! बिइयं अलियवयणं लहुसग-लहुचवल-भणियं भयंकरं दुहकर अयसकरं वेरकरगं अरइ-रइ-रागदोस-मणसंकिलेस-वियरणं अलियणियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकिण्हलेस्ससेविय दुग्गइविणिवायविवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचिय-मणुगयं दुरंतं कित्तियं बिइयं अहम्मदारं ।

४४—जम्बू ! दूसरा (आस्रवद्वार) अलीकवचन अर्थात् मिथ्याभाषण है। यह गुण-गौरव से रहित, हल्के, उतावले और चचल लोगो द्वारा बोला जाता है, (स्व एव पर के लिए) भय उत्पन्न करने वाला, दुःखोत्पादक, अपयशकारी एव वैर उत्पन्न करने वाला है। यह अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक सक्लेश को देने वाला है। शुभ फल से रहित है। धूर्त्तता एव अविश्वसनीय वचनो की प्रचुरता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशस, क्रूर अथवा निन्दित है। अप्रतीतिकारक है—विश्वसनीयता का विघातक है। उत्तम साधुजनो—सत्पुरुषो द्वारा निन्दित है। दूसरो को—जिनसे असत्यभाषण किया जाता है, उनको पीडा उत्पन्न करने वाला है। उत्कृष्ट कृष्णलेश्या से सहित है अर्थात् कृष्णलेश्या वाले लोग इसका प्रयोग करते हैं। यह दुर्गतियो मे निपात को बढाने वाला—वारवार दुर्गतियो में ले जाने वाला है। भव—पुनर्भव करने वाला अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है। यह चिरपरिचित है—अनादि काल से जीव इसके अभ्यासी हैं। निरन्तर साथ रहने वाला है और बडी कठिनाई से इसका अन्त होता है अथवा इसका परिणाम अतीव अनिष्ट होता है।

विवेचन—प्राणवध नामक प्रथम आस्रवद्वार के विवेचन के पश्चात् दूसरे आस्रवद्वार का विवेचन यहाँ से प्रारम्भ किया गया है। श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को लक्ष्य करके यह प्ररूपणा की है।

अलीक वचनो का स्वरूप समझाने के लिए उसे अनेकानेक विशेषणो से युक्त प्रकट किया गया है।

असत्य वचनो का प्रयोग ऐसे मनुष्य ही करते है जिनमे गुणो की गरिमा नही होती, जो क्षुद्र, हीन, तुच्छ या टुच्चे होते हैं। जो अपने वचनो का स्वय ही मूल्य नही जानते, जो उतावल मे सोचे-समझे विना ही बोलते हैं और जिनकी प्रकृति मे चचलता होती है। इस प्रकार विचार किए विना चचलतापूर्वक जो वचन बोले जाते है, वे स्व-पर के लिए भयकर सिद्ध होते है। उनके फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख भोगने पडते हैं। अतएव साधुजन—सत्पुरुष असत्य का कदापि सेवन नही करते। वे सुविचारित सत्य तथ्य का ही प्रयोग करते हैं और वह भी ऐसा कि जिससे किसी को पीडा न हो, क्योंकि पीडाजनक वचन तथ्य होकर भी सत्य नही कहलाता।

---

१. "इह खलु जंबू"—पाठ भी कुछ प्रतियो मे है।

असत्यभाषी को इस भव मे निन्दा और तिरस्कार का पात्र बनना पड़ता है। असत्यभाषण करके जिन्हे धोखा दिया जाता अथवा हानि पहुँचाई जाती है, उनके साथ वैर बँध जाता है और कभी-कभी उस वैर की परम्परा अनेकानेक भवो तक चलती रहती है। असत्यभाषी के अन्तर में यदि स्वल्प भी उज्ज्वलता का अश होता है तो उसके मन मे भी सक्लेश उत्पन्न होता है। जिसे ठगा जाता है उसके मन में तो सक्लेश होता ही है।

असत्यभाषी को अपनी प्रामाणिकता प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार के जाल रचने पड़ते है, धूर्तता कपट का आश्रय लेना पड़ता है। यह क्रूरता से परिपूर्ण है। नीच लोग ही असत्य का आचरण करते हैं। साधुजनो द्वारा निन्दनीय है। परपीडाकारी है। कृष्णलेश्या से समन्वित है।

असत्य दुर्गति मे ले जाता है और ससार-परिभ्रमण की वृद्धि करने वाला है।

असत्यभाषी अपने असत्य को छिपाने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यो न करे, अन्त मे प्रकट हो जाता है। जब प्रकट हो जाता है तो असत्यभाषी की सच्ची बात पर भी कोई विश्वास नही करता। वह अप्रतीति का पात्र बन जाता है।

'परपीलाकारगं' कह कर शास्त्रकार ने असत्य एक प्रकार की हिसा का ही रूप है, यह प्रदर्शित किया है।

मृषावाद के नामान्तर

४५—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं। तं जहा—

१ अलियं २ सढं ३ अणज्जं ४ मायामोसो ५ असंतगं ६ कूडकवडमवत्थुगं च ७ णिरत्थयमवत्थयं च ८ विद्देसगरहणिज्जं ९ अणुज्जुगं १० कक्कणा य ११ वंचणा य १२ मिच्छापच्छाकडं च १३ साई उ १४ उच्छण्णं १५ उक्कूलं च १६ अट्टं १७ अब्भक्खाणं च १८ किब्बिसं १९ वलयं २० गहणं च २१ मम्मणं च २२ णूमं २३ णियई २४ अपच्चओ २५ असमओ २६ असच्चसंधत्तणं २७ विवक्खो २८ अवहीयं २९ उवहिअसुद्धं ३० अवलोवोत्ति।

अवि य तस्स एयाणि एवमाइयाणि णामधेज्जाणि होंति तीसं, सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं।

४५—उस असत्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम है। वे इस प्रकार है—

१ अलीक २ शठ ३ अन्याय्य (अनार्य) ४ माया-मृषा ५ असत्क ६. कूटकपटअवस्तुक ७ निरर्थकअपार्थक ८. विद्वेष-गर्हणीय ९ अनृजुक १० कल्कना ११. वञ्चना १२. मिथ्यापश्चात्कृत १३. साति १४ उच्छन्न १५ उत्कूल १६ आर्त्त १७ अभ्याख्यान १८. किल्विष १९. वलय २०. गहन २१ मन्मन २२ नूम २३ निकृति २४ अप्रत्यय २५ असमय २६. असत्यसधत्व २७ विपक्ष २८ अपधीक २९. उपधि-अशुद्ध ३० अपलोप।

सावद्य (पापयुक्त) अलीक वचनयोग के उल्लिखित तीस नामों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नाम हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में असत्य के तीस सार्थक नामो का उल्लेख किया गया है। अन्त में

यह निर्देश भी कर दिया गया है कि अलोक के इन तीस नामो के अतिरिक्त भी अन्य अनेक नाम है।

असत्य के तीस नामों का उल्लेख करके सूत्रकार ने असत्य के विविध प्रकारो को सूचित किया है, अर्थात् किस-किस प्रकार के वचन असत्य के अन्तर्गत हैं, यह प्रकट किया है। उल्लिखित नामो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) अलीक—झूठ, मिथ्यावचन।
(२) शठ—धूर्त्त, मायावी जनो द्वारा आचरित।
(३) अनार्य (अन्याय्य)—अनार्य पुरुषो का वचन होने से अनार्य है अथवा अन्याययुक्त है।
(४) माया-मृषा—माया रूप कषाय से युक्त और मृषा होने से इसे माया-मृषा कहा है।
(५) असत्क—असत् पदार्थ को कहने वाला।
(६) कूट-कपट-अवस्तुक—दूसरो को ठगने से कूट, भाषा का विपर्यास होने से कपट, तथ्य-वस्तुशून्य होने से अवस्तुक है।
(७) निरर्थक-अपार्थक—प्रयोजनहीन होने के कारण निष्प्रयोजन और सत्यहीन होने से अपार्थक है।
(८) विद्वेषगर्हणीय—विद्वेष और निन्दा का कारण
(९) अनृजुक—कुटिलता-सरलता का अभाव, वक्रता से युक्त।
(१०) कल्कना—मायाचारमय।
(११) वञ्चना—दूसरों को ठगने का कारण।
(१२) मिथ्यापश्चात्कृत—न्यायी पुरुष झूठा समझ कर पीछे कर देते हैं, अत मिथ्यापश्चात्कृत है।
(१३) साति—अविश्वास का कारण।
(१४) उच्छन्न—स्वकीय दोषो और परकीय गुणो का आच्छादक। इसे 'अपच्छन्न' भी कहते है।
(१५) उत्कूल—सन्मार्ग की मर्यादा से अथवा न्याय रूपी नदी के तट से गिराने वाला।
(१६) आर्त्त—पाप से पीडित जनो का वचन।
(१७) अभ्याख्यान—दूसरे मे अविद्यमान दोषो को कहने वाला।
(१८) किल्विष—पाप या पाप का जनक।
(१९) वलय—गोलमोल—टेढा-मेढा, चक्करदार वचन।
(२०) गहन—जिसे समझना कठिन हो, जिस वचन से असलियत का पता न चले।
(२१) मन्मन—स्पष्ट न होने के कारण, अस्पष्ट वचन।
(२२) नूम—सचाई को ढँकने वाला।
(२३) निकृति—किए हुए मायाचार को छिपाने वाला वचन।
(२४) अप्रत्यय—विश्वास का कारण न होने से या अविश्वासजनक होने से अप्रत्यय है।
(२५) असमय—सम्यक् आचार से रहित।
(२६) असत्यसन्धता—झूठी प्रतिज्ञाओ का कारण।
(२७) विपक्ष—सत्य और धर्म का विरोधी।
(२८) अपधीक—निन्दित मति से उत्पन्न।
(२९) उपधि-अशुद्ध—मायाचार से अशुद्ध।
(३०) अवलोप—वस्तु के वास्तविक स्वरूप का लोपक।

विवेचन—इन तीस नामो से असत्य के विविध रूपो का एव उसकी व्यापकता का पता चलता है ।

मृषावादी

४६—तं च पुण वयंति केई अलियं पावा असंजया अविरिया कवडकुडिलकडुयचडुलभावा कुद्धा लुद्धा भया य हस्सट्ठिया य सक्खी चोरा चारभडा खंडरक्खा जियजुयकरा य गहियगहणा कक्ककुरुग-कारगा, कुलिंगी उवहिया वाणियगा य कूडतुलकूडमाणी कूडकाहावणोवजीविया पडगारका, कलाया, कारुइज्जा वंचणपरा चारियचाडुयार-णगरगुत्तिय-परिचारगा दुट्ठवाइसूयगअणबलभणिया य पुव्व-कालियवयणदच्छा साहसिया लहुस्सगा असच्चा गारविया असच्चट्ठावणाहिचित्ता उच्चच्छंदा अणिग्गहा अणियत्ता छंदेणमुक्कवाया भवंति अलियाहिं जे अविरया ।

४६—यह असत्य कितनेक पापी, असयत—संयमहीन, अविरत—सर्वविरति और देशविरति से रहित, कपट के कारण कुटिल, कटुक और चचल चित्त वाले, क्रुद्ध—क्रोध से अभिभूत, लुब्ध—लोभ के वशीभूत, स्वय भयभीत और अन्य को भय उत्पन्न करने वाले, हँसी-मजाक करने वाले, झूठी गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर—जासूस, खण्डरक्ष—राजकर लेने वाले—चु गी वसूल करने वाले, जूआ में हारे हुए—जुआरी, गिरवी रखने वाले—गिरवी के माल को हजम करने वाले, कपट से किसी बात को बढा-चढा कर कहने वाले, मिथ्या मत वाले कुलिंगी—वेषधारी, छल करने वाले, बनिया—वणिक्, खोटा नापने-तोलने वाले, नकली सिक्को से आजीविका चलाने वाले, जुलाहे, सुनार—स्वर्णकार, कारीगर, दूसरो को ठगने वाले, दलाल, चाटुकार – खुशामदी, नगररक्षक, मैथुन-सेवी—स्त्रियों को बहकाने वाले, खोटा पक्ष लेने वाले, चुगलखोर, उत्तमर्ण—साहूकार के ऋण सबधी तकाजे से दबे हुए अधमर्ण— कर्जदार, किसी के बोलने से पूर्व ही उसके अभिप्राय को ताड लेने वाले साहसिक—सोच-विचार किए विना ही प्रवृत्ति करने वाले, निस्सत्त्व—अधम, हीन, सत्पुरुषो का अहित करने वाले—दुष्ट जन अहकारी, असत्य की स्थापना मे चित्त को लगाए रखने वाले, अपने को उत्कृष्ट बताने वाले, निरकुश, नियमहीन और विना विचारे यद्धा-तद्धा बोलने वाले लोग, जो असत्य से विरत नही है, वे (असत्य) बोलते है ।

विवेचन—मूल पाठ अपने आप में ही स्पष्ट है । इस पर अधिक विवेचन को आवश्यकता नही है ।

असत्यभाषी जनो का यहाँ उल्लेख किया गया है । असत्यभाषण वही करते हैं जो सयत और विरत नही होते । जिनका जीवन सयमशील है और जो पापो से विरत है, असत्य उनके निकट भी नही फटकता ।

असत्य के मूलत· चार कारण हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य । क्रोध से अभिभूत मानव विवेक-विचार से विहीन हो जाता है । उसमे एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न हो जाता है । तब वह सत्य-असत्य के भान से रहित होकर कुछ भी बोल जाता है । लोभ से ग्रस्त मनुष्य असत्य का सेवन करने से परहेज नही करता । लोभ से अधा आदमी असत्य सेवन को अपने साध्य की सिद्धि का अचूक साधन मानता है । भय से पीड़ित लोग भी असत्य का आश्रय लेकर अपने दुष्कर्म के दड से बचने का प्रत्यत्न करते है । उन्हे यह समझ नही होती कि कृत दुष्कर्म पर पर्दा डालने के लिए

असत्य का सहारा लेने से दुष्कर्म गुरुतर बन जाता है। हँसी-मजाक मे असत्य का प्रयोग साधारण समझा जाता है। कहना चाहिए कि असत्य हास्य-विनोद का मूलाधार है। किन्तु विवेकी पुरुष ऐसे हँसी-मजाक से बचते है, जिसके लिए असत्य का आश्रय लेना पडे।

झूठी साक्षी स्पष्ट असत्य है। किन्तु आज-कल के न्यायालयो मे यह बहुप्रचलित है। कतिपय लोगो ने इसे धधा बना लिया है। कुछ रुपये देकर उनसे न्यायालयो मे चाहे जो कहलवाया जा सकता है। ऐसे लोगो को भविष्य के दुष्परिणामो का ध्यान नही होता कि असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कहने से आगे कैसी दुर्दशा भोगनी पडेगी।

चोरी करने वाले, जुआ खेलने वाले, व्यभिचारी, स्त्रियो को बहका कर उडा ले जाने वाले और चकला चलाने वाले लोग असत्य का सेवन किए बिना रह ही नही सकते।

मिथ्या मतो को मानने वाले और त्यागियो के नाना प्रकार के वेष धारण करने वाले भी असत्यभाषी है। इनके विषय मे आगे विस्तार से प्रतिपादन किया जाएगा।

कर्जदार को भी असत्य भाषण करना पडता है। जब उत्तमर्ण या साहूकार ऋण वसूलने के लिए तकाजे करता है और कर्जदार चुकाने की स्थिति मे नही होता तो, एक सप्ताह मे दूँगा, एक मास मे चुका दूँगा, इत्यादि झूठे वायदे करता है। अतएव सद्गृहस्थ को इस असत्य से बचने के लिए ऋण न लेना ही सर्वोत्तम है। अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके आय को देखते हुए ही व्यय करना चाहिए। कदाचित् किसी से कभी उधार लेना ही पडे तो उतनी ही मात्रा मे लेना चाहिए, जिसे सरलता पूर्वक चुकाना असभव न हो और जिस के कारण असत्य न बोलना पडे—अप्रतिष्ठा न हो।

जुलाहे, सुनार, कारीगर, वणिक् आदि धधा करने वाले सभी असत्यभाषी होते है, ऐसा नही है। शास्त्रकार ने मूल मे 'केई' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है।

इसी प्रकार मूल पाठ में उल्लिखित अन्य विशेषणो के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि असत्य के पाप से बचने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए।

मृषावादी—नास्तिकवादी का मत

४७—अवरे नत्थिगवाइणो वामलोयवाई भणंति—सुण्ण[1] ति, णित्थ जीवो, ण जाइ इह परे वा लोए, ण य किंचिवि फुसइ पुण्णपावं, णत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं, पंचमहाभूइय सरीरं भासंति, हे वायजोगजुत्तं। पंच य खंधे भणंति केइ, मणं य मणजीविया वदंति, वाउजीवोत्ति एवमाहंसु, सरीरं साइयं सणिधणं, इहे भवे एगभवे तस्स विप्पणासम्मि सव्वणासोत्ति, एवं जंपंति मुसावाई। तम्हा दाण-वय-पोसहाणं तव-संजम-बंभचेर-कल्लाणमाइयाणं णत्थि फलं, ण वि य पाणवहे अलियवयणं ण चेव चोरिक्ककरणं परदारसेवणं वा सपरिग्गह-पावकम्मकरणं वि णत्थि किंचि ण णेरइय-तिरिय-मणुयाण जोणी, ण देवलोगो वा अत्थि, ण य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापियरो णत्थि, ण वि अत्थि, पुरिसकारो,

१ आगमोदयसमिति, आचार्य हस्तीमलजी म वाले और सैलाना वाले सस्करण मे 'सुण्ण ति' पाठ नही है, किन्तु अभयदेवीय टीका मे इसकी व्याख्या की गई है। अत यह पाठ सगत है। सन्मति ज्ञानपीठ आगरा वाले सस्करण मे इसे स्वीकार किया है। —सम्पादक

पच्चक्खाणमवि णत्थि, ण वि अत्थि कालमच्चू य, अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा णत्थि, णेवत्थि केइ रिसओ धम्माधम्मफलं च णवि अत्थि किंचि बहुयं च थोवगं वा, तम्हा एवं विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकूलेसु सव्वविसएसु वट्टह, णत्थि काइ किरिया वा अकिरिया वा एवं भणंति णत्थिगवाइणो वामलोयवाई ।

४७—दूसरे, नास्तिकवादी, जो जोक में विद्यमान वस्तुओ को भी अवास्तविक कहने के कारण—लोकविरुद्ध मान्यता के कारण 'वामलोकवादी' हैं, उनका कथन इस प्रकार है – यह जगत् शून्य (सर्वथा असत्) है, क्योकि जीव का अस्तित्व नही है। वह मनुष्यभव मे या देवादि-परभव मे नही जाता। वह पुण्य-पाप का किंचित् भी स्पर्श नही करता। सुकृत-पुण्य या दुष्कृत-पाप का (सुख-दु:ख रूप) फल भी नही है। यह शरीर पाँच भूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से बना हुआ है। वायु के निमित्त से वह सब क्रियाएँ करता है। कुछ लोग कहते हैं—श्वासोच्छ्वास की हवा ही जीव है।

कोई (बौद्ध) पाँच स्कन्धो (रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार) का कथन करते है। कोई-कोई मन को ही जीव (आत्मा) मानते है। कोई वायु को ही जीव के रूप मे स्वीकार करते हैं। किन्ही-किन्ही का मन्तव्य है कि शरीर सादि और सान्त है—शरीर का उत्पाद और विनाश हो जाता है। यह भव ही एक मात्र भव ह। इस भव का समूल नाश होने पर सर्वनाश हो जाता है अर्थात् आत्मा जैसी कोई वस्तु शेष नही रहती। मृषावादी ऐसा कहते हैं। इस कारण दान देना, व्रतो का आचरण करना, पोषध की आराधना करना, तपस्या करना, सयम का आचरण करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कल्याणकारी अनुष्ठानो का (कुछ भी) फल नही होता। प्राणवध और असत्यभाषण भी (अशुभ फलदायक) नही हैं। चोरी और परस्त्रीसेवन भी कोई पाप नही है। परिग्रह और अन्य पापकर्म भी निष्फल हैं अर्थात् उनका भी कोई अशुभ फल नही होता। नारको, तिर्यंचो और मनुष्यो की योनियाँ नही है। देवलोक भी नही है। मोक्ष-गमन या मुक्ति भी नही है। माता-पिता भी नही है। पुरुषार्थ भी नही है अर्थात् पुरुषार्थ कार्य की सिद्धि मे कारण नही है। प्रत्याख्यानत्याग भी नही है। भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल नही है और न मृत्यु है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव भी कोई नही होते। न कोई ऋषि है, न कोई मुनि है। धर्म और अधर्म का थोडा या बहुत—किंचित् भी फल नही होता। इसलिए ऐसा जानकर इन्द्रियो के अनुकूल (रुचिकर) सभी विषयो मे प्रवृत्ति करो -किसी प्रकार के भोग-विलास से परहेज मत करो। न कोई शुभ क्रिया है और न कोई अशुभ क्रिया है। इस प्रकार लोक-विपरीत मान्यता वाले नास्तिक विचारधारा का अनुसरण करते हुए इस प्रकार का कथन करते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे नास्तिकवादियो की मान्यताओ का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे पूर्व के सूत्र मे विविध प्रकार के लौकिक जनो का, जो व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए, आजीविका, व्यापार-धधा, परिवार-पालन आदि के लिए असत्यभाषण करते हैं, उनका कथन किया गया था। इस सूत्र मे नास्तिकदर्शन का मन्तव्य उल्लिखित किया गया है। एक व्यक्ति किसी कारण जब असत्यभाषण करता है तब वह प्रधानत अपना ही अहित करता है। किन्तु जब कोई दार्शनिक असत्य पक्ष की स्थापना करता है, असत्य को आगम में स्थान देता है, तब वह असत्य विराट् रूप धारण कर लेता है। वह मृषावाद दीर्घकाल पर्यन्त प्रचलित रहता है और असख्य-असख्य लोगो को प्रभावित करता

है। वह न जाने कितने लोगो को, कितने काल तक मिथ्या धारणाओ का शिकार बनाता रहता है। ऐसी धारणाएँ व्यक्तिगत जीवन को कलुषित करती हैं और साथ ही सामाजिक जीवन को भी निरंकुश, स्वेच्छाचारी बना कर विनष्ट कर देती हैं। अतएव वैयक्तिक असत्य की अपेक्षा दार्शनिक असत्य हजारों-लाखों गुणा अनर्थकारी है। यहाँ दार्शनिक असत्य के ही कतिपय रूपों का उल्लेख किया गया है।

शून्यवाद—सर्वप्रथम शून्यवादी के मत का उल्लेख किया गया है। बौद्धदर्शन अनेक सम्प्रदायों मे विभक्त है। उनमे से एक सम्प्रदाय माध्यमिक है। यह शून्यवादी है। इसके अभिमतानुसार किसी भी वस्तु की सत्ता नही है। जैसे स्वप्न में अनेकानेक दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु जागृत होने पर या वास्तव मे उनकी कही भी सत्ता नही होती। इसी प्रकार प्राणी भ्रम के वशीभूत होकर नाना पदार्थों का अस्तित्व समझता है, किन्तु भ्रमभग होने पर वह सभी कुछ शून्य मानता है।

यहाँ विचारणीय यह है कि यदि समग्र विश्व शून्य रूप है तो शून्यवादी स्वय भी शून्य है या नही ? शून्यवादी यदि शून्य है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह निकला कि शून्यवादी कोई है ही नही। इसी प्रकार उसके द्वारा प्ररूपित शून्यवाद यदि सत् है तो शून्यवाद समाप्त हो गया और शून्यवाद असत् है तो भी उसकी समाप्ति ही समझिए। इस प्रकार शून्यवाद युक्ति से विपरीत तो है ही, प्रत्यक्ष अनुभव से भी विपरीत है। पानी पीने वाले की प्यास बुझ जाती है, वह अनुभव सिद्ध है। किन्तु शून्यवादी कहता है—पानी नही, पीने वाला भी नही, पीने की क्रिया भी नही और प्यास की उपशान्ति भी नही ! सब कुछ शून्य है।

शून्यवाद के पश्चात् अनात्मवादी नास्तिको के मत का उल्लेख किया गया है। इनके कतिपय मन्तव्यो का भी मूलपाठ में दिग्दर्शन कराया गया है। अनात्मवादियो की मान्यता है कि जीव अर्थात् आत्मा की स्वतन्त्र एवं त्रैकालिक सत्ता नही है। जो कुछ भी है वह पांच भूत ही हैं। पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश, ये पाँच भूत हैं। इनके सयोग से शरीर का निर्माण होता है। इन्ही से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। प्राणवायु के कारण शरीर मे हलन-चलन-स्पन्दन आदि क्रियाएँ होती हैं। चैतन्य शरीराकार परिणत भूतो से उत्पन्न होकर उन्ही के साथ नष्ट हो जाता है। जैसे जल का बुलबुला जल से उत्पन्न होकर जल मे ही विलीन हो जाता है, उसका पृथक् अस्तित्व नही है, उसी प्रकार चैतन्य का भी पच भूतो मे अलग अस्तित्व नही है। अथवा जैसे धातकी पुष्प, गुड, आटा आदि के संयोग से उनमे मादकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पच भूतो के मिलने से चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है।

जब आत्मा की ही पृथक् सत्ता नही है तो परलोक के होने की बात ही निराधार है। अतएव न जीव मर कर फिर जन्म लेता है, न पुण्य और पाप का अस्तित्व है। सुकृत और दुष्कृत का कोई फल किसी को नही भोगना पडता।

नास्तिको की यह मान्यता अनुभवप्रमाण से बाधित है, साथ ही अनुमान और आगम प्रमाणो से भी बाधित है।

यह निर्विवाद है कि कारण में जो गुण विद्यमान होते हैं, वही गुण कार्य में आते हैं। ऐसा कदापि नही होता कि जो गुण कारण में नही हैं, वे अकस्मात् कार्य में उत्पन्न हो जाएँ। यही कारण है कि मिष्ठान्न तैयार करने के लिए गुड, शक्कर आदि मिष्ट पदार्थों का उपयोग किया जाता है

और काला वस्त्र तैयार करने के लिए काले ततुओ को काम में लाया जाता है। यदि कारण में अविद्यमान गुण भी कार्य में आने लगें तो बालू को पीलने से भी तेल निकलने लगे। किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु बन जाए ! किन्तु ऐसा होता नही। बालू से तेल निकलता नही। गुड़-शक्कर के बदले राख या धूल से मिठाई बनती नही।

इस निर्विवाद सिद्धान्त के आधार पर पाच भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति की मान्यता पर विचार किया जाए तो यह मान्यता कपोल-कल्पित ही सिद्ध होती है। नास्तिको से पूछना चाहिए कि जिन पाच भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति कही जाती है, उनमे पहले से चैतन्यशक्ति विद्यमान है अथवा नही ? यदि विद्यमान नही है तो उनसे चैतन्यशक्ति उत्पन्न नही हो सकती, क्योंकि जो धर्म कारण मे नही होता, वह कार्य मे भी नही हो सकता। यदि भूतो मे चेतना विद्यमान है तो फिर चेतना से ही चेतना की उत्पत्ति कहनी चाहिए, भूतो से नही।

मदिरा मे जो मादकशक्ति है, वह उसके कारणो मे पहले से ही विद्यमान रहती है, अपूर्व उत्पन्न नही होती।

इसके अतिरिक्त चेतनाशक्ति के कारण यदि भूत ही हैं तो मृतक शरीर मे ये सभी विद्यमान होने से उसमे चेतना क्यो नही उत्पन्न हो जाती ? कहा जा सकता है कि मृतक शरीर मे रोग—दोष होने के कारण चेतना उत्पन्न नही होती, तो यह कथन भी प्रामाणिक नही है, क्योकि आयुर्वेद का विधान है—

मृतस्य समीभवन्ति रोगाः।

अर्थात् मृत्यु हो जाने पर सब– वात, पित्त, कफ—दोष सम हो जाते है नीरोग अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

अनात्मवादी कहते हैं—आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नही है। इन्द्रियो से उसका परिज्ञान नही होता, अतएव मन मे भी वह नही जाना जा सकना, क्योकि इन्द्रियों द्वारा जाने हुए पदार्थ को ही मन जान सकता है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जैसी कोई वस्तु है ही नही। इस प्रकार किसी भी रूप मे आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से वह अनुमान के द्वारा भी नही जाना जा सकता। आगम परस्पर विरोधी प्ररूपणा करते हैं, अतएव वे स्वय अप्रमाण है तो आत्मा के अस्तित्व को कैसे प्रमाणित कर सकते है ?

यह कथन तर्क और अनुभव से असगत है। सर्वप्रथम तो 'मै हूँ, मैं सुखी हूँ, मै दुखी हूँ' इस प्रकार जो अनुभूति होती है, उसी से आत्मा की सिद्धि हो जाती है। घट, पट आदि चेतनाहीन पदार्थों को ऐसी प्रतीति नही होती। अतएव 'मैं' की अनुभूति से उस का कोई विषय सिद्ध होता है और जो 'मैं' शब्द का विषय (वाच्य) है, वही आत्मा कहलाता है।

गुण का प्रत्यक्ष हो तो वही गुणी का प्रत्यक्ष माना जाता है। घट के रूप और आकृति को देखकर ही लोग घट को देखना मानते हैं। अनन्त गुणो का समुदाय रूप समग्र पदार्थ कभी किसी ससार के प्राणी के ज्ञान मे प्रतिभासित नही होता। इस नियम के अनुसार चेतना जीव का गुण होने से और उसका अनुभव-प्रत्यक्ष होने से जीव का भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए।

अनुमान और आगम प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक ही माता-पिता

के एक समान वातावरण मे पलने वाले दो पुत्रों में धरती-आकाश जैसी जो विषमता दृष्टिगोचर होती है, वह किसी अदृष्ट कारण से ही होती है। वह अदृष्ट कारण पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही हो सकता है और पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म का फल आत्मा का पूर्व जन्म मे अस्तित्व माने विना नही सिद्ध हो सकता।

बालक को जन्मते ही स्तनपान करने की अभिलाषा होती है और स्तन का अग्रभाग मुख मे जाते ही वह दूध को चूसने लगता है। उसे स्तन को चूसना किसने सिखलाया है? माता बालक के मुख मे स्तन लगा देती है, परन्तु उसे चूसने की क्रिया तो बालक स्वय ही करता है। यह किस प्रकार होता है? स्पष्ट है कि पूर्व जन्मो के सस्कारो की प्रेरणा से ही ऐसा होता है। क्या इससे आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि नही होती?

'एगे आया' इत्यादि आगम वाक्यो से भी आत्मा की त्रैकालिक सत्ता प्रमाणित है।

विस्तार से आत्मसिद्धि के जिज्ञासु जनो को दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

आत्मा की सिद्धि हो जाने पर परलोक-पुनर्जन्म, पाप-पुण्य, पाप-पुण्य का फल, विविध योनियों में जन्म लेना आदि भी सिद्ध हो जाता है।

पूर्वजन्म की स्मृति की घटनाएँ आज भी अनेकानेक घटित होती रहती हैं। ये घटनाएँ आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को अभ्रान्त रूप से सिद्ध करती हैं।

पंचस्कन्धवाद—बौद्धमत मे पाँच स्कन्ध माने गए है—(१) रूप (२) वेदना (३) विज्ञान (४) सज्ञा और (५) सस्कार।

१--**रूप**—पृथ्वी, जल आदि तथा इनके रूप, रस आदि।

२—**वेदना**—सुख, दु ख आदि का अनुभव।

३—**विज्ञान**—विशिष्ट ज्ञान अर्थात् रूप, रस, घट, पट आदि का ज्ञान।

४—**संज्ञा**—प्रतीत होने वाले पदार्थों का अभिधान—नाम।

५—**संस्कार**—पुण्य-पाप आदि धर्मसमुदाय।

बौद्धदर्शन के अनुसार समस्त जगत् इन पाँच स्कन्धो का ही प्रपच है। इनके अतिरिक्त आत्मा का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व नही है। यह पाचो स्कन्ध क्षणिक है।

बौद्धो मे चार परम्पराएँ हैं—(१) वैभाषिक (२) सौत्रान्तिक (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। वैभाषिक सभी पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु सभी को क्षणिक मानते हैं। क्षण-क्षण में आत्मा का विनाश होता रहता है, परन्तु उसकी सन्तति—सन्तानपरम्परा निरन्तर चालू रहती है। उस सन्तानपरम्परा का सर्वथा उच्छेद हो जाना—बद हो जाना ही मोक्ष है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार जगत् के पदार्थों का प्रत्यक्ष नही होता। उन्हे अनुमान द्वारा ही जाना जाता है। योगाचार पदार्थों को असत् मानकर सिर्फ ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और वह ज्ञान क्षणिक है। माध्यमिक सम्प्रदाय इन सभी से आगे बढ़ कर ज्ञान की सत्ता नही, मानता। वह शून्यवादी है। न ज्ञान है और न ज्ञेय है। शून्यवाद के अनुसार वस्तु सत् नही, असत् भी नही, सत्-असत् भी नही और सत्-असत् नही ऐसा भी नही। तत्त्व इन चारो कोटियो से विनिर्मुक्त है।

इन सब भ्रान्त मान्यताओ का प्रतीकार विस्तारभय से यहाँ नही किया जा रहा है। दर्शन-शास्त्र मे विस्तार से इनका खण्डन किया गया है।

वायु-जीववाद—कुछ लोग वायु को—प्राणवायु को ही जीव स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि जब तक श्वासोच्छ्वास चालू रहता है तब तक जीवन है और श्वासोच्छ्वास का अन्त हो जाना ही जीवन का अन्त हो जाना है। उसके पश्चात् परलोक मे जाने वाला कोई जीव—आत्मा शेष नही रहता।

किन्तु विचारणीय है कि वायु जड़ है और जीव चेतन है। वायु में स्पर्श आदि जड़ के धर्म स्पष्ट प्रतीत होते हैं, जबकि जीव स्पर्श आदि से रहित है। ऐसी स्थिति में वायु को ही जीव कैसे माना जा सकता है?

आत्मा की सत्ता या नित्य सत्ता न मानने के फलस्वरूप स्वत: ही इस प्रकार की धारणाएँ पनपती है कि परभव नही है। शरीर का विनाश होने पर सर्वनाश हो जाता है। अतएव दान, व्रत, पोषध, तप, सयम, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण निष्फल है। इनके करने का कुछ भी शुभ फल नही होता। साथ ही हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि कुकृत्यो का भी कोई दुष्फल नही होता। इसी कारण यह विधान कर दिया गया है कि—

यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत:॥

अर्थात्— जब तक जीओ, सुख से—मस्त होकर जीओ। सुखपूर्वक जीवनयापन करने के लिए पैसा न हो तो ऋण लेकर घी पीओ—खाओ-पीओ। यह शरीर यही भस्मीभूत—राख हो जाता है। इसका फिर आगमन कहाँ है!

नरक है, स्वर्ग है, मोक्ष है, इत्यादि मान्यताएँ कल्पनामात्र है। अतएव इन्द्रियो के विषयो का सेवन करने में सकोच मत करो—मौज करो, मस्त रहो। धर्म-अधर्म का विचार त्याग दो। वे कहते भी हैं—

पिब खाद च चारुलोचने! यदतीत वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरु! गत निवर्त्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम्॥

अर्थात्—अरी सुलोचने! मजे से मन चाहा खाओ, (मदिरा आदि) सभी कुछ पीओ। हे सुन्दरी! जो बीत गया सो सदा के लिए गया, वह अब हाथ आने वाला नही। हे भीरु! (स्वर्ग-नरक की चिन्ता मत करो) यह कलेवर तो पाच भूतो का पिण्ड ही है। इन भूतो के बिखर जाने पर आत्मा या जीव जैसी कोई वस्तु शेष नही रहती।

इस प्रकार आत्मा का सनातन अस्तित्व स्वीकार न करने से जो विचारधारा उत्पन्न होती है, वह कितनी भयावह है! आत्मा को घोर पतन की ओर ले जाने वाली तो है ही, सामाजिक सदाचार, नैतिकता, प्रामाणिकता और शिष्टाचार के लिए भी चुनौती है! यदि ससार के सभी मनुष्य इस नास्तिकवाद को मान्य कर ले तो क्षण भर भी ससार मे शान्ति न रहे। सर्वत्र हाहाकार मच जाए। बलवान् निर्बल को निगल जाए। सामाजिक मर्यादाएँ ध्वस्त हो जाएँ। यह भूतल ही नरक बन जाए।

असद्भाववादी का मत

४८—इमं पि बितियं कुदंसणं असब्भाववाइणो पण्णवेंति मूढा—संभूओ अंडगाओ लोगो।
सयंभुणा सयं य णिम्मिओ।
एवं एयं अलियं पयंपंति।

४८—(वामलोकवादी नास्तिकों के अतिरिक्त) कोई-कोई असद्भाववादी—मिथ्यावादी मूढ जन दूसरा कुदर्शन—मिथ्यामत इस प्रकार कहते है—

यह लोक अडे से उद्भूत—प्रकट हुआ है ।
इस लोक का निर्माण स्वय स्वयभू ने किया है ।
इस प्रकार वे मिथ्या कथन करते हैं ।

विवेचन—उल्लिखित मूल पाठ मे सृष्टि की उत्पत्ति मान कर उसकी उत्पत्ति की विधि किस प्रकार मान्य की गई है, इस सम्बन्ध में अनेकानेक मतो मे से दो मतो का उल्लेख किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह वाद—कथन वास्तविक नही है। अज्ञानी जन इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं ।

किसी-किसी का अभिमत है कि यह समग्र जगत् अडे से उत्पन्न या उद्भूत हुआ है और स्वयभू ने इसका निर्माण किया है ।

अडसृष्टि के मुख्य दो प्रकार हैं—एक प्रकार छान्दोग्योपनिषद् मे बतलाया गया है और दूसरा प्रकार मनुस्मृति में दिखलाया गया है ।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सृष्टि से पहले प्रलयकाल मे यह जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त था । फिर वह सत् अर्थात् नाम रूप कार्य की ओर अभिमुख हुआ । तत्पश्चात् यह अकुरित बीज के समान कुछ-कुछ स्थूल बना । आगे चलकर वह जगत् अडे के रूप मे बन गया । एक वर्ष तक वह अण्डे के रूप मे बना रहा । एक वर्ष बाद अडा फूटा । अडे के कपालो (टुकडो) मे से एक चादी का और दूसरा सोने का बना । जो टुकडा चादी का था उससे यह पृथ्वी बनी और सोने के टुकडे से ऊर्ध्वलोक स्वर्ग बना । गर्भ का जो जरायु (वेष्टन) था उससे पर्वत बने और जो सूक्ष्म वेष्टन था वह मेघ और तुषार रूप मे परिणत हो गया । उसकी धमनियाँ नदियाँ बन गई । जो मूत्राशय का जल था वह समुद्र बन गया । अडे के अन्दर से जो गर्भ रूप मे उत्पन्न हुआ वह आदित्य बना ।[1]

यह स्वतन्त्र अडे से बनी सृष्टि है । दूसरे प्रकार की अडसृष्टि का वर्णन मनुस्मृति मे पाया जाता है वह इस प्रकार है[2]—

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ३, १९

२. आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत ॥
तत. स्वयभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्य, सूक्ष्मोऽव्यक्तसनातन ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य, स एव स्वयमुद्बभौ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधा प्रजा: ।
अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमपासृजत् ॥

पहले यह जगत् अन्धकार रूप था। यह न किसी से जाना जाता था, न इसका कोई लक्षण (पहचान) था। यह तर्क-विचार से अतीत और पूरी तरह मे प्रसुप्त-सा अज्ञेय था।

तब अव्यक्त रहे हुए भगवान् स्वयभू पाँच महाभूतो को प्रकट करते हुए स्वय प्रकट हुए।

यह जो अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वान्तर्यामी और अचिन्त्य परमात्मा है, वह स्वय (इस प्रकार) प्रकट हुआ।

उसने ध्यान करके अपने शरीर से अनेक प्रकार के जीवो को बनाने की इच्छा से सर्वप्रथम जल का निर्माण किया और उसमे बीज डाल दिया।

वह बीज सूर्य के समान प्रभा वाला स्वर्णमय अडा बन गया। उससे सर्वलोक के पितामह ब्रह्मा स्वय प्रकट हुए।

नर—परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण जल को नार कहते है। वह नार इसका पूर्व घर (आयन) है, इसलिए इसे नारायण कहते है।

जो सब का कारण है, अव्यक्त और नित्य है तथा सत् और असत् स्वरूप है, उससे उत्पन्न वह पुरुष लोक मे ब्रह्मा कहलाता है।

एक वर्ष तक उस अडे मे रहकर उस भगवान् ने स्वय ही अपने ध्यान से उस अडे के दो टुकडे कर दिए।

उन दो टुकडो से उसने स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया। मध्यभाग से आकाश, आठ दिशाओ और जल का शाश्वत स्थान निर्मित किया।

इस क्रम के अनुसार पहले भगवान् स्वयभू प्रकट हुए और जगत् को बनाने की इच्छा से अपने शरीर से जल उत्पन्न किया। फिर उसमे बीज डालने से वह अडाकार हो गया। ब्रह्मा या नारायण ने अडे मे प्रकट होकर उसे फोड दिया, जिससे समस्त ससार प्रकट हुआ।

इन सब मान्यताओ को यहाँ मृषावाद मे परिगणित किया गया है। जैसा कि आगे कहा जायेगा, जीवाजीवात्मक अथवा षड्द्रव्यात्मक लोक अनादि और अनन्त है। न कभी उत्पन्न होता है और न कभी इसका विनाश होता है। द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य है।

तदण्डमभवद्धैम, सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वय ब्रह्मा, सर्वलोकपितामह॰॥
आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायन पूर्व, तेन नारायण॰ स्मृतः॥
यत्तत्कारणमव्यक्त, नित्य सदसत्कारणम।
तद्विसृष्ट स पुरुषो, लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥
ताभ्या स शकलाभ्या च, दिव भूमि च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपा स्थानञ्च शाश्वतम्॥

प्रजापति का सृष्टि-सर्जन

४९—पयावइणा इस्सरेण य कयं ति केई।

एवं विण्हुमयं कसिणमेव य जगं ति केइ।

एवमेगे वयंति मोसं एगे आया अकारओ वेदओ य सुकयस्स दुक्कयस्स य करणाणि कारणाणि सव्वहा सव्वहिं च णिच्चो य णिक्किओ णिग्गुणो य अणुवलेवओ त्ति विय एवमाहंसु असब्भावं।

४९—कोई-कोई कहते हैं कि यह जगत् प्रजापति या महेश्वर ने बनाया है।

किसी का कहना है कि यह समस्त जगत् विष्णुमय है।

किसी की मान्यता है कि आत्मा अकर्त्ता है किन्तु (उपचार से) पुण्य और पाप (के फल) का भोक्ता है। सर्व प्रकार से तथा सर्वत्र देश-काल में इन्द्रिया ही कारण हैं। आत्मा (एकान्त) नित्य है, निष्क्रिय है, निर्गुण है और निर्लेप है। असद्भाववादी इस प्रकार प्ररूपणा करते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे अनेक मिथ्या मान्यताओ का उल्लेख किया गया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रजापतिसृष्टि—मनुस्मृति मे कहा है—ब्रह्मा ने अपने देह के दो टुकडे किए। एक टुकडे को पुरुष और दूसरे टुकडे को स्त्री बनाया। फिर स्त्री मे विराट् पुरुष का निर्माण किया।

उस विराट् पुरुष ने तप करके जिसका निर्माण किया, वही मै (मनु) हूँ, अतएव हे श्रेष्ठ द्विजो! सृष्टि का निर्माणकर्त्ता मुझे समझो।[1]

मनु कहते हैं—दुष्कर तप करके प्रजा की सृष्टि करने की इच्छा से मैने प्रारम्भ से दश महर्षि प्रजापतियो को उत्पन्न किया।

उन प्रजापतियो के नाम ये हे—(१) मरीचि (२) अत्रि (३) अगिरस् (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु (७) प्रचेतस् (८) वशिष्ठ (९) भृगु और (१०) नारद।[2]

ईश्वरसृष्टि—ईश्वरवादी एक—अद्वितीय, सर्वव्यापी, नित्य, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वर के द्वारा सृष्टि का निर्माण मानते हैं। ईश्वर को जगत् का उपादानकारण नही, निमित्तकारण कहते हैं।

---

१. द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देह-मर्द्धम् पुरुषोऽभवत्।
अर्धम् नारी तस्या स, विराजमसृजत्प्रभु ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद् य तु स स्वय पुरुषो विराट्।
त मा वित्तास्य सर्वस्य, सृष्टार द्विजसत्तमा. ॥
—मनुस्मृति अ १ ३२-३३

२. अह प्रजा सिसृक्षुस्तु, तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृज, महर्षीनादितो दश ॥
मरीचिमत्र्यगिरसौ पुलस्त्य पुलह क्रतुम्।
प्रचेतस वशिष्ठञ्च, भृगु नारदमेव च ॥
—मनुस्मृति अ. १-३४-३५

ईश्वर को ही कर्मफल का प्रदाता मानते हैं। ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर ही ससारी जीव स्वर्ग या नरक में जाता है।

इस प्रकार जगत् की सृष्टि के विषय में, यो तो 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' इस लोकोक्ति के अनुसार अनेकानेक मत हैं, तथापि यहा मुख्य रूप से तीन मतो का उल्लेख किया गया है—अडे से सृष्टि, प्रजापति द्वारा सृष्टि और ईश्वर द्वारा सृष्टि।

किन्तु सृष्टि-रचना की मूल कल्पना ही भ्रमपूर्ण है। वास्तव में यह जगत् सदा काल से है और सदा काल विद्यमान रहेगा।

इस विशाल एव विराट जगत् के मूलभूत तत्त्व जीव और अजीव है। ये दोनो तत्त्व न कभी सर्वथा उत्पन्न होते हैं और न कभी सर्वथा विनष्ट होते हैं। जगत् का एक भी परमाणु न सत् से असत् हो सकता है और न असत् से सत् ही हो सकता है। साधारणतया लोक मे जो उत्पाद और विनाश कहलाता है, वह विद्यमान पदार्थों की अवस्थाओ का परिवर्त्तन मात्र है। मनुष्य की तो बात ही क्या, इन्द्र मे भी यह सामर्थ्य नही कि वह शून्य मे से एक भी कण का निर्माण कर सके और न यह शक्ति है कि किसी सत् को असत्—शून्य बना सके। प्रत्येक कार्य का उपादानकारण पहले ही विद्यमान रहता है। यह तथ्य भारतीय दर्शनो मे और साथ ही विज्ञान द्वारा स्वीकृत है। ऐसी स्थिति मे जगत् की मूलत उत्पत्ति की कल्पना भ्रमपूर्ण है।

अडे से जगत् की उत्पत्ति कहने वालो को सोचना चाहिए कि जब पाँच भूतो की सत्ता नही थी तो अकस्मात् अडा कैसे पैदा हो गया ? अडे के पैदा होने के लिए पृथिवी चाहिए, जल चाहिए, तेज भी चाहिए और रहने के लिए आकाश भी चाहिये! फिर देव और मनुष्य आदि भी अचानक किस प्रकार उत्पन्न हो गए ?

विष्णुमय जगत् की मान्यता भी कपोल-कल्पना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। जब जगत् नही था तो विष्णुजी रहते कहाँ थे ? उन्हे जगत्-रचना की इच्छा और प्रेरणा क्यो हुई ? अगर वे घोर अन्धकार मे रहते थे, उसके अतिरिक्त कुछ भी नही था तो बिना उपादान-सामग्री के ही उन्होने इतने विराट् जगत् की सृष्टि किस प्रकार कर डाली ?

सृष्टि के विषय मे अन्य मन्तव्य भी यहाँ बतलाए गए है। उन पर अन्यान्य दार्शनिक ग्रन्थो मे विस्तार से गभीर ऊहापोह किया गया है। अतएव जिज्ञासुओ को उन ग्रन्थो का अवलोकन करना चाहिए। विस्तृत चर्चा करना यहा अप्रासगिक होगा। प्रस्तुत मे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सृष्टि की रचना सबधी समस्त कल्पनाएँ मृषा है। जगत् अनादि एव अनन्त है। ईश्वर तो परम वीतराग, सर्वज्ञ और कृतकृत्य है। जो आत्मा आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा प्राप्त कर चुका है, जिसने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट कर लिया है, वही आत्मा परमात्मा है—ईश्वर है। उसे जगत् की रचना या सचालन की झझटो मे पडने की क्या अपेक्षा है ? सृष्टि का रचयिता और नियत्रक मानने से ईश्वर मे अनेक दोषो की उत्पत्ति होती है। यथा—यदि वह दयालु है तो दुःखी जीवो की सृष्टि क्यों करता है ? कहा जाए कि जीव अपने पापकर्मों से दु.ख भोगते हैं तो वह पापकर्मों को करने क्यो देता है ? सर्वशक्तिमान् होने से उन्हे रोक नही देता ? पहले तो ईश्वर जीवो को सर्वज्ञ होने के कारण जान-बूझ कर पापकर्म करने देता है, रोकने में समर्थ हो कर भी रोकता नही और फिर उन्हे पापकर्मों का दड देता है! किसी को नरक मे भेजता है, किसी को अन्य प्रकार से सजा देकर पीड़ा पहुँचाता है! ऐसी स्थिति मे उसे करुणावान् कैसे कहा जा सकता है ?

यदि यह सब ईश्वर की क्रीडा है—लीला है तो फिर उसमें और बालक मे क्या अन्तर रहा ? फिर यह लीला कितनी क्रूरतापूर्ण है ?

इस प्रकार ये सारी कल्पनाएँ ईश्वर के स्वरूप को दूषित करने वाली हैं। सब मृषावाद है।

एकात्मवाद—प्रस्तुत सूत्र मे एकात्मवाद की मान्यता का उल्लेख करके उसे मृषावाद बतलाया गया है। यह वेदान्तदर्शन की मान्यता है।[1] यद्यपि जैनागमो में भी सग्रहनय के दृष्टिकोण से आत्मा के एकत्व का कथन किया गया है किन्तु व्यवहार आदि अन्य नयो की अपेक्षा भिन्नता भी प्रतिपादित की गई है। द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तानन्त आत्माएँ हैं। वे सब पृथक्-पृथक्, एक दूसरी से असंबद्ध, स्वतत्र हैं। एकान्तरूप मे आत्मा को एक मानना प्रत्यक्ष से और युक्तियो से भी बाधित है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडा-मकोडा, वनस्पति आदि के रूप में आत्मा का अनेकत्व प्रत्यक्षसिद्ध है। अगर आत्मा एकान्तत एक ही हो तो एक का मरण होने पर सब का मरण और एक का जन्म होने पर सब का जन्म होना चाहिए। एक के सुखी या दु'खी होने पर सब को सुखी या दु खी होना चाहिए। किसी के पुण्य-पाप पृथक् नही होने चाहिए। इसके अतिरिक्त पिता-पुत्र मे, पत्नी-पुत्री-माता आदि में भी भेद नही होना चाहिए। इस प्रकार सभी लौकिक एव लोकोत्तर व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाएँगी। अतएव एकात्मवाद भी मृषावाद है।

अकर्तृवाद—साख्यमत के अनुसार आत्मा अमूर्त्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापक और अक्रिय है। वह अकर्त्ता है, निर्गुण है और सूक्ष्म है।[2]

वे कहते है—न तो आत्मा बद्ध होता है, न उसे मोक्ष होता है और न वह ससरण करता—एक भव से दूसरे भव मे जाता है। मात्र नाना पुरुषो के आश्रित प्रकृति को ही ससार, बन्ध और मोक्ष होता है।[3]

साख्यमत मे मौलिक तत्त्व दो हैं—पुरुष अर्थात् आत्मा तथा प्रधान अर्थात् प्रकृति। सृष्टि के आविर्भाव के समय प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धि से अहकार, अहकार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, और पाँच तन्मात्र अर्थात् रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द तथा इन पाँच तन्मात्रो से पृथ्वी आदि पाँच महाभूतो का उद्भव होता है। यह साख्यसृष्टि की प्रक्रिया है।

साख्य पुरुष (आत्मा) को नित्य, व्यापक और निष्क्रिय कहते है। अतएव वह अकर्त्ता भी है।

विचारणीय यह है कि यदि आत्मा कर्त्ता नही है तो भोक्ता कैसे हो सकता है ? जिसने शुभ या अशुभ कर्म नही किए हैं, वह उनका फल क्यो भोगता है ?

---

१. एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थित ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

२. अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्त्ता निर्गुण सूक्ष्म-आत्मा कापिलदर्शने ॥

३. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते संसरति कश्चित् ।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥

—साख्यकारिका

पुरुष चेतन और प्रकृति जड है और प्रकृति को ही ससार, बन्ध और मोक्ष होता है। जड़ प्रकृति में बन्ध-मोक्ष-ससार मानना मृषावाद है। उससे बुद्धि की उत्पत्ति कहना भी विरुद्ध है।

साख्यमत मे इन्द्रियो को पाप-पुण्य का कारण माना है, किन्तु वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक उनकी मानी हुई पाच कर्मेन्द्रियाँ जड हैं। वे पाप-पुण्य का उपार्जन नही कर सकती। स्पर्शन आदि पाच ज्ञानेन्द्रिया भी द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार की हैं। द्रव्येन्द्रियां जड़ हैं। वे भी पुण्य-पाप का कारण नही हो सकती। भावेन्द्रिया आत्मा से कथचित् अभिन्न हैं। उन्हे कारण मानना आत्मा को ही कारण मानना कहलाएगा।

आत्मा को एकान्त नित्य (कूटस्थ अपरिणामी), निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लेप मानना भी अप्रमाणिक है। जब आत्मा सुख-दु ख का भोक्ता है तो अवश्य ही उसमे परिणाम-अवस्थापरिवर्त्तन मानना पडेगा। अन्यथा कभी सुख का भोक्ता और कभी दु ख का भोक्ता कैसे हो सकता है? एकान्त अपरिणामी होने पर जो सुखी है, वह सदैव सुखी ही रहना चाहिए और जो दुःखी है, वह सदैव दु खी ही रहना चाहिए। इस अनिष्टापत्ति को टालने के लिए साख्य कह सकते हैं कि आत्मा परमार्थत भोक्ता नही है। बुद्धि सुख-दु ख का भोग करती है और उसके प्रतिविम्बमात्र से आत्मा (पुरुष) अपने आपको सुखी-दु खी अनुभव करने लगता है। मगर यह कथन सगत नही हो सकता, क्योकि बुद्धि जड प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण जड है और जड को सुख-दु ख का अनुभव हो नही सकता। जो स्वभावत जड है वह पुरुष के ससर्ग से भी चेतनावान् नही हो सकता।

आत्मा को क्रियारहित मानना प्रत्यक्ष से बाधित है। उसमे गमनागमन, जानना-देखना आदि क्रियाएँ तथा सुख-दु ख, हर्ष-विषाद आदि की अनुभूतिरूप क्रियाएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

आत्मा को निर्गुण मानना किसी अपेक्षाविशेष से ही सत्य हो सकता है, सर्वथा नही। अर्थात् प्रकृति के गुण यदि उसमे नही हैं तो ठीक, मगर पुरुष के गुण ज्ञान-दर्शनादि से रहित मानना योग्य नही है। ज्ञानादि गुण यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा मे नही होगे तो किसमे होगे? जड़ मे तो चैतन्य का होना असभव है।

वस्तुत. आत्मा चेतन है, द्रव्य से नित्य-अपरिणामी होते हुए भी पर्याय से अनित्य-परिणामी है, अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है और उनके फल सुख-दु ख का भोक्ता है। अतएव वह सर्वथा निष्क्रिय और निर्गुण नही हो सकता।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे जगत् की उत्पत्ति और आत्मा सबधी मृषावाद का उल्लेख किया गया है।

मृषावाद

५०—जं वि इहं किंचि जीवलोए दीसइ सुकयं वा दुकयं वा एयं जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवइ। णत्थेत्थ किंचि कयगं तत्तं लक्खणविहाणणियत्तीए कारियं एवं केइ जंपंति इड्ढि-रस-सायागारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति धम्मवीमंसएणं मोसं।

५०—कोई-कोई ऋद्धि, रस और साता के गारव (अहकार) से लिप्त या इनमे अनुरक्त बने हुए और क्रिया करने मे आलसी बहुत से वादी धर्म की मीमासा (विचारणा) करते हुए इस प्रकार मिथ्या प्ररूपणा करते हैं—

इस जीवलोक में जो कुछ भी सुकृत या दुष्कृत दृष्टिगोचर होता है, वह सब यदृच्छा से, स्वभाव से अथवा दैवतप्रभाव—विधि के प्रभाव से ही होता है। इस लोक मे कुछ भी ऐसा नही है जो पुरुषार्थ से किया गया तत्त्व (सत्य) हो। लक्षण (वस्तुस्वरूप) और विद्या (भेद) की कर्त्री नियति ही है, ऐसा कोई कहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में एकान्त यदृच्छावादी, स्वभाववादी, दैव या दैवतवादी एव नियतिवादी के मन्तव्यो का उल्लेख करके उन्हे मृषा (मिथ्या) बतलाया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऐसे वादी वस्तुत ऋद्धि, रस और साता मे आसक्त रहते हैं। वे पुरुषार्थहीन, प्रमादमय जीवन यापन करने वाले हैं, अतएव पुरुषार्थ के विरोधी हैं। उल्लिखित वादो का आशय संक्षेप में इस प्रकार है—

यदृच्छावाद—सोच-विचार किए विना ही—अनभिसन्धिपूर्वक, अर्थप्राप्ति यदृच्छा कहलाती है। यदृच्छावाद का मन्तव्य है—प्राणियो को जो भी सुख या दुख होता है, वह सब अचानक-अतर्कित ही उपस्थित हो जाता है। यथा—काक आकाश मे उडता-उडता अचानक किसी ताड के नीचे पहुँचा और अकस्मात् ही ताड का फल टूट कर गिरा और काक उससे आहत-घायल हो गया। यहाँ न तो काक का इरादा था कि मुझे आघात लगे और न ताड-फल का अभिप्राय था कि मैं काक को चोट पहुँचाऊँ! सब कुछ अचानक हो गया। इसी प्रकार जगत् मे जो घटनाएँ घटित होती है, वे सब बिना अभिसन्धि—इरादे के घट जाती है। बुद्धिपूर्वक कुछ भी नही होता। अतएव अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ का अभिमान करना वृथा है।[1]

स्वभाववाद—पदार्थ का स्वतः ही अमुक रूप मे परिणमन होना स्वभाववाद कहलाता है। स्वभाववादियो का कथन है—जगत् मे जो कुछ भी होता है, स्वत: ही हो जाता है। मनुष्य के करने से कुछ भी नही होता। काटों में तीक्ष्णता कौन उत्पन्न करता है—कौन उन्हे नोकदार बनाता है? पशुओ और पक्षियो के जो अनेकानेक विचित्र-विचित्र आकार—रूप आदि दृष्टिगोचर होते है, उनको बनाने वाला कौन है? वस्तुत: यह सब स्वभाव से ही होता है। काटे स्वभाव से ही नोकदार होते है और पशु-पक्षियो की विविधरूपता भी स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। इसमे न किसी की इच्छा काम आती है, न कोई इसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है। इसी प्रकार जगत् के समस्त कार्य-कलाप स्वभाव से ही हो रहे है। पुरुषार्थ को कोई स्थान नही है। लाख प्रयत्न करके भी कोई वस्तु के स्वभाव मे तनिक भी परिवर्त्तन नही कर सकता।[2]

विधिवाद—जगत् में कुछ लोग एकान्त विधिवाद—भाग्यवाद का समर्थन करके मृषावाद करते हैं। उनका कथन है कि प्राणियो को जो भी सुख-दुख होता है, जो हर्ष-विपाद के प्रसग उपस्थित होते हैं, न तो यह इच्छा से और न स्वभाव से होते है, किन्तु विधि या भाग्य—दैव से ही

---

१. अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्र जनाना सुखदुखजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाभिमान ॥

—अभयदेववृत्ति पृ ३६

२. क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणाञ्च।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुत: प्रयत्न ? ॥

—अभयदेववृत्ति, पृ. ३६

होते है। दैव की अनुकूलता हो तो बिना पुरुषार्थ किये इष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है और जब भाग्य प्रतिकूल होता है तो हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी नही प्राप्त होती। अतएव ससार में सुख-दुःख का जनक भाग्य ही है। विधिवादी कहते हैं—

जिस अर्थ की प्राप्ति होती है वह हो ही जाती है, क्योकि दैव अलघनीय है—सर्वोपरि है, उसकी शक्ति अप्रतिहत है। अतएव दैववश जो कुछ होता है, उसके लिए मैं न तो शोक करता हूँ और न विस्मय मे पडता हूँ। जो हमारा है, वह हमारा ही होगा। वह किसी अन्य का नही हो सकता।[1]

तात्पर्य यह है कि एकमात्र भाग्य ही शुभाशुभ फल का प्रदाता है। विधि के विधान को कोई टाल नही सकता।

नियतिवाद—भवितव्यता अथवा होनहार नियति कहलाती है। कई प्रमादी मनुष्य भवितव्य के सहारे निश्चिन्त रहने को कहते हैं। उनका कथन होता है—आखिर हमारे सोचने और करने से क्या होना जाना है! जो होनहार है, वह होकर ही रहता है और अनहोनी कभी होती नही।[2]

पुरुषार्थवाद—यद्यपि मूल पाठ में पुरुषार्थवाद का नामोल्लेख नही किया गया है, तथापि अनेक लोग एकान्त पुरुषार्थवादी देखे जाते हैं। उनका मत भी मृषावाद के अन्तर्गत है। कोई-कोई कालवादी भी है। उपलक्षण मे यहा उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

एकान्त पुरुषार्थवादी स्वभाव, दैव आदि का निषेध करके केवल पुरुषार्थ से ही सर्व प्रकार की कार्यसिद्धि स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—लक्ष्मी उद्योगी पुरुष को ही प्राप्त होती है। लक्ष्मी की प्राप्ति भाग्य से होती है, ऐसा कहने वाले पुरुष कायर है। अतएव दैव को ठोकर मारकर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। प्रयत्न किए जाओ। प्रयत्न करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो इसमे क्या दोष—बुराई है।

कार्य तो उद्योग-पुरुषार्थ करने से ही सिद्ध होते है। निठल्ले बैठे-बैठे मंसूबे करते रहने से सिद्धि नही मिलती। शेर सोया पडा रहे और मृग आकर उसके मुख मे प्रविष्ट हो जाए, ऐसा क्या कभी हो सकता है? नही! शेर को अपनी भूख मिटाने के लिए पुरुषार्थ के सिवाय अन्य कोई उपाय नही है।

कालवाद—एकान्त कालवादियो का कथन है कि स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि नही किन्तु काल से ही कार्य की सिद्धि होती है। सब कारण विद्यमान होने पर भी जब तक काल परिपक्व नही होता तब तक कार्य नही होता। अमुक काल मे ही गेहूँ, चना आदि धान्य की निष्पत्ति

---

१. प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य, किम् कारण? दैवमलङ्घनीयम्।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयामि, यदस्मदीय न हि तत् परेषाम्॥
—अभयदेववृत्ति, पृ. ३५

२. न हि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्य विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य नु भवितव्यता नास्ति॥
—अ वृत्ति पृ. ३५

होती है। समय आने पर ही सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि होती है। अतएव एकमात्र कारण काल ही है।[1]

ये सब एकान्त मृषावाद हैं। वास्तव मे काल, स्वभाव, नियति, दैव और पुरुषार्थ, सभी यथायोग्य कार्यसिद्धि के सम्मिलित कारण है। स्मरण रखना चाहिए कि कार्यसिद्धि एक कारण से नहीं, अपितु सामग्री—समग्र कारणो के समूह—से होती है। काल आदि एक-एक कारण अपूर्ण कारक होने से सिद्धि के समर्थ कारण नही है। कहा गया है—

कालो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं, ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं॥

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (दैव—विधि) और पुरुषकार को एकान्त कारण मानना अर्थात् इन पाच मे से किसी भी एक को कारण स्वीकार करना और शेष को कारण न मानना मिथ्यात्व है। ये सब मिलकर ही यथायोग्य कारण होते हैं, ऐसी मान्यता ही सम्यक्त्व है।

झूठा दोषारोपण करने वाले निन्दक

५१—अवरे अहम्मओ रायदुट्ठं अब्भक्खाणं भणंति अलियं चोरोत्ति अचोरयं करेंतं, डामरिउत्ति वि य एमेव उदासीणं, दुस्सीलोत्ति य परदारं गच्छइत्ति मइलिंति सीलकलियं, अयं वि गुरुतप्पओ त्ति। अण्णे एमेव भणंति उवाहणंता मित्तकलत्ताइं सेवंति अयं वि लुत्तधम्मो, इमोवि विस्संभघाइओ पावकम्मकारी अगम्मगामी अयं दुरप्पा बहुएसु य पावगेसु जुत्तोत्ति एवं जंपंति मच्छरी। भद्दगे वा गुणकित्ति-णेह-परलोय-णिप्पिवासा। एवं ते अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणप्पसत्ता वेढेंति अक्खाइय-बीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण मुहरी असमिक्खियप्पलावा।

५१—कोई-कोई—दूसरे लोग राज्यविरुद्ध मिथ्या दोषारोपण करते हैं। यथा—चोरी न करने वाले को चोर कहते हैं। जो उदासीन है—लडाई-झगडा नही करता, उसे लडाईखोर या झगडालू कहते हैं। जो सुशील है—शीलवान् है, उसे दु:शील—व्यभिचारी कहते है, यह परस्त्रीगामी है, ऐसा कहकर उसे मलिन करते हैं—बदनाम करते है। उस पर ऐसा आरोप लगाते है कि यह तो गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखता है। कोई-कोई किसी की कीर्त्ति अथवा आजीविका को नष्ट करने के लिए इस प्रकार मिथ्यादोषारोपण करते हैं कि—यह अपने मित्र की पत्नियों का सेवन करता है। यह धर्महीन—अधार्मिक है, यह विश्वासघाती है, पाप कर्म करता है, नही करने योग्य कृत्य करता है, यह अगम्यगामी है अर्थात् भगिनी, पुत्रवधू आदि अगम्य स्त्रियो के साथ सहवास करता है, यह दुष्टात्मा है, बहुत-से पाप कर्मों को करने वाला है। इस प्रकार ईर्ष्यालु लोग मिथ्या प्रलाप करते है। भद्र पुरुष के परोपकार, क्षमा आदि गुणो की तथा कीर्त्ति, स्नेह एव परभव की लेशमात्र परवाह न करने वाले वे असत्यवादी, असत्य भाषण करने मे कुशल, दूसरो के दोषो को (मन से घडकर) बताने में निरत रहते हैं। वे विचार किए बिना बोलने वाले, अक्षय दु:ख के कारणभूत अत्यन्त दृढ कर्मबन्धनो से अपनी आत्मा को वेष्टित—बद्ध करते हैं।

---

१. काल सजति भूतानि, काल सहरते प्रजा।
काल सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रम॥
—प्र व्या (सन्मति ज्ञानपीठ) पृ २१२

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे ऐसे लोगो का दिग्दर्शन कराया गया है जो ईर्ष्यालु है और इस कारण दूसरो की यशकीर्त्ति को सहन नही कर सकते। किसी की प्रतिष्ठावृद्धि देखकर उन्हे घोर कष्ट होता है। दूसरो के सुख को देखकर जिन्हे तीव्र दुःख का अनुभव होता है। ऐसे लोग भद्र पुरुषो को अभद्रता से लाछित करते है। तटस्थ रहने वाले को लडाई-झगडा करने वाला कहते हैं। जो सुशील—सदाचारी हैं, उन्हे वे कुशील कहने में सकोच नही करते। उनकी धृष्टता इतनी बढ जाती है कि वे उन सदाचारी पुरुषो को मित्र-पत्नी का अथवा गुरुपत्नी का—जो माता की कोटि मे गिनी जाती है—सेवन करने वाला तक कहते नही हिचकते। पुण्यशील पुरुष को पापी कहने की धृष्टता करते है। ऐसे असत्यभाषण मे कुशल, डाह से प्रेरित होकर किसी को कुछ भी लाछन लगा देते है। उन्हे यह विचार नही आता कि इस घोर असत्य भाषण और मिथ्यादोषारोपण का क्या परिणाम होगा? वे यह भी नही सोचते कि मुझे परलोक मे जाना है और इस मृषावाद का दुष्परिणाम भुगतना पडेगा। ऐसे लोग दूसरो को लाछित करके, उन्हे अपमानित करके, उनकी प्रतिष्ठा को मलीन करके भले ही क्षणिक सन्तोष का अनुभव कर लें, किन्तु वे इस पापाचरण के द्वारा ऐसे घोरतर पापकर्मों का सचय करते हैं जो बडी कठिनाई से भोगे विना नष्ट नही हो सकते। असत्यवादी को भविष्य मे होने वाली यातनाओ से बचाने की सद्भावना से शास्त्रकार ने मृषावाद के अनेक प्रकारो का यहाँ उल्लेख किया है और आगे भी करेंगे।

लोभजन्य अनर्थकारी झूठ

५२—णिक्खेवे अवहरंति परस्स अत्थम्मि गढियगिद्धा अभिजुजति य पर असतएहिं। लुद्धा य करेंति कूडसक्खित्तणं असच्चा अत्थालियं च कण्णालियं च भोमालियं च तह गवालियं च गरुय भणंति अहरगइगमणं। अण्णं पि य जाइरूवकुलसीलपच्चय मायाणिउणं चवलपिसुणं परमट्ठभेयगमसंतगं विद्देसमणत्थकारगं पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणिय णिल्लज्ज लोयगरहणिज्जं वहबंधपरिकिलेस-बहुल जरामरणदुक्खसोयणिम्मं असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति।

५२—पराये धन मे अत्यन्त आसक्त वे (मृषावादी लोभी) निक्षेप (धरोहर) को हडप जाते हैं तथा दूसरे को ऐसे दोषो से दूषित करते है जो दोष उनमे विद्यमान नही होते। धन के लोभी झूठी साक्षी देते है। वे असत्यभाषी धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के लिए तथा गाय-बैल आदि पशुओ के निमित्त अधोगति मे ले जाने वाला असत्यभाषण करते है। इसके अतिरिक्त वे मृषावादी जाति, कुल, रूप एव शील के विषय मे असत्य भाषण करते है। मिथ्या षड्यत्र रचने मे कुशल, परकीय असद्गुणो के प्रकाशक, सद्गुणो के विनाशक, पुण्य-पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ, असत्याचरण-परायण लोग अन्यान्य प्रकार से भी असत्य बोलते है। वह असत्य माया के कारण गुणहीन है, चपलता से युक्त है, चुगलखोरी (पैशुन्य) से परिपूर्ण है, परमार्थ को नष्ट करने वाला, असत्य अर्थवाला अथवा सत्त्व मे हीन, द्वेषमय, अप्रिय, अनर्थकारी, पापकर्मों का मूल एव मिथ्यादर्शन से युक्त है। वह कर्णकटु, सम्यग्ज्ञानशून्य, लज्जाहीन, लोकगर्हित, वध-बन्धन आदि रूप क्लेशो से परिपूर्ण, जरा, मृत्यु, दुःख और शोक का कारण है, अशुद्ध परिणामो के कारण सक्लेश से युक्त है।

विवेचन—प्रकृत पाठ मे भी असत्यभाषण के अनेक निमित्तों का उल्लेख किया गया है और साथ ही असत्य की वास्तविकता अर्थात् असत्य किस प्रकार का होता है, यह दिखलाया गया है।

धन के लिए असत्य भाषण किया जाता है, यह तो लोक मे सर्वविदित है। किन्तु धन-लोभ के कारण अन्धा बना हुआ मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि वह परकीय धरोहर को हडप कर मानो उसके प्राणों को ही हड़प जाता है।

इस पाठ मे चार प्रकार के असत्यो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है—(१) अर्थालीक (२) भूम्यलीक (३) कन्यालीक और (४) गवालीक। इनका अर्थ इस प्रकार है—

(१) **अर्थालीक**—अर्थ अर्थात् धन के लिए बोला जाने वाला अलीक (असत्य)। धन शब्द से यहाँ सोना, चादी, रुपया, पैसा, मणि, मोती आदि रत्न, आभूषण आदि भी समझ लेना चाहिए।

(२) **भूम्यलीक**—भूमि प्राप्त करने के लिए या बेचने के लिए असत्य बोलना। अच्छी उपजाऊ भूमि को बजर भूमि कह देना अथवा बजर भूमि को उपजाऊ भूमि कहना, आदि।

(३) **कन्यालीक**—कन्या के सम्बन्ध में असत्य भाषण करना, सुन्दर सुशील कन्या को असुन्दर या दुश्शील कहना और दुश्शील को सुशील कहना, आदि।

(४) **गवालीग**—गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि पशुओ के सम्बन्ध मे असत्य बोलना।

चारो प्रकार के असत्यों मे उपलक्षण से समस्त अपद, द्विपद और चतुष्पदों का समावेश हो जाता है।

ससारी जीव एकेन्द्रियपर्याय में अनन्तकाल तक लगातार जन्म-मरण करता रहता है। किसी प्रबल पुण्य का उदय होने पर वह एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर निकलता है। तब उसे जिह्वा इन्द्रिय प्राप्त होती है और बोलने की शक्ति आती है। इस प्रकार बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाने पर भी सोच-विचार कर सार्थक भावात्मक शब्दो का प्रयोग करने का सामर्थ्य तो तभी प्राप्त होता है जब प्रगाढतर पुण्य के उदय से जीव सज्ञी पचेन्द्रिय दशा प्राप्त करे। इनमे भी व्यक्त वाणी मनुष्य-पर्याय मे ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि अनन्त पुण्य की पू जी से व्यक्त वाणी बोलने का सामर्थ्य हम प्राप्त करते है। इतनी महर्घ्य शक्ति का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब हम स्व-पर के हिताहित का विचार करके सत्य, तथ्य, प्रिय भाषण करें और आत्मा को मलीन – पाप की कालिमा से लिप्त करने वाले वचनो का प्रयोग न करे।

मूल पाठ मे **पावकम्ममूलं दुदिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं** पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इनका तात्पर्य यह है कि जिस बात को, जिस घटना को हमने अच्छी तरह देखा न हो, जिसके विषय मे प्रामाणिक पुरुष से सुना न हो और जिसे सम्यक् प्रकार मे जाना न हो, उसके विषय मे अपना अभिमत प्रकट कर देना—अप्रमाणित को प्रमाणित कर देना भी असत्य है। यह असत्य पाप का मूल है।

स्मरण रखना चाहिए कि तथ्य और सत्य मे अन्तर है। सत्य की व्युत्पत्ति है—सद्भ्यो हितम् सत्यम्, अर्थात् सत्पुरुषो के लिए जो हितकारक हो, वह सत्य है। कभी-कभी कोई वचन तथ्य होने पर भी सत्य नही होता। जिस वचन से अनर्थ उत्पन्न हो, किसी के प्राण सकट मे पडते हो, जो वचन हिंसाकारक हो, ऐसे वचनो का प्रयोग सत्यभाषण नही है। सत्य की कसौटी अहिंसा है। जो वचन अहिंसा का विरोधी न हो, किसी के लिए अनर्थजनक न हो और हितकर हो, वही वास्तव मे सत्य मे परिगणित होता है।

जो वचन परमार्थ के भेदक हो—मुक्तिमार्ग के विरोधी है, कपटपूर्वक बोले जाते है, जो निर्लज्जतापूर्ण हैं और लोक मे गर्हित है—सामान्य जनो द्वारा भी निन्दित हैं, सत्यवादी ऐसे वचनो का भी प्रयोग नही करता।

उभय-घातक

५३—अलियाहिसंधि-सण्णिविट्ठा असंतगुणुदीरया य संतगुणणासगा य हिंसाभूओवघाइयं अलियं संपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अहम्मजणणं भणंति, अणभिगय-पुण्णपावा पुणो वि अहिगरण-किरिया-पवत्तगा बहुविहं अणत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति।

५३—जो लोग मिथ्या अभिप्राय—आशय मे सन्निविष्ट हैं—असत् आशय वाले हैं, जो असत्—अविद्यमान गुणो की उदीरणा करने वाले—जो गुण नही है उनका होना कहने वाले, विद्यमान गुणो के नाशक—लोपक हैं—दूसरो मे मौजूद गुणो को आच्छादित करने वाले हैं, हिंसा करके प्राणियो का उपघात करते है, जो असत्य भाषण करने मे प्रवृत्त है, ऐसे लोग सावद्य—पापमय, अकुशल—अहितकर, सत्-पुरुषो द्वारा गर्हित और अधर्मजनक वचनो का प्रयोग करते है। ऐसे मनुष्य पुण्य और पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ होते है। वे पुन अधिकरणो अर्थात् पाप के साधनो—शास्त्रो आदि की क्रिया मे—शस्त्रनिर्माण आदि पापोत्पादक उपादानो को बनाने, जुटाने, जोड़ने आदि को क्रिया मे प्रवृत्ति करने वाले है, वे अपना और दूसरो का बहुविध—अनेक प्रकार से अनर्थ और विनाश करते हैं।

विवेचन—जिनका आशय ही असत्य से परिपूर्ण होता है, वे अनेकानेक प्रकार से सत्य को ढकने और असत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे अपने और अपना जिन पर रागभाव है ऐसे स्नेही जनो मे जो गुण नही हैं, उनका होना कहते है और द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे मे जो गुण विद्यमान हैं, उनका अभाव प्रकट करने मे सकोच नही करते। ऐसे लोग हिंसाकारी वचनो का प्रयोग करते भी नही हिचकते।

प्रस्तुत पाठ में एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया गया है कि मृषावादी असत्य भाषण करके पर का ही अहित, विनाश या अनर्थ नही करता किन्तु अपना भी अहित, विनाश और अनर्थ करता है। मृषावाद के पाप के सेवन करने का विचार मन मे जब उत्पन्न होता है तभी आत्मा मलीन हो जाता है और पापकर्म का बन्ध करने लगता है। मृषावाद करके, दूसरे को धोखा देकर कदाचित् दूसरे का अहित कर सके अथवा न कर सके, किन्तु पापमय विचार एव आचार से अपना अहित तो निश्चित रूप से कर ही लेता है। अतएव अपने हित की रक्षा के लिए भी मृषावाद का परित्याग आवश्यक है।

पाप का परामर्श देने वाले

५४—एमेव जंपमाणा महिससूकरे य साहिंति घायगाणं, ससयपसयरोहिए य साहिंति वागुराणं तित्तिर-वट्टग-लावगे य कविंजल-कवोयगे य साहिंति साउणीणं, झस-मगर-कच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, संखंके खुल्लए य साहिंति मगराणं, अयगर-गोणसमंडलिदव्वीकरे मउली य साहिंति वालवीणं, गोहा-सेहग-सल्लग-सरडगे य साहिंति लुद्धगाणं, गयकुलवानरकुले य साहिंति पासियाणं,

सुग-बरहिण-मयणसाल-कोइल-हंसकुले सारसे य साहिंति पोसगाणं, **वहबंधजायण च साहिंति गोम्मियाणं, धण-धण्ण-गवेलए य साहिंति तक्कराणं, गामागर-णगरपट्टणे य साहिंति चारियाणं, पारघाइय पंथघाइयाओ य साहिंति गंठभेयाणं, कयं च चोरियं साहिंति णगरगुत्तियाणं। लंछण-णिलंछण-धमण-दूहण-पोसण-वणण-दवण-वाहणाइयाइं साहिंति बहूणि गोमियाणं, धाउ-मणि-सिल-प्पवाल-रयणागरे य साहिंति आगरीणं, पुप्फविहिं फलविहिं च साहिंति मालियाणं, अग्घमहुकोसए य साहिंति वणचराणं।**

५४—इसी प्रकार (स्व-पर का अहित करने वाले मृषावादी जन) घातकों को भैंसा और शूकर बतलाते हैं, वागुरिकों—व्याधों को—शशक—खरगोश, पसय—मृगविशेष या मृगशिशु और रोहित बतलाते हैं, तीतुर, वनक और लावक तथा कपिंजल और कपोत—कबूतर पक्षीघातकों—चिड़ीमारों को बतलाते हैं, झष—मछलियाँ, मगर और कछुआ मच्छीमारों को बतलाते हैं, शंख (द्वीन्द्रिय जीव), अंक—जल-जन्तुविशेष और क्षुल्लक—कौडी के जीव धीवरों को बतला देते हैं, अजगर, गोणस, मंडली एवं दर्वीकर जाति के सर्पों को तथा मुकुली—बिना फन के सर्पों को सँपेरों को—साँप पकड़ने वालों को बतला देते हैं, गोधा, सेह, शल्लकी और सरट—गिरगट लुब्धकों को बतला देते हैं, गजकुल और वानरकुल अर्थात् हाथियों और बन्दरों के झुंड पाशिकों—पाश द्वारा पकड़ने वालों को बतलाते हैं, तोता, मयूर, मैना, कोकिला और हंस के कुल तथा सारस पक्षी पोषकों—इन्हें पकड़ कर, बंदी बना कर रखने वालों को बतला देते हैं। आरक्षकों—कारागार आदि के रक्षकों को वध, बन्ध और यातना देने के उपाय बतलाते हैं। चोरों को धन, धान्य और गाय-बैल आदि पशु बतला कर चोरी करने की प्रेरणा करते हैं। गुप्तचरों को ग्राम, नगर, आकर और पत्तन आदि बस्तियाँ (एवं उनके गुप्त रहस्य) बतलाते हैं। ग्रन्थिभेदकों—गांठ काटने वालों को रास्ते के अन्त में अथवा बीच में मारने-लूटने-टांठ काटने आदि की सीख देते हैं। नगररक्षकों—कोतवाल आदि पुलिसकर्मियों को की हुई चोरी का भेद बतलाते हैं। गाय आदि पशुओं का पालन करने वालों को लाञ्छन—कान आदि काटना, या निशान बनाना, नपुंसक—वधिया करना, धमण—भैंस आदि के शरीर में हवा भरना (जिससे वह दूध अधिक दे), दुहना, पोषना—जौ आदि खिला कर पुष्ट करना, बछड़े को दूसरी गाय के साथ लगाकर गाय को धोखा देना अर्थात् वह गाय दूसरे के बछड़े को अपना समझकर स्तन-पान कराए, ऐसी भ्रान्ति में डालना, पीड़ा पहुँचाना, वाहन गाड़ी आदि में जोतना, इत्यादि अनेकानेक पाप-पूर्ण कार्य कहते या सिखलाते हैं। इसके अतिरिक्त (वे मृषावादी जन) खान वालों को गैरिक आदि धातुएँ बतलाते हैं, चन्द्रकान्त आदि मणियाँ बतलाते हैं, शिलाप्रवाल—मूंगा और अन्य रत्न बतलाते हैं। मालियों को पुष्पों और फलों के प्रकार बतलाते हैं तथा वनचरों—भील आदि वनवासी जनों को मधु का मूल्य और मधु के छत्ते बतलाते हैं अर्थात् मधु का मूल्य बतला कर उसे प्राप्त करने की तरकीब सिखाते हैं।

विवेचन—पूर्व में बतलाया गया था कि मृषावादी जन स्व और पर- दोनों के विघातक होते हैं। वे किस प्रकार उभय—विघातक हैं, यह तथ्य यहाँ अनेकानेक उदाहरणों द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। जिनमें विवेक मूलतः है ही नहीं या लुप्त हो गया है, जो हित-अहित या अर्थ-अनर्थ का समीचीन विचार नहीं कर सकते, ऐसे लोग कभी-कभी स्वार्थ अथवा क्षुद्र-से स्वार्थ के लिए प्रगाढ पाप-कर्मों का संचय कर लेते हैं। शिकारियों को हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि बतलाते हैं—अर्थात् अमुक स्थान पर भरपूर शिकार करने योग्य पशु मिलेंगे ऐसा सिखलाते हैं। शिकारी वहाँ जाकर उन पशुओं

का घात करते हैं । इसी प्रकार चिड़ीमारों को पक्षियों का पता बताते हैं, मच्छीमारों को मछलियों आदि जलचर जीवो के स्थान एव घात का उपाय बतला कर प्रसन्न होते है। चोरो, डाकुओ, जेबकतरो आदि को चोरो आदि के स्थान-उपाय आदि बतलाते हैं । आजकल जेब काटना सिखाने के लिए अनेक नगरो मे प्रशिक्षणशालाएँ चलती हैं, ऐसा सुना जाता है। कोई-कोई कैदियों को अधिक से अधिक यातनाएँ देने की शिक्षा देते हैं। कोई मधुमक्खियो को पीडा पहुँचा कर, उनका छत्ता तोड कर उसमें से मधु निकालना सिखलाते हैं । तात्पर्य यह है कि विवेकविकल लोग अनेक प्रकार से ऐसे-वचनो का प्रयोग करते हैं, जो हिंसा आदि अनर्थों के कारण हैं और हिंसाकारी वचन मृषावाद मे ही गर्भित हैं, भले ही वे निस्वार्थ भाव से बोले जाएँ । अत: सत्य के उपासको को अनर्थकर वचनों से बचना चाहिए । ऐसी भाषा का प्रयोग नही करना चाहिए जिससे आरम्भ-समारम्भ आदि को उत्तेजना मिले या हिंसा हो ।

५५—जंताइं विसाइं मूलकम्मं आहेवण-आविंधण-अभिओग-मंतोसहिप्पओगे चोरिय-परदार-गमण-बहुपावकम्मकरणं उक्खंधे गामघाइयाओ वणदहण-तलागभेयणाणि बुद्धिविसविणासणाणि वसीकरणमाइयाइं भय-मरण-किलेसदोसजणणाणि भावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूयघाओवघाइयाइं सच्चाइं वि ताइं हिंसगाइं वयणाइं उदाहरंति ।

५५—मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए (लिखित) यन्त्रों या पशु-पक्षियों को पकड़ने वाले यन्त्रो, संखिया आदि विषो, गर्भपात आदि के लिए जडी-बूटियों के प्रयोग, मन्त्र आदि द्वारा नगर मे क्षोभ या विद्वेष उत्पन्न कर देने अथवा मन्त्रबल से धनादि खीचने, द्रव्य और भाव से वशीकरण मन्त्रो एव औषधियो के प्रयोग करने, चोरी, परस्त्रीगमन करने आदि के बहुत-से पापकर्मों के उपदेश तथा छल से शत्रुसेना की शक्ति को नष्ट करने अथवा उसे कुचल देने के, जगल में आग लगा देने, तालाब आदि जलाशयो को सुखा देने के, ग्रामघात—गाव को नष्ट कर देने के, बुद्धि के विषय-विज्ञान आदि अथवा बुद्धि एव स्पर्श, रस आदि विषयों के विनाश के, वशीकरण आदि के, भय, मरण, क्लेश और दु.ख उत्पन्न करने वाले, अतीव संक्लेश होने के कारण मलिन, जीवो का घात और उपघात करने वाले वचन तथ्य (यथार्थ) होने पर भी प्राणियो का घात करने वाले होने से असत्य वचन, मृषावादी बोलते हैं ।

विवेचन—पूर्व मे प्रतिपादित किया जा चुका है कि वस्तुत: सत्य वचन वही कहा जाता है जो हिंसा का पोषक, हिंसा का जनक अथवा किसी भी प्राणी को कष्टदायक न हो। जो वचन तथ्य तो हो किन्तु हिंसाकारक हो, वह सत्य की परिभाषा मे परिगणित नही होता । अतएव सत्य की शरण ग्रहण करने वाले सत्पुरुषों को अतथ्य के साथ तथ्य असत्य वचनो का भी त्याग करना आवश्यक हे । सत्यवादी की वाणी अमृतमयी होनी चाहिए, विष वमन करने वाली नही । उससे किसी का अकल्याण न हो । इसीलिए कहा गया है—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

अर्थात् सत्य के साथ प्रिय वचनों का प्रयोग करना चाहिए । अप्रिय सत्य का प्रयोग असत्य-प्रयोग के समान ही त्याज्य है ।

इस तथ्य को सूत्रकार ने यहाँ स्पष्ट किया है। साथ ही प्राणियों का उपघात करने वाली भाषा का विवरण भी दिया है। यथा—मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि के प्रयोग बतला कर किसी का अनिष्ट करना, चोरी एवं परस्त्रीगमन सम्बन्धी उपाय बतलाना, ग्रामघात की विधि बतलाना, जगल को जलाने का उपदेश देना आदि। ऐसे समस्त वचन हिंसोत्तेजक अथवा हिंसाजनक होने के कारण विवेकवान् पुरुषों के लिए त्याज्य हैं।

हिंसक उपदेश-आदेश

५६—पुट्ठा वा अपुट्ठा वा परतत्तियवावडा य असमिक्खियभासिणो उवदिसंति, सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थी गवेलग-कुक्कुडा य किज्जंतु, किणावेह य विक्केह पयह य सयणस्स देह पियह दासी-दास-भयग-भाइल्लगा य सिस्सा य पेसगजणो कम्मकरा य किंकरा य एए सयणपरिजणो य कीस अच्छंति ! भारिया भे करित्तु कम्मं, गहणाइं वणाइं खेत्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तण-घणसंकडाइं डज्झतु-सूडिज्जंतु य रुक्खा, भिज्जंतु जतभंडाइयस्स उवहिस्स कारणाए बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जंतु, पीलिज्जंतु य तिला, पयावेह य इट्टकाउ मम घरट्ठयाए, खेत्ताइं कसावेह य, लहुं गाम-आगर-णगर-खेड-कब्बडे णिवेसेह, अडवीदेसेसु विउलसीमे पुप्फाणि य फलाणि य कदमूलाइं काल-पत्ताइं गिण्हेह, करेह संचयं परिजणट्ठयाए साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जतु उप्पणिज्जतु य लहुं य पविसंतु य कोट्ठागारं।

५६—अन्य प्राणियो को सन्ताप—पीडा प्रदान करने मे प्रवृत्त, अविचारपूर्वक भाषण करने वाले लोग किसी के पूछने पर और (कभी-कभी) विना पूछे ही सहसा (अपनी पटुता प्रकट करने के लिए) दूसरो को इस प्रकार का उपदेश देते हैं कि—ऊटो को बैलो को और गवयो-रोझो को दमो—इनका दमन करो। वय प्राप्त—परिणत आयु वाले इन अश्वो को, हाथियो को, भेड-बकरियो को या मुर्गों को खरीदो खरीदवाओ, इन्हे बेच दो, पकाने योग्य वस्तुओं को पकाओ स्वजन को दे दो, पेय—मदिरा आदि पीने योग्य पदार्थों का पान करो। दासी, दास—नौकर, भृतक—भोजन देकर रक्खे जाने वाले सेवक, भागीदार, शिष्य, कर्मकर—कर्म करनेवाले-नियत समय तक आज्ञा पालने वाले, किंकर—क्या करूं ? इस प्रकार पूछ कर कार्य करने वाले, ये सब प्रकार के कर्मचारी तथा ये स्वजन और परिजन क्यों कैसे (निकम्मे-निठल्ले) बैठे हुए हैं ! ये भरण-पोषण करने योग्य है अर्थात् इनका वेतन आदि चुका देना चाहिए। ये आपका काम करे। ये सघन वन, खेत, विना जोती हुई भूमि, वल्लर—विशिष्ट प्रकार के खेत, जो उगे हुए घास-फूस से भरे हैं, इन्हे जला डालो, घास कटवाओ या उखडवा डालो, यन्त्रो—घानी गाडी आदि भाड—कुन्डे आदि उपकरणो के लिए और नाना प्रकार के प्रयोजनो के लिए वृक्षो को कटवाओ, इक्षु—ईख—गन्नो को कटवाओ, तिलो को पेलो—इनका तेल निकालो, मेरा घर बनाने के लिए ईंटो को पकाओ, खेतो को जोतो अथवा जुतवाओ, जल्दी-से ग्राम, आकर (खानों वाली वस्ती) नगर, खेडा और कर्वट-कुनगर आदि को वसाओ। अटवी—प्रदेश मे विस्तृत सीमा वाले गाँव आदि वसाओ। पुष्पो और फलों को तथा प्राप्त-काल अर्थात् जिनको तोडने या ग्रहण करने का समय हो चुका है, ऐसे कन्दो और मूलो को ग्रहण करो। अपने परिजनों के लिए इनका सचय करो। शाली—धान, व्रीहि—अनाज आदि और जौ को काट लो। इन्हे मलो अर्थात् मसल कर दाने अलग कर लो। पवन से साफ करो—दानों को भूसे से पृथक् करो और शीघ्र कोठार मे भर लो—डाल लो।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अनेकानेक सावद्य कार्यों के आदेश और उपदेश का उल्लेख किया गया है और यह प्रतिपादन किया गया है कि विवेकविहीन जन किसी के पूछने पर अथवा न पूछने पर भी, अपने स्वार्थ के लिए अथवा विना स्वार्थ भी केवल अपनी चतुरता, व्यवहारकुशलता और प्रौढता प्रकट करने के लिए दूसरो को ऐसा आदेश-उपदेश दिया करते हैं, जिससे अनेक प्राणियों को पीडा उपजे, परिताप पहुचे, उनकी हिंसा हो, विविध प्रकार का आरम्भ-समारम्भ हो।

अनेक लोग इस प्रकार के वचन-प्रयोग मे कोई दोष ही नही समझते। अतएव वे निश्शक होकर ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसे अज्ञ प्राणियो को वास्तविकता समझाने के लिए सूत्रकार ने इतने विस्तार से इन अलीक वचनो का उल्लेख किया और आगे भी करेंगे।

यहाँ ध्यान मे रखना चाहिए कि सूत्र मे निर्दिष्ट वचनो के अतिरिक्त भी इसी प्रकार के अन्य वचन, जो पापकर्म के आदेश, उपदेश के रूप मे हो अथवा परपीडाकारी हो, वे सभी मृषावाद मे गर्भित हैं। ऐसे कार्य इतने अधिक और विविध हैं कि सभी का मूल पाठ मे सग्रह नही किया जा सकता। इन निर्दिष्ट कार्यों को उपलक्षण—दिशादर्शकमात्र समझना चाहिए। इनको भलीभाति समझ कर अपने विवेक की कसौटी पर कसकर और सद्बुद्धि की तराजू पर तोल कर ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो स्व-पर के लिए हितकारक हो, जिससे किसी को आघात-सताप उत्पन्न न हो और जो हिंसा-कार्य मे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे सहायक न हो।

सर्वविरति के आराधक साधु-साध्वी तो ऐसे वचनो से पूर्ण रूप से बचते ही हैं, किन्तु देशविरति के आराधक श्रावको एव श्राविकाओ को भी ऐसे निरर्थक वाद से सदैव बचने की सावधानी रखनी चाहिए। आगे भी ऐसे ही त्याज्य वचनों का उल्लेख किया जा रहा है।

युद्धादि के उपदेश-आदेश

५७—अप्पमहउक्कोसगा य हम्मंतु पोयसत्था, सेण्णा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु य संगामा पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जण्णो अमुगम्मि य होउ दिवसेसु करणेसु मुहुत्तेसु णक्खत्तेसु तिहिसु य, अज्ज होउ ण्हवणं मुइयं बहुखज्जपिज्जकलियं कोउगं विण्हावणगं, संति-कम्माणि कुणह ससि-रवि-गहोवराग-विसमेसु सज्जणपरियणस्स य णियगस्स य जीवियस्स परिरक्ख-णट्ठयाए पडिसीसगाइं य देह दह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंस-भक्खण्ण-पाण-मल्लाणुलेवणपईव-जलि-उज्जलसुगंधि-धूवावगार-पुप्फ-फल-समिद्धे पायच्छित्ते करेह, पाणाइवायकरणेण बहुविहेणं विवरीउप्पायदुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमंगल-णिमित्त-पडिघायहेउ, वित्तिच्छेयं करेह, मा देह किंचि दाणं, सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ सुट्ठु छिण्णो भिण्णोत्ति उवदिसंता एवंविहं करेंति अलियं मणेण वायाए कम्मुणा य अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्म-णिरया अलियासु कहासु अभि-रमंता तुट्ठा अलियं करेत्तु होइ य बहुप्पयारं।

५७—छोटे, मध्यम और बड़े नौकादल या नौकाव्यापारियों या नौकायात्रियो के समूह को नष्ट कर दो, सेना (युद्धादि के लिए) प्रयाण करे, सग्रामभूमि मे जाए, घोर युद्ध प्रारभ हो, गाड़ी और नौका आदि वाहन चले, उपनयन (यज्ञोपवीत) सस्कार, चोलक—शिशु का मुण्डनसस्कार, विवाहसंस्कार, यज्ञ—ये सब कार्य अमुक दिनो में, वालव आदि करणों मे, अमृतसिद्धि आदि मुहूर्त्तों मे, अश्विनी

पुष्य आदि नक्षत्रों में और नन्दा आदि तिथियों में होने चाहिए। आज स्नपन-सौभाग्य के लिए स्नान करना चाहिए अथवा सौभाग्य एवं समृद्धि के लिए प्रमोद-स्नान कराना चाहिए—आज प्रमोदपूर्वक बहुत विपुल मात्रा में खाद्य पदार्थों एवं मदिरा आदि पेय पदार्थों के भोज के साथ सौभाग्यवृद्धि अथवा पुत्रादि की प्राप्ति के लिए वधू आदि को स्नान कराओ तथा (डोरा बांधना आदि) कौतुक करो। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण और अशुभ स्वप्न के फल को निवारण करने के लिए विविध मंत्रादि से संस्कारित जल से स्नान और शान्तिकर्म करो। अपने कुटुम्बीजनों की अथवा अपने जीवन की रक्षा के लिए कृत्रिम—आटे आदि से बनाये हुए प्रतिशीर्षक (सिर) चण्डी आदि देवियों की भेंट चढाओ। अनेक प्रकार की ओषधियों, मद्य, मांस, मिष्ठान्न, अन्न, पान, पुष्पमाला, चन्दन-लेपन, उबटन, दीपक, सुगन्धित धूप, पुष्पों तथा फलों से परिपूर्ण विधिपूर्वक बकरा आदि पशुओं के सिरों की बलि दो। विविध प्रकार की हिंसा करके अशुभ-सूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, दुःस्वप्न, अपशकुन, क्रूरग्रहों के प्रकोप, अमंगल सूचक अंगस्फुरण—भुजा आदि अवयवों का फड़कना, आदि के फल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट—समाप्त कर दो। किसी को कुछ भी दान मत दो। वह मारा गया, यह अच्छा हुआ। उसे काट डाला गया, यह ठीक हुआ। उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये, यह अच्छा हुआ।

इस प्रकार किसी के न पूछने पर भी आदेश-उपदेश अथवा कथन करते हुए, मन-वचन-काय से मिथ्या आचरण करने वाले अनार्य, अकुशल, मिथ्यामतों का अनुसरण करने वाले मिथ्या भाषण करते हैं। ऐसे मिथ्याधर्म में निरत लोग मिथ्या कथाओं में रमण करते हुए, नाना प्रकार से असत्य का सेवन करके सन्तोष का अनुभव करते हैं।

विवेचन—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य एवं हित और अहित के विवेक से रहित होने के कारण अकुशल, पापमय क्रियाओं का आदेश-उपदेश करने के कारण अनार्य एवं मिथ्याशास्त्रों के अनुसार चलने वाले, उन पर आस्था रखने वाले मृषावादी लोग असत्य भाषण करने में आनन्द अनुभव करते है, असत्य को प्रोत्साहन देते हैं और ऐसा करके दूसरों को भ्रान्ति में डालने के साथ-साथ अपनी आत्मा को अधोगति का पात्र बनाते हैं।

पूर्ववर्णित पापमय उपदेश के समान प्रस्तुत पाठ में भी कई ऐसे कर्मों का उल्लेख किया गया है जो लोक में प्रचलित हैं और जिनमें हिंसा होती है। उदाहरणार्थ—युद्ध सम्बन्धी आदेश-उपदेश स्पष्ट ही हिंसामय है। नौकादल को डुबा देना—नष्ट करना, सेना को सुसज्जित करना, उसे युद्ध के मैदान में भेजना आदि। इसी प्रकार देवी-देवताओं के आगे बकरा आदि की बलि देना भी एकान्त हिंसामय कुकृत्य है। कई अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि जीवित बकरे या भैंसे की बलि चढाने में पाप है पर आटे के पिण्ड से उसी की आकृति बनाकर बलि देने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु यह क्रिया भी घोर हिंसा का कारण होती है। कृत्रिम बकरे में बकरे का संकल्प होता है, अतएव उसका वध बकरे के वध के समान ही पापोत्पादक है। जैनागमों में प्रसिद्ध कालू कसाई का उदाहरण भी यही सिद्ध करता है, जो अपने शरीर के मैल से भैंसे बनाकर—मैल के पिण्डों में भैंसों का संकल्प करके उनका उपमर्दन करता था। परिणाम स्वरूप उसे नरक का अतिथि बनना पड़ा था।

प्रस्तुत पाठ से यह भी प्रतीत होता है कि आजकल की भांति प्राचीन काल में भी अनेक प्रकार की अन्धश्रद्धा—लोकमूढता प्रचलित थी। ऐसी अनेक अन्धश्रद्धाओं का उल्लेख यहाँ किया गया है।

शान्तिकर्म, होम, स्नान, यज्ञ आदि का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि आरम्भ-समारभ—हिंसा को उत्तेजन देने वाला प्रत्येक वचन, भले ही वह तथ्य हो या अतथ्य, मृषावाद मे ही परिगणित है। अतएव सत्यवादी सत्पुरुष को अपने सत्य की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हिंसाजनक अथवा हिंसाविधायक वचनो का भी परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसके सत्यभाषण का संकल्प टिक सकता है—उसका निरतिचाररूपेण परिपालन हो सकता है।

मृषावाद का भयानक फल

५८—तस्स य अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधयारे भमंति भीमे दुग्गइवसहिमुवगया। ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परवस्सा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिया फुडियच्छवि-बीभच्छ-विवण्णा, खरफरुसविरसज्झामज्झुसिरा, णिच्छाया, लल्लविफलवाया, असक्कय-मसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिण्णघोसा विहिंसा जडबहिरंधया[1] य मम्मणा अकंतविकयकरणा, णीया णीयजणणिसेविणो लोयगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेस्सा दुम्मेहा लोय-वेय-अज्झप्पसमयसुइवज्जिया, णरा धम्मबुद्धिवियला।

अलिएण य तेणं पडज्झमाणा असंतएण य अवमाणणपिट्ठिमंसाहिक्खेव-पिसुण-भेयण-गुरुबंधव-सयण-मित्तवक्खारणाइयाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावेंति अमणोरमाइं हिययमणदूमगाइं जावज्जीवं दुरुद्धराइं अणिट्ठ-खरफरुसवयण-तज्जण-णिब्भच्छणदीणवयणविमला कुभोयणा कुवाससा कुवसहीसु किलिस्संता णेव सुहं णेव णिव्वुइं उवलभंति अच्चंत-विउलदुक्खसयसंपलित्ता।[2]

५८—पूर्वोक्त मिथ्याभाषण के फल-विपाक से अनजान वे मृषावादी जन नरक और तिर्यञ्च योनि की वृद्धि करते हैं, जो अत्यन्त भयकर हैं, जिनमे विश्रामरहित—निरन्तर—लगातार वेदना भुगतनी पडती है और जो दीर्घकाल तक बहुत दु खो से परिपूर्ण हैं। (नरक—तिर्यंच योनियो मे लम्बे समय तक घोर दु खो का अनुभव करके शेष रहे कर्मों को भोगने के लिए) वे मृषावाद मे निरत—लीन नर भयकर पुनर्भव के अन्धकार मे भटकते हैं। उस पुनर्भव मे भी दुर्गति प्राप्त करते हैं, जिनका अन्त बड़ी कठिनाई से होता है। वे मृषावादी मनुष्य पुनर्भव (इस भव) मे भी पराधीन होकर जीवन यापन करते है। वे अर्थ और भोगो से परिवर्जित होते है अर्थात् उन्हे न तो भोगोपभोग का साधन अर्थ (धन) प्राप्त होता है और न वे मनोज्ञ भोगो-पभोग ही प्राप्त कर सकते हैं। वे (सदा) दु.खी रहते हैं। उनकी चमडी बिवाई, दाद, खुजली आदि से फटी रहती है, वे भयानक दिखाई देते हैं और विवर्ण—कुरूप होते हैं। कठोर स्पर्श वाले, रतिविहीन—बेचैन, मलीन एव सारहीन शरीर वाले होते है। शोभाकान्ति से रहित होते हैं। वे अस्पष्ट और विफल वाणी वाले होते हैं अर्थात् न तो स्पष्ट उच्चारण कर सकते हैं और न उनकी वाणी सफल होती है। वे सस्काररहित (गवार) और सत्कार से रहित होते हैं—उनका कही सम्मान नही होता। वे दुर्गन्ध से व्याप्त, विशिष्ट चेतना से विहीन, अभागे, अकान्त—

---

१. जडबहिरमूया—पाठ भी मिलता है।

२. सपउत्ता—पाठ भी है।

अनिच्छनीय—अकमनीय, काक के समान अनिष्ट स्वर वाले, धीमी और फटी हुई आवाज वाले, विहिंस्य—दूसरो के द्वारा विशेष रूप से सताये जाने वाले, जड, वधिर, अधे, गू गे और अस्पष्ट उच्चारण करने वाले—तोतली बोली बोलने वाले, अमनोज्ञ तथा विकृत इन्द्रियो वाले, जाति, कुल, गोत्र तथा कार्यों से नीच होते है। उन्हें नीच लोगो का सेवक—दास बनना पड़ता है। वे लोक मे गर्हा के पात्र होते है—सर्वत्र निन्दा एव धिक्कार प्राप्त करते है। वे भृत्य—चाकर होते हैं और सदृश—असमान—विरुद्ध आचार-विचार वाले लोगो के आज्ञापालक या द्वेषपात्र होते हैं। वे दुर्बु द्धि होते है अत· लौकिक शास्त्र—महाभारत, रामायण आदि, वेद—ऋग्वेद आदि, आध्यात्मिक शास्त्र—कर्मग्रन्थ तथा समय—आगमो या सिद्धान्तो के श्रवण एव ज्ञान से रहित होते हैं। वे धर्मबुद्धि से रहित होते है।

उस अशुभ या अनुपशान्त असत्य की अग्नि से जलते हुए वे मृषावादी अपमान, पीठ पीछे होने वाली निन्दा, आक्षेप—दोषारोपण, चुगली, परस्पर की फूट अथवा प्रेमसम्बन्धो का भग आदि की स्थिति प्राप्त करते हैं। गुरुजनो, बन्धु-बान्धवों, स्वजनो तथा मित्रजनों के तीक्ष्ण वचनों से अनादर पाते हैं। अमनोरम, हृदय और मन को सन्ताप देने वाले तथा जीवनपर्यन्त कठिनाई से मिटने वाले—जिनका प्रतीकार सम्पूर्ण जीवन मे भी कठिनाई से हो सके या न हो सके ऐसे अनेक प्रकार के मिथ्या आरोपो को वे प्राप्त करते हैं। अनिष्ट-अप्रिय, तीक्ष्ण, कठोर और मर्मवेधी वचनो से तर्जना, झिडकियो और धिक्कार—तिरस्कार के कारण दीन मुख एव खिन्न चित्त वाले होते हैं। वे खराब भोजन वाले और मैले—कुचेले तथा फटे वस्त्रो वाले होते है, अर्थात् मृषावाद के परिणामस्वरूप उन्हे न अच्छा भोजन प्राप्त होता है, न पहनने—ओढने के लिए अच्छे वस्त्र ही नसीब होते हैं। उन्हे निकृष्ट वस्ती में क्लेश पाते हुए अत्यन्त एव विपुल दु·खों की अग्नि मे जलना पडता है। उन्हे न तो शारीरिक सुख प्राप्त होता है और न मानसिक शान्ति ही मिलती है।

विवेचन—यहाँ मृषावाद के दुष्फल का लोमहर्षक चित्र उपस्थित किया गया है। प्रारम्भ मे कहा गया है कि मृषावाद के फल को नही जानने वाले अज्ञान जन मिथ्या भाषण करते हैं। वास्तव में जिनको असत्यभाषण के यहाँ प्ररूपित फल का वास्तविक ज्ञान नही है अथवा जो जान कर भी उस पर पूर्ण प्रतीति नही करते, वे भी अनजान की श्रेणी में ही परिगणित होते है।

हिसा का फल-विपाक बतलाते हुए शास्त्रकार ने नरक और तिर्यंच गति मे प्राप्त होने वाले दु खो का विस्तार से निरूपण किया है। मृषावाद का फल ही दीर्घकाल तक नरक और तिर्यंच गतियों मे रहकर अनेकानेक भयानक दु·खों को भोगना बतलाया गया है। अत. यहाँ भी पूर्ववर्णित दु खो को समझ लेना चाहिए।

असत्यभाषण को साधारण जन सामान्य या हल्का दोष मानते है और साधारण-सी स्वार्थसिद्धि के लिए, दूसरो को धोखा देने के लिए, क्रोध से प्रेरित होकर, लोभ के वशीभूत होकर, भय के कारण अथवा हास्य-विनोद मे लीन होकर असत्य भाषण करते है। उन्हे इसके दुष्परिणाम की चिन्ता नही होती। शास्त्रकार ने यहाँ बतलाया है कि मृषावाद का फल इतना गुरुतर एव भयकर होता है कि नरकगति और तिर्यंचगति के भयानक कष्टों को दीर्घ काल पर्यन्त भोगने के पश्चात् भी उनसे पिण्ड नही छूटता। उसका फल जो शेष रह जाता है उसके प्रभाव से मृषावादी जब मनुष्यगति मे उत्पन्न होता है तब भी वह अत्यन्त दुरवस्था का भागी

होता है। दीनता, दरिद्रता उसका पीछा नही छोडती। सुख-साधन उसे प्राप्त नही होते। उनका शरीर कुरूप, फटी चमड़ी वाला, दाद, खाज, फोड़ो-फुन्सियो से व्याप्त रहता है। उनके शरीर से दुर्गन्ध फूटती है। उन्हे देखते ही दूसरों को ग्लानि होती है।

मृषावादी की बोली अस्पष्ट होती है। वे सही उच्चारण नही कर पाते। उनमे से कई तो गू गे ही होते है। उनका भाषण अप्रिय, अनिष्ट और अरुचिकर होता है।

उनका न कही सत्कार-सन्मान होता है, न कोई आदर करता है। काक सरीखा अप्रीति-जनक उनका स्वर सुन कर लोग घृणा करते है। वे सर्वत्र ताडना-तर्जना के भागी होते हैं। मनुष्यभव पाकर भी वे अत्यन्त अधम अवस्था मे रहते हैं। जो उनमे भी अधम है, उन्हे उनकी दासता करनी पडती है। रहने के लिए खराब वस्ती, खाने के लिए खराब भोजन और पहनने के लिए गदे एव फटे-पुराने कपड़े मिलते हैं।

तात्पर्य यह कि मृषावाद का फल-विपाक अतीव कष्टप्रद होता है और अनेक भवो मे उसे भुगतना पडता है। मृषावादी नरक-तिर्यच गतियो की दारुण वेदनाओ को भोगने के पश्चात् जब मानव योनि मे आता है, तब भी वह सर्व प्रकार से दु खी ही रहता है। शारीरिक और मानसिक क्लेश उसे निरन्तर अशान्त एव आकुल-व्याकुल बनाये रखते है। उस पर अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे दोषारोपण किए जाते है, जिनके कारण वह घोर सन्ताप की ज्वालाओ मे निरन्तर जलता रहता है।

इस प्रकार का मृषावाद का कटुक फल-विपाक जान कर विवेकवान् पुरुषो को असत्य से विरत होना चाहिए।

फल-विपाक की भयंकरता

५९ (क)—एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वास-सहस्सेहिं मुच्चइ, ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति।

एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसि य अलियवयणस्स फलविवागं।

५९ (क)—मृषावाद का यह (पूर्वोक्त) इस लोक और परलोक सम्बन्धी फल विपाक है। इस फल-विपाक मे सुख का अभाव है और दु खो की ही बहुलता है। यह अत्यन्त भयानक है और प्रगाढ कर्म-रज के बन्ध का कारण है। यह दारुण है, कर्कश है और असातारूप है। सहस्रो वर्षों मे इससे छुटकारा मिलता है। फल को भोगे विना इस पाप से मुक्ति नही मिलती—इसका फल भोगना ही पड़ता है।

ज्ञातकुलनन्दन, महान् आत्मा वीरवर महावीर नामक जिनेश्वर देव ने मृषावाद का यह फल प्रतिपादित किया है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में मृषावाद के कटुक फलविपाक का उपसंहार करते हुए तीन बातों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है—

१. असत्य भाषण का जो पहले और यहाँ फल निरूपित किया गया है, वह सूत्रकार ने स्वकीय मनीषा से नहीं निरूपित किया है किन्तु ज्ञातकुलनन्दन भगवान् महावीर जिन के द्वारा प्ररूपित है। यह लिख कर शास्त्रकार ने इस समग्र कथन की प्रामाणिकता प्रकट की है। भगवान् के लिए 'जिन' विशेषण का प्रयोग किया गया है। जिन का अर्थ है—वीतराग—राग-द्वेष आदि विकारों के विजेता। जिसने पूर्ण वीतरागता—जिनत्व-प्राप्त कर लिया है, वे अवश्य ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। इस प्रकार वीतराग और सर्वज्ञ की वाणी एकान्ततः सत्य ही होती है, उसमे असत्य की आशका हो ही नही सकती। क्योंकि कषाय और अज्ञान ही मिथ्याभाषण के कारण होते है—या तो वास्तविक ज्ञान न होने से असत्य भाषण होता है, अथवा किसी कषाय से प्रेरित होकर मनुष्य असत्य भाषण करता है। जिनमे सर्वज्ञता होने से अज्ञान नही है और वीतरागता होने से कषाय का लेश भी नही है, उनके वचनो मे असत्य की सभावना भी नही की जा सकती। आगम मे इसीलिए कहा है—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

अर्थात् जिनेन्द्रो ने जो कहा है वही सत्य है और उस कथन मे शका के लिए कुछ भी स्थान नही है।

इस प्रकार यहाँ प्रतिपादित मृषावाद के फलविपाक को पूर्णरूपेण वास्तविक समझना चाहिए।

२—सूत्रकार ने दूसरा तथ्य प्रकट किया है कि मृषावाद के फल को सहस्रो वर्षों तक भोगना पडता है। यहाँ मूल पाठ में **'वाससहस्सेहिं'** पद का प्रयोग किया गया है। यह पद यहाँ दीर्घ काल का वाचक समझना चाहिए। जैसे **'मुहुत्त'** शब्द स्तोक काल का भी वाचक होता है, वैसे ही 'वाससहस्सेहिं' पद लम्बे समय का वाचक है। अथवा 'सहस्र' शब्द में बहुवचन का प्रयोग करके सूत्रकार ने दीर्घकालिक फलभोग का अभिप्राय प्रकट किया है।

३—तीसरा तथ्य यहाँ फल की अवश्यमेव उपभोग्यता कहा है। असत्य भाषण का दारुण दु:खमय फल भोगे विना जीव को उससे छुटकारा नही मिलता। क्योंकि वह विपाक **'बहुरयप्पगाढो'** होता है, अर्थात् अलीक भाषण से जिन कर्मों का बध होता है, वे बहुत गाढे चिकने होते हैं, अतएव विपाकोदय से भोगने पड़ते हैं।

यो तो कोई भी बद्ध कर्म भोगे विना नही निर्जीर्ण होता—छूटता। विपाक द्वारा अथवा प्रदेशो द्वारा उमे भोगना हो पडता है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे होते है जो केवल प्रदेशो से उदय मे आकर ही निर्जीर्ण हो जाते है, उनके विपाक-फल का अनुभव नही होता। किन्तु गाढ रूप में बद्ध कर्म विपाक द्वारा ही भोगने पडते है। असत्य भाषण एक घोर पाप है और जब वह तीव्रभाव से किया जाता है तो गाढ कर्मबध का कारण होता है। उसे भोगना ही पडता है।

उपसंहार

५९ (ख)—एयं तं बिइयं पि अलियवयणं लहुसग-लहु-चवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकरगं अरइ-रइ-राग-दोस-मणसंकिलेस-वियरणं अलिय-णियडि-साइजोगबहुलं णीयजणणिसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारगं परम-साहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकण्हलेस्ससहियं दुग्गइ-विणिवाय-वड्ढणं पुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं।

॥ बिइयं अहम्मदारं समत्तं ॥

५९ (ख)—यह दूसरा अधर्मद्वार—मृषावाद है। छोटे—तुच्छ और चंचल प्रकृति के लोग इसका प्रयोग करते—बोलते हैं अर्थात् महान् एवं गम्भीर स्वभाव वाले मृषावाद का सेवन नही करते। यह मृषावाद भयकर है, दुःखकर है, अपयशकर है, वैरकर—वैर का कारण—जनक है। अरति, रति, राग-द्वेष एव मानसिक सक्लेश को उत्पन्न करने वाला है। यह झूठ, निष्फल कपट और अविश्वास की बहुलता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशस—निर्दय एव निर्घृण है। अविश्वास-कारक है—मृषावादी के कथन पर कोई विश्वास नही करता। परम साधुजनो—श्रेष्ठ सत्पुरुषो द्वारा निन्दनीय है। दूसरों को पीडा उत्पन्न करने वाला और परम कृष्णलेश्या से सयुक्त है। दुर्गति—अधोगति मे निपात का कारण है, अर्थात् असत्य भाषण से अधःपतन होता है, पुनः पुन. जन्म-मरण का कारण है, अर्थात् भव-भवान्तर का परिवर्तन करने वाला है। चिरकाल से परिचित है—अनादि काल से लोग इसका सेवन कर रहे हैं, अतएव अनुगत है—उनके साथ चिपटा है। इसका अन्त कठिनता से होता है अथवा इसका परिणाम दु खमय ही होता है।

॥ द्वितीय अधर्मद्वार समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन : अदत्तादान

दूसरे मृषावाद--आस्रवद्वार के निरूपण के पश्चात् अब तीसरे अदत्तादान-आस्रव का निरूपण किया जाता है, क्योंकि मृषावाद और अदत्तादान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अदत्तादान करने वाला प्रायः असत्य भाषण करता है। सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण प्रस्तुत है:—

अदत्त का परिचय

६०—जंबू ! तइयं च अदिण्णादाणं हर-दह-मरणभय-कलुस-तासण-परसंतिग-अभेज्ज-लोभ-मूलं कालविसमसंसियं अहोऽच्छिण्ण-तण्हपत्थाण-पत्थोइमइयं अकित्तिकरणं अणज्जं छिद्दमंतर-विहुर-वसण-मग्गण-उस्सवमत्त-प्पमत्त पसुत्त-वंचणक्खिवण-घायणपरं अणिहुयपरिणाम तक्कर-जणबहुमय अकलुण रायपुरिस-रक्खिय सया साहु-गरहणिज्जं पियजण-मित्तजण-भेय-विप्पिइकारगं रागदोसबहुल पुणो य उप्पूरसमरसगामडमर-कलिकलहवेहकरणं दुग्गइविणिवायवड्ढणं-भवपुणब्भवकर चिरपरिचिय-मणुगयं दुरंतं । तइयं अहम्मदारं ।

६०—श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! तीसरा अधर्मद्वार अदत्तादान—अदत्त—विना दी गई किसी दूसरे की वस्तु को आदान—ग्रहण करना, है। यह अदत्ता-दान (परकीय पदार्थ का) हरण रूप है। हृदय को जलाने वाला है। मरण और भय रूप अथवा मरण-भय रूप है। पापमय होने से कलुषित—मलीन है। परकीय धनादि मे रौद्रध्यानस्वरूप मूर्च्छा—लोभ ही इसका मूल है। विषमकाल—आधी रात्रि आदि और विषमस्थान—पर्वत, सघन वन आदि स्थानो पर आश्रित है अर्थात् चोरी करने वाले विषम काल और विषम देश की तलाश मे रहते हैं। यह अदत्तादान निरन्तर तृष्णाग्रस्त जीवो को अधोगति की ओर ले जाने वाली बुद्धि वाला है अर्थात् अदत्तादान करने वाले की बुद्धि ऐसी कलुषित हो जाती है कि वह अधोगति मे ले जाती है। अदत्ता-दान अपयश का कारण है, अनार्य पुरुषो द्वारा आचरित है, आर्य—श्रेष्ठ मनुष्य कभी अदत्तादान नही करते। यह छिद्र—प्रवेशद्वार, अन्तर—अवसर, विधुर—अपाय एव व्यसन—राजा आदि द्वारा उत्पन्न की जाने वाली विपत्ति का मार्गण करने वाला—उसका पात्र है। उत्सवो के अवसर पर मदिरा आदि के नशे मे बेभान, असावधान तथा सोये हुए मनुष्यो को ठगने वाला, चित्त मे व्याकुलता उत्पन्न करने और घात करने मे तत्पर है तथा अशान्त परिणाम वाले चोरो द्वारा बहुमत—अत्यन्त मान्य है। यह करुणाहीन कृत्य—निर्दयता से परिपूर्ण कार्य है, राजपुरुषो—चौकीदार, कोतवाल, पुलिस आदि द्वारा इसे रोका जाता है। सदैव साधुजनो—सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है। प्रियजनो तथा मित्रजनो मे (परस्पर) फूट और अप्रीति उत्पन्न करने वाला है। राग और द्वेष की बहुलता वाला है। यह बहुतायत से मनुष्यो को मारने वाले संग्रामो, स्वचक्र-परचक्र सम्बन्धी डमरों—विप्लवो, लडाई—झगडो, तकरारो एव पश्चात्ताप का कारण है। दुर्गति—पतन मे वृद्धि करने वाला, भव-पुनर्भव—वारवार जन्म-मरण कराने वाला, चिरकाल—सदाकाल से परिचित, आत्मा के साथ लगा हुआ—जीवो का पीछा करने वाला और परिणाम मे—अन्त मे दु:खदायी है। यह तीसरा अधर्मद्वार—अदत्तादान ऐसा है।

विवेचन—जो वस्तु वास्तव मे अपनी नही है—परायी है, उसे उसके स्वामी की स्वीकृति या अनुमति के विना ग्रहण कर लेना—अपने अधिकार में ले लेना अदत्तादान कहलाता है। हिंसा और मृषावाद के पश्चात् यह तीसरा अधर्मद्वार—पाप है।

शास्त्र मे चार प्रकार के अदत्त कहे गए हैं—(१) स्वामी द्वारा अदत्त (२) जीव द्वारा अदत्त (३) गुरु द्वारा अदत्त और (४) तीर्थंकर द्वारा अदत्त। इन चारो मे से प्रत्येक के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार-चार भेद होते हैं। अतएव सब मिल कर अदत्त के १६ भेद हैं।

महाव्रती साधु और साध्वी सभी प्रकार के अदत्त का पूर्ण रूप से—तीन करण और तीन योग से त्याग किए हुए होते है। वे तृण जैसी तुच्छातितुच्छ, जिसका कुछ भी मूल्य या महत्त्व नही, ऐसी वस्तु भी अनुमति विना ग्रहण नही करते हैं। गृहस्थो में श्रावक और श्राविकाएँ स्थूल अदत्तादान के त्यागी होते है। जिस वस्तु को ग्रहण करना लोक मे चोरी कहा जाता है और जिसके लिए शासन की ओर से दण्डविधान है, ऐसी वस्तु के अदत्त ग्रहण को स्थूल अदत्तादान कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे सामान्य अदत्तादान का स्वरूप प्रदर्शित किया है।

अदत्तादान करने वाले व्यक्ति प्रायः विषम काल और विषम देश का सहारा लेते हैं। रात्रि मे जब लोग निद्राधीन हो जाते है तब अनुकूल अवसर समझ कर चोर अपने काम मे प्रवृत्त होते हैं और चोरी करने के पश्चात् गुफा, बीहड़ जगल, पहाड आदि विषम स्थानो मे छिप जाते है, जिससे उनका पता न लग सके।

धनादि की तीव्र तृष्णा, जो कभी शान्त नही होती, ऐसी कलुषित बुद्धि उत्पन्न कर देती है, जिससे मनुष्य चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त होकर नरकादि अधम गति का पात्र बनता है।

अदत्तादान को अकीर्त्तिकर बतलाया गया है। यह सर्वानुभवसिद्ध है। चोर की ऐसी अपकीर्त्ति होती है कि उसे कही भी प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती। उस पर कोई विश्वास नही करता।

चोरी अनार्य कर्म है। आर्य—श्रेष्ठ जन तीव्रतर अभाव से ग्रस्त होकर और अनेकविध कठिनाइयाँ झेलकर, घोर कष्टो को सहन कर, यहाँ तक कि प्राणत्याग का अवसर आ जाने पर भी चौर्य कर्म मे प्रवृत्त नही होते। किन्तु आधुनिक काल मे चोरी के कुछ नये रूप आविष्कृत हो गए है और कई लोग यहाँ तक कहते सुने जाते है कि 'सरकार की चोरी, चोरी नही है।' ऐसा कह या समझकर जो लोग कर-चोरी आदि करते है, वे जाति या कुल आदि की अपेक्षा से भले आर्य हो परन्तु कर्म से अनार्य है। प्रस्तुत पाठ मे चोरी को स्पष्ट रूप मे अनार्य कर्म कहा है। इसी कारण साधुजनो—सत्पुरुषो द्वारा यह गर्हित—निन्दित है।

अदत्तादान के कारण प्रियजनो एव मित्रो मे भी भेद—फूट उत्पन्न हो जाता है। मित्र, शत्रु बन जाते हैं। प्रेमी भी विरोधी हो जाते हैं। इसकी बदौलत भयकर नरसहारकारी सग्राम होते है, लड़ाई-झगडा होता है, रार-तकरार होती है, मार-पीट होती है।

स्तेयकर्म मे लिप्त मनुष्य वर्तमान जीवन को ही अनेक दु खो से परिपूर्ण नही बनाता, अपितु भावी जीवन को भी विविध वेदनाओ से परिपूर्ण बना लेता है एव जन्म-मरण रूप ससार की वृद्धि करता है।

अदत्तादान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए शास्त्रकार ने और भी अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है, जिनको सरलता से समझा जा सकता है।

अदत्तादान के तीस नाम

६१—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा—१ चोरिक्कं २ परहडं ३ अदत्तं ४ कूरिकडं ५ परलाभो ६ असंजमो ७ परधणम्मि गेही ८ लोलिक्कं ९ तक्करत्तणं त्ति य १० अवहारो ११ हत्थलहुत्तणं १२ पावकम्मकरणं १३ तेणिक्कं १४ हरणविप्पणासो १५ आदियणा १६ लुंपणा धणाणं १७ अप्पच्चओ १८ अवीलो १९ अक्खेवो २० खेवो २१ विक्खेवो २२ कूडया २३ कुलमसी य २४ कंखा २५ लालप्पणपत्थणा य २६ आससणाय वसणं २७ इच्छामुच्छा य २८ तण्हागेही २९ णियडिकम्मं ३० अप्परच्छंति वि य । तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीसं अदिण्णादाणस्स पावकलिकलुस-कम्मबहुलस्स अणेगाइं ।

६१—पूर्वोक्त स्वरूप वाले अदत्तादान के गुणनिष्पन्न—यथार्थ तीस नाम हैं । वे इस प्रकार हैं—

१ चोरिक्क—चौरिक्य—परकीय वस्तु चुरा लेना ।

२. परहड—परहृत—दूसरे से हरण कर लेना ।

३. अदत्त—अदत्त—स्वामी के द्वारा दिए विना लेना ।

४. कूरिकड—क्रूरिकृतम्—क्रूर लोगो द्वारा किया जाने वाला कर्म ।

५ परलाभ—दूसरे के श्रम से उपार्जित वस्तु आदि लेना ।

६. असजम—चोरी करने से असयम होता है—सयम का विनाश हो जाता है, अत यह असयम है ।

७. परधणमि गेही—परधने गृद्धि—दूसरे के धन मे आसक्ति—लोभ-लालच होने पर चोरी की जाती है, अतएव इसे परधनगृद्धि कहा है ।

८. लोलिक्क—लौल्य—परकीय वस्तु सबधी लोलुपता ।

९ तक्करत्तण—तस्करत्व—तस्कर—चोर का काम ।

१०. अवहार—अपहार—स्वामी इच्छा विना लेना ।

११ हत्थलहुत्तण—हस्तलघुत्व—चोरी करने के कारण जिसका हाथ कुत्सित है उसका कर्म अथवा हाथ की चालाकी ।

१२ पावकम्मकरण—पापकर्मकरण—चोरी पाप कर्म है, उसे करना पापकर्म का आचरण करना है ।

१३. तेणिक्क—स्तेनिका—चोर—स्तेन का कार्य ।

१४. हरणविप्पणास—हरणविप्रणाश—परायी वस्तु को हरण करके उसे नष्ट करना ।

१५. आदियणा—आदान—परधन को ले लेना ।

१६ धणाण लुपना—धनलुम्पता—दूसरे के धन को लुप्त करना ।

१७. अप्पच्चअ—अप्रत्यय—अविश्वास का कारण ।

१८. ओवील—अवपीड—दूसरे को पीडा उपजाना, जिसकी चोरी की जाती है, उसे पीडा अवश्य होती है ।

१९. अक्खेव—आक्षेप—परकीय द्रव्य को अलग रखना या उसके स्वामी पर अथवा द्रव्य पर झपटना ।[1]

२०. खेव—क्षेप—किसी की वस्तु छीन लेना ।[2]

२१. विक्खेव—विक्षेप—परकीय वस्तु लेकर इधर-उधर कर देना, फेंक देना अथवा नष्ट कर देना ।[3]

२२. कूडया—कूटता—तराजू, तोल, माप आदि मे बेईमानी करना, लेने के लिए बड़े और देने के लिए छोटे बांट आदि का प्रयोग करना ।

२३ कुलमसी—कुलमषि—कुल को मलीन—कलंकित करने वाली ।

२४ कंखा—कांक्षा—तीव्र इच्छा होने पर चोरी की जाती है अतएव चोरी का मूल कारण होने से यह कांक्षा कहलाती है ।

२५ लालप्पणपत्थणा—लालपन-प्रार्थना—निन्दित लाभ की अभिलाषा करने से यह लालपन-प्रार्थना है ।

२६ वसण—व्यसन—विपत्तियो का कारण ।

२७ इच्छा-मुच्छा—इच्छामूर्च्छा—परकीय धन मे या वस्तु में इच्छा एव आसक्ति होने के कारण इसे इच्छा-मूर्छा कहा गया है ।

२८ तण्हा-गेही—तृष्णा-गृद्धि—प्राप्त द्रव्य का मोह और अप्राप्त की आकांक्षा ।

२९ नियडिकम्म—निकृतिकर्म—कपटपूर्वक अदत्तादान किया जाता है, अत. यह निकृतिकर्म है ।

३० अपरच्छति—अपराक्ष—दूसरो की नजर बचाकर यह कार्य किया जाता है, अतएव यह अपराक्ष है ।

इस प्रकार पापकर्म और कलह से मलीन कार्यों की बहुलता वाले इस अदत्तादान आस्रव के ये और इस प्रकार के अन्य अनेक नाम है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे अदत्तादान नामक तीसरे आस्रव के तीस नामों का उल्लेख किया गया है ।

किसी की कोई वस्तु असावधानी से कही गिर गई हो, भूल से रह गई हो, जानबूझ कर रक्खी हो, उसे उसके स्वामी की आज्ञा, अनुमति या इच्छा के बिना ग्रहण कर लेना, चोरी कहलाती है ।

पहले कहा जा चुका है कि तिनका, मिट्टी, रेत आदि वस्तुएँ, जो सभी जनो के उपयोग के लिए मुक्त हैं, जिनके ग्रहण करने का सरकार की ओर से निषेध नही है, जिसका कोई स्वामीविशेष नही है या जिसके स्वामी ने अपनी वस्तु सर्वसाधारण के उपयोग के लिए मुक्त कर रक्खी है, उसको ग्रहण करना व्यवहार की दृष्टि से चोरी नही है । स्थूल अदत्तादान का त्यागी गृहस्थ यदि उसे ग्रहण कर लेता है तो उसके व्रत मे बाधा नही आती । लोकव्यवहार मे वह चोरी कहलाती भी नही है । परन्तु तीन करण और तीन योग से अदत्तादान के त्यागी साधुजन ऐसी वस्तु को भी ग्रहण नही कर सकते । आवश्यकता होने पर वे शक्रेन्द्र की अनुमति लेकर ही ग्रहण करते है ।

अदत्तादान के तीस नाम जो बतलाए गए हैं, उनमे पुनरुक्ति नही है । वास्तव मे वे उसके विविध प्रकारों—नाना रूपों को सूचित करते हैं । इन नामो से चौर्यकर्म की व्यापकता का परिबोध होता है ।

१-२-३. प्रश्नव्याकरणसूत्र (सन्मतिज्ञान पीठ), पृ २४३

अतएव ये नाम महत्त्वपूर्ण हैं और जो अदत्तादान से बचना चाहते हैं, उन्हे इन नामों के अर्थ पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए और उससे अपने-आपको बचाना चाहिए।

शास्त्रकार ने सूत्र के अन्त मे यह स्पष्ट निर्देश किया है कि अदात्तादान के यह तीस ही नाम हैं, ऐसा नही समझना चाहिए। ये नाम उपलक्षण हैं। इनके अनुरूप अन्य अनेक नाम भी हो सकते हैं। अन्य आगमों से अनेक प्रकार के स्तेनो—चोरो का उल्लेख मिलता है। यथा—

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देव किब्बिस ॥ —दशवैकालिक, ५-४६

अर्थात् जो साधु तप.स्तेन, व्रतस्तेन, रूपस्तेन, अथवा आचारभाव का स्तेन—चोर होता है, वह तप और व्रत के प्रभाव से यदि देवगति पाना तो वहाँ भी वह किल्विष देव होता है—निम्न कोटि—हीन जाति—अछूत—सरीखा होता है।

इसी शास्त्र मे आगे कहा गया है कि उसे यह पता नहीं होता कि किस प्रकार का दुराचरण करने के कारण उसे किल्विष देव के रूप मे उत्पन्न होना पडा है। वह उस हीन देवपर्याय से जब विलग होता है तो उसे गूंगे बकरा जसे पर्याय मे जन्म लेना पड़ता है और फिर नरक तथा तिर्यंच योनि के दु.खो का पात्र बनना पड़ता है।

चौर्यकर्म के विविध प्रकार

६२—ते पुण करेंति चोरियं तक्करा परदव्वहरा छेया, कयकरणलद्ध-लक्खा साहसिया लहुस्सगा अइमहिच्छलोभगत्था दद्दरओवीलका य गेहिया अहिमरा अणभंजगा भग्गसंधिया रायदुट्ठकारी य विसयणिच्छूढ-लोकवज्झा उद्दोहग-गामघायग-पुरघायग पंथघायग-आलीवग-तित्थभेया लहुहत्थ-संपउत्ता जूइकरा खंडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-संधिच्छेया य, गंथीभेयग-परधण-हरण लोमावहारा अक्खेवी हडकारगा णिम्मद्दगगूढचोरग-गोचोरग-अस्सचोरग-दासीचोरा य एकचोरा ओकड्ढग-संपदायग-उच्छिपग-सत्थघायग-बिलचोरीकारगा[1] य णिग्गाहविप्पलुंपगा बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी एए अण्णे य एवमाई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

६२—उस (पूर्वोक्त) चोरी को वे चोर—लोग करते है जो परकीय द्रव्य को हरण करने वाले हैं, हरण करने मे कुशल हैं, अनेको बार चोरी कर चुके है और अवसर को जानने वाले हैं, साहसी है—परिणाम की अवगणना करके भी चोरी करने मे प्रवृत्त हो जाते है, जो तुच्छ हृदय वाले, अत्यन्त महती इच्छा—लालसा वाले एव लोभ से ग्रस्त हैं, जो वचनो के आडम्बर से अपनी असलियत को छिपाने वाले है या दूसरो को लज्जित करने वाले है, जो दूसरो के धनादि मे गृद्ध—आसक्त हैं, जो सामने से सीधा प्रहार करने वाले है—सामने आए हुए को मारने वाले हैं, जो लिए हुए ऋण को नही चुकाने वाले हैं, जो की हुई सन्धि अथवा प्रतिज्ञा या वायदे को भग करने वाले हैं, जो राजकोष आदि को लूट कर या अन्य प्रकार से राजा—राज्यशासन का अनिष्ट करने वाले हैं, देशनिर्वासन

१. 'बिल कोली कारगा'—पाठ भेद।

दिए जाने के कारण जो जनता द्वारा बहिष्कृत हैं, जो घातक हैं या उपद्रव (दंगा आदि) करने वाले है, ग्रामघातक, नगरघातक, मार्ग मे पथिकों को लूटने वाले या मार डालने वाले हैं, आग लगाने वाले और तीर्थ मे भेद करने वाले है,[1] जो (जादूगरो की तरह) हाथ की चालाकी वाले है—जेब या गांठ काट लेने में कुशल हैं, जो जुआरी हैं, खण्डरक्ष—चुगी लेने वाले या कोतवाल हैं, स्त्रीचोर है—जो स्त्री को या स्त्री की वस्तु को चुराते है अथवा स्त्री का वेष धारण करके चोरी करते हैं, जो पुरुष की वस्तु को अथवा (आधुनिक डकैतो की भाति फिरौती लेने आदि के उद्देश्य से) पुरुष का अपहरण करते है, जो खात खोदने वाले हैं, गाठ काटने वाले है, जो परकीय धन का हरण करने वाले है, (जो निर्दयता या भय के कारण अथवा आतक फलाने के लिए) मारने वाले हैं, जो वशीकरण आदि का प्रयोग करके धनादि का अपहरण करने वाले है, सदा दूसरो के उपमर्दक, गुप्तचोर, गो-चोर—गाय चुराने वाले, अश्व-चोर एव दासो को चुराने वाले हैं, अकेले चोरी करने वाले, घर मे से द्रव्य निकाल लेने वाले, चोरो को बुलाकर दूसरे के घर मे चोरी करवाने वाले, चोरो की सहायता करने वाले, चोरो को भोजनादि देने वाले, उच्छिपक—छिप कर चोरी करने वाले, सार्थ—समूह को लूटने वाले, दूसरो को धोखा देने के लिए बनावटी आवाज मे बोलने वाले, राजा द्वारा निगृहीत—दडित एव छलपूर्वक राजाज्ञा का उल्लघन करने वाले, अनेकानेक प्रकार से चोरी करके परकीय द्रव्य हरण करने की बुद्धि वाले, ये लोग और इसी कोटि के अन्य-अन्य लोग, जो दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने की-इच्छा से निवृत्त (विरत) नही है अर्थात् अदत्तादान के त्यागी नही हैं—जिनमे परधन के प्रति लालसा विद्यमान है, वे चौर्य कर्म मे प्रवृत्त होते हैं।

विवेचन—चोरो के नामो का उल्लेख करके सूत्रकार ने उसके व्यापक स्वरूप का प्रतिपादन किया था। तत्पश्चात् यहाँ का निरूपण किया गया है कि चोरी करने वाले लोग किस श्रेणी के होते हैं? किन-किन तरीको से वे चोरी करते है? कोई छिप कर चोरी करते है तो कोई सामने से प्रहार करके, आक्रमण करके करते है, कोई वशीकरण मत्र आदि का प्रयोग करके दूसरो को लूटते हैं, कोई धनादि का, कोई गाय-भैंस-बैल-ऊंट-अश्व आदि पशुओ का हरण करते हैं, यहाँ तक कि नारियो और पुरुषो का भी अपहरण करते है। कोई राहगीरो को लूटते है तो कोई राज्य के खजाने को—आधुनिक काल मे बेंक आदि को भी शस्त्रो के बल पर लूट लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त चोरी-लूट-अपहरण के प्राचीन काल मे प्रचलित प्रकार अद्यतन काल में भी प्रचलित हैं। यह प्रकार लोकप्रसिद्ध है अतएव इनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही है। मूल पाठ और उसके अर्थ से ही पाठक सूत्र के अभिप्राय को भलीभाति समझ सकते है।

धन के लिए राजाओं का आक्रमण

६३—विउलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा सए व दव्वे असंतुट्ठा परविसए अहिहणंति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरंगविभत्त-बलसमग्गा णिच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिइ-दप्पिएहिं सेण्णेहिं संपरिवुडा पउम-सगड सूइ-चक्क-सागर-गरुलवूहाइएहिं अणिएहिं उत्थरंता अभिभूय हरंति परधणाइं।

---

१. 'तित्थभेया' का मुनिश्री हेमचन्द्रजी म. ने 'तीर्थयात्रियो को लूटने-मारने वाले' ऐसा भी अर्थ किया है।

—सम्पादक

६३—इनके अतिरिक्त विपुल बल—सेना और परिग्रह—धनादि सम्पत्ति या परिवार वाले राजा लोग भी, जो पराये धन में गृद्ध अर्थात् आसक्त हैं और अपने द्रव्य से जिन्हे सन्तोष नही है, दूसरे (राजाओ के) देश-प्रदेश पर आक्रमण करते है। वे लोभी राजा दूसरे के धनादि को हथियाने के उद्देश्य से रथसेना, गजसेना, अश्वसेना और पैदलसेना, इस प्रकार चतुरंगिणी सेना के साथ (अभियान करते हैं।) वे दृढ निश्चय वाले, श्रेष्ठ योद्धाओ के साथ युद्ध करने में विश्वास रखने वाले, 'मैं पहले जूझूगा', इस प्रकार के दर्प से परिपूर्ण सैनिको से सपरिवृत—घिरे हुए होते हैं। वे नाना प्रकार के व्यूहो (मोर्चों) की रचना करते हैं, जैसे कमलपत्र के आकार का पद्मपत्र व्यूह, बैलगाडी के आकार का शकटव्यूह, सूई के आकार का शूचीव्यूह, चक्र के आकार का चक्रव्यूह, समुद्र के आकार का सागर-व्यूह और गरुड़ के आकार का गरुड़व्यूह। इस तरह नाना प्रकार की व्यूहरचना वाली सेना द्वारा दूसरे—विरोधी राजा की सेना को आक्रान्त करते है, अर्थात् अपनी विशाल सेना से विपक्ष की सेना को घेर लेते हैं—उस पर छा जाते हैं और उसे पराजित करके दूसरे की धन-सम्पत्ति को हरण कर लेते हैं—लूट लेते है।

विवेचन—प्राप्त धन-सम्पत्ति तथा भोगोपभोग के अन्य साधनो में सन्तोष न होना और परकीय वस्तुओ में आसक्ति होना अदत्तादान के आचरण का मूल कारण है। असन्तोष और तृष्णा की अग्नि जिसके हृदय मे प्रज्वलित है, वह विपुल सामग्री, ऐश्वर्य एव धनादि के विद्यमान होने पर भी शान्ति का अनुभव नही कर पाता। जैसे बाहर की आग ईंधन से शान्त नही होती, अपितु बढती ही जाती है, उसी प्रकार असन्तोष एव तृष्णा की आन्तरिक अग्नि भी प्राप्ति से शान्त नही होती, वह अधिकाधिक वृद्धिगत ही होती जाती है। शास्त्रकार का यह कथन अनुभवसिद्ध है कि—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो विवड्ढइ।

ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ बढता जाता है। तथ्य यह है कि लाभ लोभ की वृद्धि का कारण है।

ईंधन जब अग्नि की वृद्धि का कारण है तो उसे आग मे झोंकने से आग शान्त कैसे हो सकती है! इसी प्रकार जब लाभ लोभ की वृद्धि का कारण है तो लाभ से लोभ कैसे उपशान्त हो सकता है? भला राजाओ को किस वस्तु का अभाव हो सकता है! फिर भी वे परकीय धन मे गृद्धि के कारण अपनी सबल सेना को युद्ध मे झोंक देते है। उन्हे यह विवेक नही होता कि मात्र अपनी प्रगाढ आसक्ति की पूर्ति के लिए वे कितने योद्धाओ का सहार कर रहे है और कितने उनके आश्रित जनो को भयानक सकट मे डाल रहे हैं। वे यह भी नही समझ पाते कि परकीय धन-सम्पदा को लूट लेने के पश्चात् भी आसक्ति की आग बुझने वाली नही है। उनके विवेक-नेत्र बन्द हो जाते हैं। लोभ उन्हें अन्धा बना देता है।

प्रस्तुत पाठ का आशय यही है कि अदत्तादान का मूल अपनी वस्तु में सन्तुष्ट न होना और परकीय पदार्थों मे आसक्ति—गृद्धि होना है। अतएव जो अदत्तादान के पाप से बचना चाहते हैं और अपने जीवन मे सुख-शान्ति चाहते हैं, उन्हें प्राप्त सामग्री में सन्तुष्ट रहना चाहिए और परायी वस्तु की आकाक्षा से दूर रहना चाहिए।

युद्ध के लिए शस्त्र-सज्जा

६४—अवरे रणसीसलद्धलक्खा संगामंसि अइवयंति सण्णद्धबद्धपरियर-उप्पीलिय-चिंधपट्ट-गहियाउह-पहरणा माढिवर-वम्मगुंडिया, आविद्धजालियाक वयकंकडइया उरसिरमुह-बद्ध-कंठतोणमा-इयवरफलगर चियपहकर-सरहसखरचावकरकरंछिय-सुणिसिय - सरवरिसचडकरगमुयंत - घणखंड वेग-धाराणिवायमग्गे अणेगधणुमंडलग्गसंधित-उच्छलियसत्तिकणग-वामकरगहिय-खेडगणिम्मल-णिक्किट्ठ-खग्गपहरंत-कोंत-तोमर-चक्क-गया-परसु-मूसल-लंगल-सूल-लउल-भिंडमालसब्बल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण-मोट्ठिय-मोग्गर-वरफलिह-जंत - पत्थर-दुहण - तोण - कुवेणी-पीढकलिएईलीपहरण मिलिमिलिमिलंत-खिप्पंत-बिज्जुज्जल-विरचिय-समप्पहणभतले फुडपहरणे महारणसंखभेरिवरतूर-पउर-पडुपडहाहयणि-णाय-गंभीरणंदिय पक्खुभिय-विउलघोसे हय-गय-रह-जोह-तुरिय-पसरिय-रउद्धततमंधकार-बहुले कायर-णर-णयण-हिययवाउलकरे।

६४—दूसरे—कोई-कोई नृपतिगण युद्धभूमि मे अग्रिम पक्ति मे लडकर विजय प्राप्त करने वाले, कमर कसे हुए, कवच—बख्तर धारण किये हुए और विशेष प्रकार के चिह्नपट्ट—परिचयसूचक बिल्ले मस्तक पर बाँधे हुए, अस्त्र-शस्त्रो को धारण किए हुए, प्रतिपक्ष के प्रहार से बचने के लिए ढाल से और उत्तम कवच से शरीर को वेष्टित किए हुए, लोहे की जाली पहने हुए, कवच पर लोहे के काँटे लगाए हुए, वक्षस्थल के साथ ऊर्ध्वमुखी बाणो की तूणीर—बाणो की थैली कठ मे बाँधे हुए, हाथो मे पाश—शस्त्र और ढाल लिए हुए, सैन्यदल की रणोचित रचना किए हुए, कठोर धनुष को हाथो मे पकडे हुए, हर्षयुक्त, हाथो से (बाणो को) खीच कर की जाने वाली प्रचण्ड वेग से बरसती हुई मूसलधार वर्षा के गिरने से जहाँ मार्ग अवरुद्ध हो गया है, ऐसे युद्ध मे अनेक धनुषो, दुधारी तलवारो, फेंकने के लिए निकाले गए त्रिशूलो, बाणो, बाएँ हाथो मे पकडी हुई ढालो, म्यान से निकाली हुई चमकती तलवारो, प्रहार करते हुए भालो, तोमर नामक शस्त्रो, चक्रो, गदाओ, कुल्हाडियो, मूसलो, हलो, शूलो, लाठियो, भिंडमालो, शब्बलो—लोहे के वल्लमो, पट्टिस नामक शस्त्रो, पत्थरो—गिलोलो, द्रुघणो—विशेष प्रकार के भालो, मौष्टिको—मुट्ठी मे आ सकने वाले एक प्रकार के शस्त्रो, मुद्गरो, प्रबल आगलो, गोफणो, द्रुहणो (कर्करो) बाणो के तूणीरो, कुवेणियो—नालदार बाणो एव आसन नामक शस्त्रो से सज्जित तथा दुधारी तलवारो और चमचमाते शस्त्रो को आकाश मे फेकने से आकाशतल बिजली के समान उज्ज्वल प्रभा वाला हो जाता है। उस सग्राम मे प्रकट—स्पष्ट शस्त्र-प्रहार होता है। महायुद्ध मे बजाये जाने वाले शखो, भेरियो, उत्तम वाद्यो, अत्यन्त स्पष्ट ध्वनि वाले ढोलो के बजने के गभीर आघोष से वीर पुरुष हर्षित होते हैं और कायर पुरुषो को क्षोभ—घबराहट होती है। वे (भय से पीडित होकर) कापने लगते हैं। इस कारण युद्धभूमि मे हो-हल्ला होता है। घोडे, हाथी, रथ और पैदल सेनाओ के शीघ्रतापूर्वक चलने से चारो ओर फैली—उडती धूल के कारण वहाँ सघन अधकार व्याप्त रहता है। वह युद्ध कायर नरो के नेत्रो एव हृदयो को आकुल-व्याकुल बना देता है।

युद्ध-स्थल की बीभत्सता

६५—विलुलियउक्कड-वर-मउड-तिरीड-कुंडलोडुदामाडोविया पागड-पडाग-उसियज्झय-वेज-यतिचामरचलंत-छत्तंधयारगंभीरे हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइय-रहघणघणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फो-

डिय-सीहणाया, छेलिय-विघुट्ठुक्कट्ठकंठकयसद्दभीमगज्जिए, सयराह-हसंत-रुसंत-कलकलरवे आसूणिय-वयणरुद्दे भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे सप्पहारणुज्जयकरे अमरिसवसतिव्वरत्तणिद्दारितच्छे वेरदिट्ठि-कुद्ध-चिट्ठिय-तिवलि-कुडिलभिउडि-कयणिलाडे वहपरिणय-णरसहस्स-विक्कमवियंभियबले। वग्गंत-तुरगरह-पहाविय-समरभडा आवडियछेयलाघव-पहारसाहियासमूसविय बाहु-जुयलमुक्कट्टहासपुक्कंतबोल-बहुले। फलफलगावरणगहिय-गयवरपत्थित-दरियभडखल-परोप्परपलग्ग-जुद्धगव्विय-विउसियवरासि-रोस-तुरियअभिमुह-पहरितछिण्णकरिकर-विभंगियकरे अवइद्धणिसुद्धभिण्णफालियपगलियरुहिर-कय-भूमि-कद्दम-चिलिचिल्लपहे कुच्छिदालिय-गलंतरुलितणिभेलितंत-फुरुफुरंत-अविगल-मम्माहय-विकय-गाढदिण्णपहारमुच्छित-रुलंतविब्भलविलावकलुणे हयजोह-भमंत-तुरग-उद्दाममत्तकुंजर-परिसंकियजण-णिव्वुक्कच्छिण्णधय - भग्गरहवरणट्ठसिरकरिकलेवराकिण्ण - पतित - पहरण-विकिण्णाभरण-भूमिभागे णच्चंतकबंधपउरभयंकर-वायस-परिलेंत-गिद्धमंडल-भमंतच्छायंधकार-गंभीरे। वसुवसुहविकंपियव्व-पच्चक्खपिउवण परमरुद्दबीहणगं दुप्पवेसतरगं अहिवयंति संगामसंकडं परधणं महंता।

६५—ढीला होने के कारण चचल एव उन्नत उत्तम मुकुटो, तिरीटो—तीन शिखरो वाले मुकुटो—ताजो, कुण्डलो तथा नक्षत्र नामक आभूषणो की उस युद्ध मे जगमगाहट होती है। स्पष्ट दिखाई देने वाली पताकाओ, ऊपर फहराती हुई ध्वजाओ, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती पताकाओ तथा चचल—हिलते-डुलते चामरो और छत्रो के कारण होने वाले अन्धकार के कारण वह गभीर प्रतीत होता है। अश्वो की हिनहिनाहट से, हाथियो की चिघाड से, रथो की घनघनाहट से, पैदल सैनिको की हर-हराहट से, तालियो की गडगडाहट से, सिहनाद की ध्वनियो मे सीटो बजाने की सी आवाजो से, जोर-जोर की चिल्लाहट से, जोर की किलकारियो से और एक साथ उत्पन्न होने वाली हजारो कठो की ध्वनि से वहाँ भयकर गर्जनाएँ होती हैं। उसमे एक साथ हँसने, रोने और कराहने के कारण कलकल ध्वनि होती रहती है। मुँह फुलाकर आँसू बहाते हुए बोलने के कारण वह रौद्र होता है। उस युद्ध मे भयानक दातो से होठो को जोर से काटने वाले योद्धाओ के हाथ अचूक प्रहार करने के लिए उद्यत-तत्पर रहते है। क्रोध की (तीव्रता के कारण) योद्धाओ के नेत्र रक्तवर्ण और तरेरते हुए होते हैं। वैरमय दृष्टि के कारण क्रोधपरिपूर्ण चेष्टाओ मे उनकी भौहे तनी रहती है और इस कारण उनके ललाट पर तीन सल पडे हुए होते है। उस युद्ध में, मार-काट करते हुए हजारो योद्धाओ के पराक्रम को देख कर सैनिको के पौरुष-पराक्रम की वृद्धि हो जाती है। हिनहिनाते हुए अश्वो और रथो द्वारा इधर-उधर भागते हुए युद्धवीरो—समरभटो तथा शस्त्र चलाने मे कुशल और सधे हुए हाथो वाले सैनिक हर्ष-विभोर होकर, दोनो भुजाएँ ऊपर उठाकर, खिलखिलाकर—ठहाका मार कर हँस रहे होते हैं। किलकारियाँ मारते है। चमकती हुई ढाले एव कवच धारण किए हुए, मदोन्मत्त हाथियो पर आरूढ प्रस्थान करते हुए योद्धा, शत्रुयोद्धाओ के साथ परस्पर जूझते है तथा युद्धकला मे कुशलता के कारण अहकारी योद्धा अपनी-अपनी तलवारे म्यानो मे से निकाल कर, फुर्ती के साथ रोषपूर्वक परस्पर—एक दूसरे पर प्रहार करते है। हाथियो की सूडे काट रहे होते है, जिससे उनके भी हाथ कट जाते हैं। ऐसे भयावह युद्ध मे मुद्गर आदि द्वारा मारे गए, काटे गए या फाडे गए हाथी आदि पशुओ और मनुष्यो के युद्धभूमि मे बहते हुए रुधिर के कीचड से मार्ग लथपथ हो रहे होते हैं। कूख के फट जाने से भूमि पर बिखरी हुई एव बाहर निकलती हुई आतो से रक्त प्रवाहित होता रहता है। तथा तड़फड़ाते हुए, विकल, मर्माहत, बुरी तरह से कटे हुए, प्रगाढ प्रहार से बेहोश हुए,

इधर-उधर लुढकते हुए विह्वल मनुष्यो के विलाप के कारण वह युद्ध बडा ही करुणाजनक होता है। उस युद्ध मे मारे गए योद्धाओ के इधर-उधर भटकते घोडे, मदोन्मत्त हाथी और भयभीत मनुष्य, मूल से कटी हुई ध्वजाओ वाले टूटे-फूटे रथ, मस्तक कटे हुए हाथियो के धड—कलेवर, विनष्ट हुए शस्त्रास्त्र और बिखरे हुए आभूषण—अलकार इधर-उधर पडे होते हैं। नाचते हुए बहुसंख्यक कलेवरो—धडो पर काक और गीध मडराते रहते हैं। इन काकों और गिद्धो के झुड के झुड घूमते है तब उनकी छाया के अन्धकार के कारण वह युद्ध गभीर बन जाता है। ऐसे (भयावह—घोरातिघोर) सग्राम मे (नृपतिगण) स्वय प्रवेश करते है—केवल सेना को ही युद्ध मे नही झोकते। (देवलोक) और पृथ्वी को विकसित करते हुए, परकीय धन की कामना करने वाले वे राजा साक्षात् श्मशान समान, अतीव रौद्र होने के कारण भयानक और जिसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है, ऐसे सग्राम रूप सकट मे चल कर अथवा आगे होकर प्रवेश करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे सग्राम की भयानकता का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। पर-धन के इच्छुक राजा लोग किस प्रकार नर-सहार के लिए तत्पर हो जाते है! यह वर्णन अत्यन्त सजीव है। इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही है।

वनवासी चोर

६६—अवरे पाइक्कचोरसघा सेणावइ-चोरवंद-पागड्डिका य अडवी-देसदुग्गवासी कालहरित-रत्तपीतसुक्किल-अणेगसयचिंध-पट्टबद्धा परविसए अभिहणंति लुद्धा धणस्स कज्जे।

६६—इनके (पूर्वसूत्र मे उल्लिखित राजाओ के) अतिरिक्त पैदल चल कर चोरी करने वाले चोरो के समूह होते है। कई ऐसे (चोर) सेनापति भी होते है जो चोरो को प्रोत्साहित करते है। चोरो के यह समूह दुर्गम अटवी-प्रदेश मे रहते है। उनके काले, हरे, लाल, पीले और श्वेत रग के सैकडो चिह्न होते है, जिन्हे वे अपने मस्तक पर लगाते है। पराये धन के लोभी वे चोर-समुदाय दूसरे प्रदेश मे जाकर धन का अपहरण करते है और मनुष्यो का घात करते हैं।

विवेचन—ज्ञातासूत्र आदि कथात्मक आगमो मे ऐसे अनेक चोरो और सेनापतियो का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, जो विषम दुर्गम अटवी मे निवास करते और लूटपाट करते थे। पाँच-पाँच सौ सशस्त्र चोर उनके दल मे थे जो मरने-मारने को सदा उद्यत रहते थे। उनका सैन्यबल इतना सबल होता था कि राजकीय सेना को भी पछाड देता था। ऐसे ही चोरो एव चोर-सेनापतियो का यहाँ उल्लेख किया गया है।

समुद्री डाके

६७—रयणागरसागरं उम्मीसहस्समाला-उलाउल-वितोयपोत-कलकलेंत-कलियं पायालसहस्स[1]-वायवसवेगसलिल-उद्धम्ममाणदगरयरयंधकारं वरफेणपउर-धवल-पुलंपुल-समुट्ठियट्टहासं मारुय-विच्छुभमाणपाणियं जल-मालुप्पीलहुलियं अवि य समतओ खुभिय-लुलिय-खोखुब्भमाण-पक्खलिय-चलिय-विउलजलचक्कवाल- महाणईवेगतुरियआपूरमाणगंभीर-विउल-आवत्त-चवल- भममाणगुप्पमाणुच्छलंत पच्चोणियत्त-पाणिय-पधावियखर-फरुस-पयंडवाउलियसलिल-फुट्टंत वीइकल्लोलसंकुलं महा-

---

१. "पायालकलससहस्स"—पाठ पूज्य श्री घासीलालजी म. वाली प्रति में है।

मगर-मच्छ-कच्छभोहार-गाह-तिमि-सुंसुमार-सावय-समाहय-समुद्धायमाणक-पूरघोर-पउरं कायरजण-हियय-कंपणं घोरमारसंतं महब्भयं भयंकरं पइभयं उत्तासणगं अणोरपारं आगासं चेव णिरवलंबं। उप्पायणपवण-धणिय-णोल्लिय उवरुवरितरंगदरिय-अइवेग-वेग-चक्खुपहमुच्छरंतं कत्थइ-गंभीर-विउल-गज्जिय-गुंजिय-णिग्घायगरुयणिवडिय-सुदीहणीहारि-दूरसुच्चंत-गंभीर-धुगुधुगंतसद्दं पडिपहरुंभंत-जक्ख-रक्खस-कुहंड-पिसायरुसिय-तज्जाय-उवसग्ग-सहस्ससंकुलं बहुप्पाइयभूयं विरइयबलिहोम-धूव-उवयारदिण्ण-रुहिरच्चणाकरणपयत-जोगपययचरियं परियंत-जुगंत-कालकप्पोवमं दुरंतं महाणई-णईवई-महाभीमदरिसणिज्जं दुरणुच्चरं विसमप्पवेसं दुक्खुत्तारं दुरासयं लवण-सलिलपुण्णं असियसिय-समूसियगेहिं हत्थंतरकेहिं वाहणेहिं अइवइत्ता समुद्दमज्झे हणंति, गंतूण जणस्स पोए परदव्वहरा णरा।

६७—(इन चोरो के सिवाय कुछ अन्य प्रकार के लुटेरे भी होते हैं जो धन के लालच मे फँस कर समुद्र मे डाकेजनी या लूटमार करते हैं। उनका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।) वे लुटेरे रत्नो के आकर– खान– समुद्र मे चढाई करते हैं। वह समुद्र कैसा होता है ? समुद्र सहस्रो तरग-मालाओ से व्याप्त होता है। पेय जल के अभाव मे जहाज के आकुल-व्याकुल मनुष्यों की कल-कल ध्वनि से युक्त होता है। सहस्रो पाताल-कलशो की वायु के क्षुब्ध होने से तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणो की रज से अन्धकारमय बना होता है। निरन्तर प्रचुर मात्रा मे उठने वाले श्वेतवर्ण के फेन ही मानो उस समुद्र का अट्टहास है। वहाँ पवन के प्रबल थपेडो से जल क्षुब्ध हो रहा होता है। जल की तरग-मालाए तीव्र वेग के साथ तरगित होती है। चारो ओर तूफानी हवाएं उसे क्षोभित कर रही होती है। जो तट के साथ टकराते हुए जल-समूह से तथा मगर-मच्छ आदि जलीय जन्तुओ के कारण अत्यन्त चचल हो रहा होता है। बीच-बीच मे उभरे हुए -ऊपर उठे हुए पर्वतो के साथ टकराने वाले एव बहते हुए अथाह जल-समूह से युक्त है, गगा आदि महानदियो के वेग से जो शीघ्र ही लबालब भर जाने वाला है, जिसके गभीर एव अथाह भवरो मे जलजन्तु अथवा जलसमूह चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, ऊपर-नीचे उछलते है, जो वेगवान् अत्यन्त प्रचण्ड, क्षुब्ध हुए जल मे से उठने वाली लहरो से व्याप्त है, महाकाय मगर-मच्छो, कच्छपो, ओहम् नामक जल-जन्तुओ, घडियालो, बडी मछलियो, सुसुमारो एव श्वापद नामक जलीय जीवो के परस्पर टकराने से तथा एक दूसरे को निगल जाने के लिए दौडने से वह समुद्र अत्यन्त घोर—भयावह होता है, जिसे देखते ही कायर जनो का हृदय काँप उठता है, जो अतीव भयानक और प्रतिक्षण भय उत्पन्न करने वाला है, अतिशय उद्वेग का जनक है, जिसका ओर-छोर—आर पार कही दिखाई नही देता, जो आकाश के सदृश निरा-लम्बन-आलबनहीन है अर्थात् जिस समुद्र मे कोई सहारा नही है, उत्पात से उत्पन्न होने वाले पवन से प्रेरित और ऊपराऊपरी—एक के बाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरो के वेग से जो नेत्रपथ — नजर को आच्छादित कर देता है।

उस समुद्र मे कही-कही गभीर मेघगर्जना के समान गूंजती हुई, व्यन्तर देवकृत घोर ध्वनि के सदृश तथा उस ध्वनि से उत्पन्न होकर दूर-दूर तक सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान गभीर और धुक्-धुक् करती ध्वनि सुनाई पडती है। जो प्रतिपथ—प्रत्येक राह मे रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कूष्माण्ड एव पिशाच जाति के कुपित व्यन्तर देवो के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले हजारो उत्पातो-उपद्रवों से परिपूर्ण है जो बलि, होम और धूप देकर की जाने वाली देवता की पूजा और रुधिर देकर की जाने वाली अर्चना मे प्रयत्नशील एव सामुद्रिक व्यापार मे निरत नौका-वणिको—

जहाजी व्यापारियो द्वारा सेवित हे, जो कलिकाल—अन्तिम युग के अन्त अर्थात् प्रलयकाल के कल्प के समान है, जिसका पार पाना कठिन है, जो गगा आदि महानदियों का अधिपति—नदीपति होने के कारण अत्यन्त भयानक है, जिसके सेवन मे बहुत ही कठिनाइयाँ होती है या जिसमे यात्रा करना अनेक सकटो से परिपूर्ण है, जिसमे प्रवेश पाना भी कठिन है, जिसे पार करना—किनारे पहुँचना भी कठिन है, यहाँ तक कि जिसका आश्रय लेना भी दुःखमय है, और जो खारे पानी से परिपूर्ण होता है।

ऐसे समुद्र में परकीय द्रव्य के अपहारक—डाकू ऊँचे किए हुए काले और श्वेत झडो वाले, अति-वेगपूर्वक चलने वाले, पतवारो मे सज्जित जहाजो द्वारा आक्रमण करके समुद्र के मध्य मे जाकर सामुद्रिक व्यापारियो के जहाजो को नष्ट कर देते है।

विवेचन—इस पाठ मे समुद्र का वर्णन काव्यात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। कभी-कभी सागर शान्त-प्रशान्त दृष्टिगोचर होता है किन्तु किस क्षण वह भयकर रूप धारण कर लेगा, यह निश्चय करना कठिन है। आधुनिक काल मे जब मौसम, आँधी-तूफान आदि को पहले ही सूचित कर देने वाले अनेकविध यन्त्र आविष्कृत हो चुके है, और जलयान भी अत्यधिक क्षमता वाले निर्मित हो चुके है, तब भी अनेको यान डूबते रहते हैं। तब प्राचीन काल मे उत्पातसूचक यन्त्रो के अभाव मे और यानो की भी इतनी क्षमता के अभाव मे समुद्रयात्रा कितनी सकटपरिपूर्ण होती होगी, यह कल्पना करना कठिन नही है। यही कारण है कि समुद्रयात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व शुभ दिन, तिथि, नक्षत्र आदि देखने के साथ अनेकानेक देवी-देवताओ की पूजा-अर्चा की जाती थी, क्योंकि यह माना जाता था कि यात्रा में व्यन्तर देव भी विविध प्रकार के विघ्न उपस्थित करते हैं।

धन के लोभ मे प्रेरित होकर वणिक्-जन फिर भी समुद्रयात्रा करते थे और एक देश का माल दूसरे देश मे ले जाकर बेचते थे।

प्रस्तुत पाठ से स्पष्ट है कि समुद्रयात्रा मे प्राकृतिक अथवा दैविक प्रकाप के अतिरिक्त भी एक भारी भय रहता था। वह भय मानवीय अर्थात् समुद्री लुटेरो का था। ये लुटेरे अपने प्राणो को सकट मे डालकर केवल लूटमार के लिए ही भयकर सागर मे प्रवेश करते थे। वे नौकावणिको को लूटते थे और कभी-कभी उनके प्राणो का भी अपहरण करते थे। इस पाठ मे यही तथ्य प्ररूपित है।

ग्रामादि लूटने वाले

६८—णिरणुकंपा णिरवयक्खा गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-णिगम-जणवए य धणसमिद्धे हणंति थिरहियय-छिण्ण-लज्जा-बंदिग्गह-गोग्गहे य गिण्हंति दारुणमई णिक्किवा[1] णियं हणंति छिंदंति गेहसंधि णिक्खित्ताणि य हरंति धणधण्णदव्वजायाणि जणवय-कुलाणं णिग्घिणमई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

६८—जिनका हृदय अनुकम्पा—दया से शून्य है, जो परलोक की परवाह नही करते, ऐसे लोग धन से समृद्ध ग्रामो, आकरो, नगरो, खेटो, कर्बटो, मडम्बो, पत्तनो, द्रोणमुखो, आश्रमो, निगमो एव देशो को नष्ट कर देते—उजाड देते है। और वे कठोर हृदय वाले या स्थिरहित—निहित स्वार्थ

१. पाठान्तर—णिक्किया।

वाले, निर्लज्ज लोग मानवो को वन्दो बनाकर अथवा गायो आदि को ग्रहण करके ले जाते है। दारुण मति वाले, कृपाहीन—निर्दय या निकम्मे--अपने आत्मीय जनो का भी घात करते हैं। वे गृहो की सन्धि को छेदते है अर्थात् सेंध लगाते है।

जो परकीय द्रव्यो से विरत--विमुख-निवृत्त नही है ऐसे निर्दय बुद्धि वाले (वे चोर) लोगो के घरो मे रक्खे हुए धन, धान्य एव अन्य प्रकार के समूहो को हर लेते हैं।

विवेचन--प्रकृत पाठ मे यह प्रदर्शित किया गया है कि पराये धन को लूटने वाले अथवा सेंध आदि लगा कर चोरी करने वाले लोग वही होते है, जो निर्दय--अनुकम्पाहीन होते हैं और जिन्हे अदत्तादान के परिणामस्वरूप परलोक मे होने वाली दुर्दशाओ की परवाह नही है। दयावान् और परलोक से डरने वाले विवेकी जन इस इह-परलोक-दु:खप्रद कुकृत्य मे प्रवृत्त नही होते।

प्राचीन काल मे भी जन-वस्तियो की अनेक श्रेणिया उनकी हैसियत अथवा विशिष्टताओ के आधार पर निर्धारित की जाती थी। उनमे से कई नामो का प्रस्तुत पाठ मे उल्लेख हुआ है, जिनका आशय इस प्रकार है -

ग्राम—गाव—वह छोटी वस्ती जहाँ किसानो की बहुलता हो।
आकर—जहाँ सुवर्ण, रजत, ताबे आदि की खाने हो।
नगर—नकर-कर अर्थात् चुंगी जहाँ न लगती हो, ऐसी वस्ती।
खेड—खेट—धूल के प्राकार से वेष्टित स्थान वस्ती।
कब्बड—कर्बट—जहाँ थोडे मनुष्य रहते हो—कुनगर।
मडम्ब—जिसके आसपास कोई गाव-वस्ती न हो।
द्रोणमुख—जहाँ जलमार्ग से और स्थलमार्ग से जाया जा सके ऐसी वस्ती।
पत्तन—पाटन—जहाँ जलमार्ग से अथवा स्थलमार्ग से जाया जाए। किसी-किसी ने पत्तन का अर्थ रत्नभूमि भी किया है।
आश्रम—जहाँ तापसजनो का निवास हो।
निगम—जहाँ वणिक्जन—व्यापारी बहुतायत से निवास करते हो।
जनपद—देश-प्रदेश-अचल।

६९ – **तहेव केई अदिण्णादाणं गवेसमाणा कालाकालेसु सचरंता चियकापज्जलिय-सरस-दर-दड्ढ कड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवयण-अक्खय-खाइयपीय-डाइणिभमत-भयकर जंबुयक्खिक्खियते घूयकयघोर-सद्दे वेयालुट्ठिय-णिसुद्ध-कहकहिय-पहसिय-बीहणग-णिरभिरामे अइदुब्भिगध-बीभच्छदरिसणिज्जे सुसाण-वण-सुण्णघर-लेण-अंतरावण-गिरिकंदर-विसमसावय-समाकुलासु वसहीसु किलिस्संता सीयातव-सोसिय-सरीरा दड्ढच्छवी णिरयतिरिय-भवसंकड-दुक्ख-संभारवेयणिज्जाणि पावकम्माणि संचिणंता, दुल्लह-भक्खण्ण-पाणभोयणा पिवासिया झुंझिया किलंता मंस-कुणिमकंदमूल-ज किंचिकयाहारा उव्विग्गा उप्पुया असरणा अडवीवासं उवेंति वालसय-संकणिज्ज।**

६९—इसी प्रकार कितने ही (चोर) अदत्तादान की गवेषणा—खोज करते हुए काल और अकाल अर्थात् समय और कुसमय—अर्धरात्रि आदि विषम काल, मे इधर-उधर भटकते हुए ऐसे श्मशान

में फिरते हैं वहाँ चिताओं मे जलती हुई, रुधिर आदि मे युक्त, अधजली एव खीच ली गई लाशे पड़ी हैं, रक्त से लथपथ मृत शरीरो को पूरा खा लेने और रुधिर पी लेने के पश्चात् इधर-उधर फिरती हुई डाकिनों के कारण जो अत्यन्त भयावह जान पडता है, जहाँ जम्बुक—गीदड खी-खी ध्वनि कर रहे हैं, उल्लुओ की डरावनी आवाज आ रही है, भयोत्पादक एव विद्रूप पिशाचो द्वारा ठहाका मार कर हँसने—अट्टहास करने से जो अतिशय भयावना एव अरमणीय हो रहा है और जो तीव्र दुर्गन्ध से व्याप्त एव घिनौना होने के कारण देखने से भीषण जान पडता है ।

ऐसे श्मशान-स्थानो के अतिरिक्त वनो मे, सूने घरो मे, लयनो--शिलामय गृहो मे, मार्ग मे, बनी हुई दुकानो, पर्वतो की गुफाओ, विषम ऊबड-खाबड स्थानो और सिह वाघ आदि हिंस्र प्राणियो से व्याप्त स्थानो मे (राजदण्ड से वचने के उद्देश्य से) क्लेश भोगते हुए इधर-उधर मारे-मारे फिरते है । उनके शरीर की चमडी शीत और उष्ण से शुष्क हो जाती है, सर्दी-गर्मी की तीव्रता को सहन करने के कारण उनकी चमडी जल जाती है या चेहरे की कान्ति मद पड जाती है । वे नरकभव मे और तिर्यंच भव रूपी गहन वन मे होने वाले निरन्तर दु खो की अधिकता द्वारा भोगने योग्य पापकर्मों का सचय करते है, अर्थात् अदत्तादान का पाप इतना तीव्र होता है कि नरक की एव तिर्यंच गति की तीव्र वेदनाओ को निरन्तर भोगे बिना उसस छुटकारा नही मिलता । ऐसे घोर पापकर्मों का वे सचय करते है । (जगल मे कभी यहा और कभी कही भटकते-छिपते रहने के कारण) उन्हे खाने योग्य अन्न और जल भी दुर्लभ होता है । कभी प्यास से पीडित रहते है, कभी--भूखे रहते है, थके रहते हैं और कभी—कभी मास, शव-मुर्दा, कभी कन्दमूल आदि जो कुछ भी मिल जाता है, उसी को खा लेते है—उसी को गनीमत समझते हैं । वे निरन्तर उद्विग्न चिन्तित--घबराए हुए रहते हैं, सदैव उत्कठित रहते है । उनका कोई शरण—रक्षक नही होता । इस प्रकार वे अटवीवास करते है—जगल मे रहते हैं, जिसमे सैकडो सर्पों (अजगरों, भेडियो, सिह, व्याघ्र) आदि का भय बना रहता है अर्थात् जो विषैले और हिंसक जन्तुओ के कारण सदा शकनीय बना रहता है ।

७०—अयसकरा तक्कर भयकरा कास हरामोत्ति अज्ज दव्वं इह सामत्थं करेंति गुज्झं । बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा मत्तपमत्तपसुत्त-वीसत्थ-छिद्दघाई वसणब्भुदएसु हरणबुद्धी विगव्व रुहिरमहिया परेंति णरवइ-मज्जायमइक्कंता सज्जणजणदुगंछिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी असुभपरिणाया य दुक्खभागी णिच्चाविलदुहमणिव्वुइमणा इहलोए चेव किलिस्संता परदव्वहरा णरा वसणसयसमावण्णा ।

७०—वे अकीर्त्तिकर अर्थात् अपयशजनक काम करने वाले और भयकर—दूसरो के लिए भय उत्पन्न करने वाले तस्कर ऐसी गुप्त मत्रणा-- विचारणा करते रहते हैं कि आज किसके द्रव्य का अपहरण करे, वे बहुत-से मनुष्यो के कार्य करने मे विघ्नकारी होते हैं । वे मत्त—नशा के कारण बेभान, प्रमत्त—बेसुध सोए और विश्वास रखने वाले लोगो का अवसर देखकर घात कर देते हैं । व्यसन--सकट—विपत्ति और अभ्युदय--हर्ष आदि के प्रसगो मे चोरी करने की बुद्धि वाले होते हैं । वृक—भेडियो की तरह रुधिर-पिपासु होकर इधर-उधर भटकते रहते है । वे राजाओ—राज्यशासन की मर्यादाओ का अतिक्रमण करने वाले, सज्जन पुरुषो द्वारा निन्दित एव पापकर्म करने वाले (चोर) अपनी ही करतूतो के कारण अशुभ परिणाम वाले और दु ख के भागी होते हैं । सदैव मलिन, दु:खमय

अशान्तियुक्त चित्त वाले ये परकीय द्रव्य को हरण करने वाले इसी भव मे सैकडो कष्टो से घिर कर क्लेश पाते हैं।

चोर को बन्दीगृह में होने वाले दुःख

७१—तहेव केइ परस्स दव्वं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य तुरियं अइधाडिया पुरवरं समप्पिया चोरग्गह-चारभडचाडुकराण तेहि य कप्पडप्पहार-णिद्दयआरक्खिय-खरफरुसवयण-तज्जण-गलच्छल्लुच्छल्लणाहिं विमणा चारगवसहि पवेसिया णिरयवसहिसरिसं। तत्थवि गोम्मियप्पहार-दूमणणिब्भच्छण-कडुयवयणभेसणगभयाभिभूया अक्खित्तणियंसणा मलिणदंडिखंडणिवसणा उक्कोडालंचपासमग्गणपरायणेहिं दुक्खसमुदीरणेहिं गोम्मियभडेहिं विविहेहिं बंधणेहिं।

७१—इसी प्रकार परकीय धन द्रव्य की खोज मे फिरते हुए कई चोर (आरक्षकों—पुलिस के द्वारा) पकडे जाते हैं और उन्हे मारा-पीटा जाता है, बन्धनो से बाँधा जाता है और कारागार मे कैद किया जाता है। उन्हे वेग के साथ—जल्दी-जल्दी खूब घुमाया—चलाया जाता है। बडे नगरो मे पहुँचा कर उन्हे पुलिस आदि अधिकारियो को सौंप दिया जाता है। तत्पश्चात् चोरो को पकडने वाले, चौकीदार, सिपाही—गुप्तचर चाटुकार—उन्हे कारागार मे ठूस देते हैं। कपडे के चाबुको के प्रहारो से, कठोर-हृदय सिपाहियो के तीक्ष्ण एवं कठोर वचनों की डाट-डपट मे तथा गर्दन पकड कर धक्के देने से उनका चित्त खेदखिन्न होता है। उन चोरो को नारकावास सरीखे कारागार मे जबर्दस्ती घुसेड़ दिया जाता है। (किन्तु कारागार मे भी उन्हे चैन कहाँ?) वहाँ भी वे कारागार के अधिकारियो द्वारा विविध प्रकार के प्रहारों, अनेक प्रकार की यातनाओं, तर्जनाओं, कटुवचनों एवं भयोत्पादक वचनो से भयभीत होकर दुःखी बने रहते है। उनके पहनने- ओढने के वस्त्र छीन लिये जाते है। वहाँ उनको मैले—कुचैले फटे वस्त्र पहनने को मिलते है। वार-वार उन कैदियो (चोरो) से लाच—रिश्वत माँगने मे तत्पर कारागार के रक्षको -भटो द्वारा अनेक प्रकार के बन्धनो मे वे बाध दिये जाते हैं।

विवेचन—चौर्यरूप पापकर्म करने वालों की कैसी दुरवस्था होती है, इस विषय मे शास्त्रकार ने यहाँ भी प्रकाश डाला है। मूल पाठ अपने आप मे स्पष्ट है। उस पर विवेचन की आवश्यकता नही है। अदत्तादान करने वालो की इस प्रकार की दुर्दशा लोक मे प्रत्यक्ष देखी जाती है।

७२—किं ते? हडि-णिगड-वालरज्जुय-कुदडग-वरत्त-लोहसंकल-हत्थंदुय-वज्झपट्ट-दामक-णिक्कोडणेहिं अण्णेहि य एवमाइएहि गोम्मिगभंडोवगरणेहिं दुक्खसमुदीरणेहिं[1] संकोडणमोडणाहिं वज्झंति मंदपुण्णा। संपुड-कवाड-लोहपंजर-भूमिघर-णिरोह-कूव-चारग-कीलग-जुय-चक्कविततबंधण-खंभालण-उद्धचलण-बंधणविहम्मणाहि य विहेडयंता अवकोडगगाढ-उर-सिरबद्ध-उद्धपूरिय[2] फुरंत-उर-कडगमोडणा-मेडणाहिं बद्धा य णीससंता सीसावेढ-उरुयावल-चप्पडग-संधिबंधण-तत्तसलाग-सूइया-कोडणाणि तच्छणविमाणणाणि य खारकडुय-तित्त-णावणजायणा-कारणसयाणि बहुयाणि पावियंता

---

१ 'दुक्खसमयमुदीरणेहि'—पाठ भी है।

२ यहाँ 'अशुभपरिणया य'- पाठ श्री ज्ञानविमल सूरि की वृत्ति वाली प्रति मे है।

उरक्खोडी-दिण्ण-गाढपेल्लण-अट्ठिगसंभग्गसपंसुलिगा गलकालकलोहदंड-उर-उदर-वत्थि-परिपीलिया मत्थंत-हिययसंचुण्णियंगमंगा आणत्तीकिंकरेहिं।

केई अविराहिय-वेरिएहिं जमपुरिस-सण्णिहेहिं पहया ते तत्थ मंदपुण्णा चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइ-छिव-कस-लत्तवरत्त-णेत्तप्पहारसयतालि-यंगमगा किवणा लंबंतचम्मवणवेयणविमुहियमणा घणकोट्टिम-णियलजुयलसंकोडियमोडिया य कीरंति णिरुच्चारा असंचरणा, एया अण्णा य एवमाईओ वेयणाओ पावा पावेंति।

७२—प्रश्न किया गया है कि चोरों को जिन विविध बन्धनो से बाधा जाता है, वे बन्धन कौन-से हैं ?

उत्तर है—हडि-खोडा या काष्ठमय बेडी, जिसमे चोर का एक पाँव फँसा दिया जाता है, लोहमय बेडी, बालों से बनी हुई रस्सी, जिसके किनारे पर रस्सी का फदा बाधा जाता है, ऐसा एक विशेष प्रकार का काष्ठ, चर्मनिर्मित मोटे रस्से, लोहे की साकल, हथकडी, चमड़े का पट्टा, पैर बाधने की रस्सी तथा निष्कोडन—एक विशेष प्रकार का बन्धन, इन सब तथा इसी प्रकार के अन्य-अन्य दु खो को समुत्पन्न करने वाले कारागार—कर्मचारियों के साधनो द्वारा (पापी चोरो को बाध कर पीडा पहुँचाई जाती है।) इतना ही नही, उन पापी चोर कैदियो के शरीर को सिकोड कर और मोड़ कर जकड दिया जाता है। कैद की कोठरी (काल-कोठडी) मे डाल कर किवाड बद कर देना, लोहे के पीजरे मे डाल देना, भूमिगृह—भोयरे- -तलघर मे बद कर देना, कूप मे उतारना, बदीघर के सीखचो से बाध देना, अगो मे कीलें ठोक देना, (बैलो के कधो पर रक्खा जाने वाला) जूवा उनके कधे पर रख देना अर्थात् बैलो के स्थान पर उन्हे गाडी मे जोत देना, गाडी के पहिये के साथ बाध देना, बाहो जाँघो और सिर को कस कर बाध देना, खभे से चिपटा देना, पैरो को ऊपर और मस्तक को नीचे की ओर करके बाधना, इत्यादि वे बन्धन है जिन से बाधकर अधर्मी जेल—अधिकारियो द्वारा चोर बाँधे जाते हैं—पीडित किये जाते है।

उन अदत्तादान करने वालो की गर्दन नीची करके, छाती और सिर कस कर बाध दिया जाता है तब वे निश्वास छोडते हैं अथवा कस कर बाधे जाने के कारण उनका श्वास रुक जाता है अथवा उनकी आँखे ऊपर को आ जाती है। उनकी छाती धक् धक् करती रहती है। उनके अग मोड़े जाते हैं, वे वारवार उल्टे किये जाते हैं। वे अशुभ विचारो मे डूबे रहते हैं और ठडी श्वासे छोडते हैं।

कारागार के अधिकारियो की आज्ञा का पालन करने वाले कर्मचारी चमडे की रस्सी से उनके मस्तक (कस कर) बांध देते हैं, दोनो जघाओ को चीर देते हैं या मोड़ देते है। घुटने, कोहनी, कलाई आदि जोडो को काष्ठमय यन्त्र से बाधा जाता है। तपाई हुई लोहे की सलाइयाँ एव सूइयाँ शरीर में चुभोई जाती हैं। वसूले से लकड़ी की भाँति उनका शरीर छीला जाता है। मर्मस्थलो को पीडित किया जाता है। लवण आदि क्षार पदार्थ, नीम आदि कटुक पदार्थ और लाल मिर्च आदि तीखे पदार्थ उनके कोमल अगो पर छिडके जाते हैं। इस प्रकार पीडा पहुँचाने के सैकडो कारणों—उपायो द्वारा बहुत-सी यातनाएँ वे प्राप्त करते हैं।

(इतने से ही गनीमत कहाँ ?) छाती पर काष्ठ रखकर जोर से दबाने अथवा मारने से उनकी हड्डियाँ भग्न हो जाती हैं—पसली-पसली ढीली पड जाती है। मछली पकड़ने के कांटे के

समान घातक काले लोहे के नोकदार डडे छाती, पेट, गुदा और पीठ में भोक देने से वे अत्यन्त पीड़ा अनुभव करते हैं। ऐसी-ऐसी यातनाएँ पहुँचाने के कारण अत्तादान करने वालों का हृदय मथ दिया जाता है और उनके अग-प्रत्यग चूर-चूर हो जाते हैं।

कोई-कोई अपराध किये विना ही वैरी बने हुए पुलिस—सिपाही या कारागार के कर्मचारी यमदूतो के समान मार-पीट करते हैं। इस प्रकार वे अभागे—मन्दपुण्य चोर वहाँ—कारागार मे थप्पडों, मुक्कों, चर्मपट्टो, लोहे के कुशो, लोहमय तीक्ष्ण शस्त्रो, चाबुको, लातो, मोटे रस्सो और बेतो के सैकड़ो प्रहारो से अग-अग को ताडना देकर पीडित किये जाते है। लटकती हुई चमडी पर हुए घावो की वेदना से उन बेचारे चोरो का मन उदास हो जाता है— मूढ बन जाता है। लोहे के घनो से कूट-कूट कर बनायी हुई दोनो बेडियो को पहनाये रखने के कारण उनके अग सिकुड जाते है, मुड जाते हैं और शिथिल पड़ जाते हैं। यहाँ तक कि उनका मल-मूत्रत्याग भी रोक दिया जाता है, अथवा उन्हे निरुच्चार कर दिया जाता है अर्थात् उनका बोलना बद कर दिया जाता है। वे इधर-उधर सचरण नही कर पाते—उनका चलना-फिरना रोक दिया जाता है। ये और इसी प्रकार की अन्यान्य वेदनाएँ वे अदत्तादान का पाप करने वाले पापी प्राप्त करते हैं।

विवेचन—सूत्र का भाव स्पष्ट है।

चोर को दिया जाने वाला दण्ड

७३—अदंतिंदिया वसट्टा बहुमोहमोहिया परधणम्मि लुद्धा फासिंदिय-विसय-तिव्वगिद्धा इत्थि-गयरूवसद्दरसगंधइट्ठरइमहियभोगतण्हाइया य धणतोसगा गहिया य जे णरगणा, पुणरवि ते कम्म-दुव्वियड्ढा उवणीया रायकिंकराण तेसिं वहसत्थगपाढयाणं विलउलीकारगाणं लंचसयगेण्हगाणं कूडक-वडमाया-णियडि-आयरणपणिहिवंचणविसारयाणं बहुविहअलियसयजंपगाणं परलोय-परम्मुहाणं णिरय-गइगामियाणं तेहिं आणत्त-जीयदंडा तुरियं उग्घाडिया पुरवरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु वेत-दंड-लउड-कट्ठलेट्ठु-पत्थर-पणालिपणोल्लिमुट्ठि-लया-पायपण्हि-जाणु-कोप्पर-पहार-संभग्ग-महियगत्ता।

७३—जिन्होंने अपनी इन्द्रियों का दमन नही किया है—जो अपनी इन्द्रियो पर नियन्त्रण नही रख सके हैं बल्कि स्वय इन्द्रियो के दास बन गए हैं, वशीभूत हो रहे है, जो तीव्र आसक्ति के कारण मूढ—हिताहित के विवेक से रहित बन गए है, परकीय धन मे लुब्ध हैं, जो स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में तीव्र रूप से गृद्ध—आसक्त हैं, स्त्री सम्बन्धी रूप, शब्द, रस और गध में इष्ट रति तथा इष्ट भोग की तृष्णा से व्याकुल बने हुए हैं, जो केवल धन की प्राप्ति मे ही सन्तोष मानते हैं, ऐसे मनुष्यगण—चोर—राजकीय पुरुषो द्वारा पकड लिये जाते हैं, फिर भी (पहले कभी ऐसी यातनाएं भोग लेने पर भी) वे पापकर्म के परिणाम को नही समझते। वे राजपुरुष अर्थात् आरक्षक—पुलिस के सिपाही—वधशास्त्र के पाठक होते हैं अर्थात् वध की विधियो को गहराई से समझते है। अन्याययुक्त कर्म करने वाले या चोरो को गिरफ्तार करने में चतुर होते हैं। वे तत्काल समझ जाते हैं कि यह चोर अथवा लम्पट है। वे सैकडो अथवा सैकडो वार लांच—रिश्वत लेते है। झूठ, कपट, माया, निकृति करके वेषपरिवर्त्तन आदि करके चोर को पकडने तथा उससे अपराध स्वीकार कराने में अत्यन्त कुशल होते हैं—गुप्तचरी के काम में अति चतुर होते हैं। वे नरकगतिगामी, परलोक से विमुख एव अनेक प्रकार से सैकडो असत्य भाषण करने वाले, ऐसे राजकिंकरों—सरकारी कर्मचारियों के समक्ष उपस्थित कर दिये जाते

है ।

उन राजकीय पुरुषों द्वारा जिनको प्राणदण्ड की सजा दी गई है, उन चोरों को पुरवर—नगर में शृ गाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ और पथ आदि स्थानो मे जनसाधारण के सामने—प्रकट रूप मे लाया जाता है । तत्पश्चात् बेतों से, डडो से, लाठियो से, लकड़ियो से, ढेलों से, पत्थरो से, लम्बे लट्ठो से, पणोल्लि—एक विशेष प्रकार की लाठी से, मुक्को से, लताओ से, लातो से, घुटनो से, कोहनियो से, उनके अग-अग भग कर दिए जाते हैं, उनके शरीर को मथ दिया जाता है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे भी चोरो की यातनाओं का प्रतिपादन किया गया है । साथ ही यह उल्लेख भी कर दिया गया है कि आखिर मनुष्य चौर्य जैसे पाप कर्म में, जिसके फलस्वरूप ऐसी-ऐसी भयानक एवं घोरतर यातनाएँ भोगनी पड़ती है, क्यो प्रवृत्त होता है ?

इस पाप-प्रवृत्ति का प्रथम मूल कारण अपनी इन्द्रियों को वश मे न रखना है । जो मनुष्य इन्द्रियो को अपनी दासी बना कर नही रखता और स्वय को उनका दास बना लेता है, वही ऐसे पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है । अतएव चोरी से बचने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर सयम रक्खे और उन्हे स्वच्छन्द न होने दे ।

दूसरा कारण है—परधन का लोभ, जिसे 'परधणम्मि लुद्धा' विशेषण द्वारा उल्लिखित किया गया है । इनका उल्लेख पूर्व में भी किया जा चुका है ।

अदत्तादान के इस प्रकरण मे स्पर्शनेन्द्रिय मे आसक्ति—स्त्रियों के प्रति उत्पन्न हुए अनुराग का भी कथन किया गया है । इसका कारण यही जान पड़ता है कि परस्त्री का सेवन अब्रह्मचर्य के साथ अदत्तादान का भी पाप है, क्योकि परस्त्री अदत्त होती है । आचार्य अभयदेवसूरि ने इस विषय मे कोई उल्लेख नही किया है ।

मूल पाठ मे कतिपय स्थलो का नामोल्लेख हुआ है । उनका अर्थ इस प्रकार है—

शृ गाटक—सिंघाड़े के आकार का तिकोना मार्ग ।

त्रिक—जहाँ तीन रास्ते मिलते हो ।

चतुष्क—चौक, जहाँ चार मार्ग मिलते हैं ।

चत्वर—जहाँ चार से अधिक मार्ग मिलते हैं ।

चतुर्मुख—चारो दिशाओं मे चार द्वार वाली इमारत, जैसे बगला, देव मन्दिर या कोई अन्य स्थान ।

महापथ—चौड़ी सड़क, राजमार्ग ।

पथ—साधारण रास्ता ।

७४—अट्ठारसकम्मकारणा जाइयंगमंगा कलुणा सुक्कोट्ठकंठ-गलत-तालु-जीहा जायंता पाणीयं विगय-जीवियासा तण्हाइया वरागा तं वि य ण लभंति वज्झपुरिसेहिं धाडियंता । तत्थ य खर-फरुस-पडहघट्टिय-कूडग्गहगाढरुट्ठणिसट्ठपरामुट्ठा वज्झयरकुडिजुयणियत्था सुरत्तकणवीर-गहियविमुकुल-कंठे-गुण-वज्झदूयआविद्धमल्लदामा, मरणभयुप्पण्णसेय-आयतणेहुत्तुपियकिलिण्णगत्ता चुण्णगुंडियसरीर-रयरेणुभरियकेसा कुसुंभगोकिण्णमुद्धया छिण्ण-जीवियासा घुण्णंता वज्झयाणभीया[1] तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा सरीरविकिकत्तलोहिओलित्ता कागणिमंसाणि-खावियंता पावा खरफरुसएहिं तालिज्जमाण-

---

१. **वज्झपाणिप्पया**—पाठ भी है ।

देहा चातिग-नरनारीसंपरिवुडा पेच्छिज्जंता य णगरजणेण वज्झणेवत्थिया पणेज्जंति णयरमज्झेण किवणकलुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पहीणा विपिक्खंता दिसोदिसिं मरणभयुव्विग्गा आघायणपडिदुवार-संपाविया अधण्णा सूलग्गविलग्गभिण्णदेहा।

७४—अठारह प्रकार के चोरो एव चोरी के प्रकारों के कारण उनके अग-अग पीडित कर दिये जाते हैं, उनकी दशा अत्यन्त करुणाजनक होती है। उनके ओष्ठ, कण्ठ, गला, तालु और जीभ सूख जाती है, जीवन की आशा उनकी नष्ट हो जाती है। वे बेचारे प्यास से पीडित होकर पानी मागते हैं पर वह भी उन्हें नसीब नही होता। वहाँ कारागार मे वध के लिए नियुक्त पुरुष उन्हें धकेल कर या घसीट कर ले जाते है। अत्यन्त कर्कश पटह—ढोल बजाते हुए, राजकर्मचारियो द्वारा धकियाए जाते हुए तथा तीव्र क्रोध से भरे हुए राजपुरुषो के द्वारा फांसी या शूली पर चढाने के लिए दृढ़तापूर्वक पकडे हुए वे अत्यन्त ही अपमानित होते है। उन्हे प्राणदण्डप्राप्त मनुष्यो के योग्य दो वस्त्र पहनाए जाते है। एकदम लाल कनेर की माला उनके गले मे पहनायी जाती है, जो वध्यदूत-सी प्रतीत होती है अर्थात् यह सूचित करती है कि इस पुरुष को शीघ्र ही मृत्युदण्ड दिया जाने वाला है। मरण की भीति के कारण उनके शरीर से पसीना छूटता है, उस पसीने की चिकनाई से उनके सारे अग भीग जाते हैं—समग्र शरीर चिकना-चिकना हो जाता है। कोयले आदि के दुर्वर्ण चूर्ण से उनका शरीर पोत दिया जाता है। हवा से उड कर चिपटी हुई धूल से उनके केश रूखे एव धूल भरे हो जाते हैं। उनके मस्तक के केशो को कुसु भी—लाल रग से रग दिया जाता है। उनकी जीवन—जिन्दा रहने—की आशा छिन्न—नष्ट हो जाती है। अतीव भयभीत होने के कारण वे डगमगाते हुए चलते है—दिमाग मे चक्कर आने लगते है और वे वधको—जल्लादो से भयभीत बने रहते हैं। उनके शरीर के तिल-तिल जितने—छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जाते है। उन्ही के शरीर मे से काटे हुए और रुधिर से लिप्त माँस के छोटे-छोटे टुकडे उन्हे खिलाए जाते है। कठोर एव कर्कश स्पर्श वाले पत्थर आदि से उन्हे पीटा जाता है। इस भयावह दृश्य को देखने के लिए उत्कठित, पागलो जैसी नर-नारियो की भीड से वे घिर जाते हैं। नागरिक जन उन्हे (इस अवस्था मे) देखते हैं। मृत्युदण्डप्राप्त कैदी की पोशाक उन्हे पहनाई जाता है और नगर के बीचो-बीच हो कर ले जाया जाता है। उस समय वे चोर दीन-हीन—अत्यन्त दयनीय दिखाई देते है। त्राणरहित, अशरण, अनाथ, बन्धु-बान्धवविहीन, भाई-बदो द्वारा परित्यक्त वे इधर-उधर—विभिन्न दिशाओ मे नजर डालते हैं (कि कोई सहायक—सरक्षक दीख जाए) और (सामने उपस्थित) मौत के भय से अत्यन्त घबराए हुए होते हैं। तत्पश्चात् उन्हे आघातन—वधस्थल पर पहुँचा दिया जाता है और उन अभागो को शूली पर चढ़ा दिया जाता है, जिससे उनका शरीर चिर जाता है।

विवेचन—प्राचीन काल मे चोरी करना कितना गुरुतर अपराध गिना जाता था और चोरी करने वालो को कैसा भीषण दण्ड दिया जाता था, यह तथ्य इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक काल में भी चोरो को भयकर से भयकर यातनाएँ भुगतनी पडती हैं।

कल्पना कीजिए उस बीभत्स दृश्य की जब वध्य का वेष धारण किए चोर नगर के बीच फिराया जा रहा हो! उसके शरीर पर प्रहार पर प्रहार हो रहे हो, अग काटे जा रहे हो और उसी का मास उसी को खिलाया जा रहा हो, नर-नारियो के झुण्ड के झुण्ड उस दृश्य को देखने के लिए उमड़े हुए हो! उस समय अभागे चोर की मनोभावनाएँ किस प्रकार की होती होगी! मरण सामने

देख कर उसे कैसा अनुभव होता होगा ! काश, वह इस दुर्दशा की पहले ही कल्पना कर लेता और चोरी में पापकर्म में प्रवृत्ति न करता। ऐसी अवस्था में कोई उसे त्राण या शरण नही देता, यहाँ तक कि उसके भाई-बंद भी उसका परित्याग कर देते हैं।

प्रस्तुत पाठ मे अठारह प्रकार के चोरो या चौर्यप्रकारों का का उल्लेख किया गया है। वे अठारह प्रकार ये हैं—

भलनं कुशल तर्जा, राजभागोऽवलोकनम्।
आमर्गदर्शन शय्या, पदभगस्तथैव च ॥ १ ॥
विश्रामः पादपतनमासन गोपन तथा।
खण्ड स्यखादन चैव, तथाऽन्यन्माहराजिकम् ॥ २ ॥
पद्याग्न्युदकरज्जूना प्रदान ज्ञानपूर्वकम्।
एता प्रसूतयो ज्ञेया अष्टादश मनीषिभिः ॥ ३ ॥

१-- डरते क्यो हो ? मैं सब सँभाल लूँगा, तुम्हारा बाल बांका नही होने दूँगा, इस प्रकार कह कर चोर को प्रोत्साहन देना 'भलन' कहलाता है।
२. चोर के मिलने पर उससे कुशल-क्षेम पूछना।
३ चोर को चोरी के लिए हाथ आदि से संकेत करना।
४ राजकीय कर—टैक्स को छिपाना—नही देना।
५ चोर के लिए सधि आदि देखना अथवा चोरी करते देख कर मौन रह जाना।
६ चोरो की खोज करने वालो को गलत—विपरीत मार्ग दिखाना।
७ चोरो को सोने के लिए शय्या देना।
८ चोरो के पद-चिह्नो को मिटाना।
९ चोर को घर मे छिपाना या विश्राम देना।
१० चोर को नमस्कारादि करना—उसे सम्मान देना।
११ चोर को बैठने के लिए आसन देना।
१२ चोर को छिपाना—छिपा कर रखना।
१३ चोर को पकवान आदि खिलाना।
१४. चोर को गुप्त रूप से आवश्यक वस्तुएँ भेजना।
१५ थकावट दूर करने के लिए चोर को गर्म पानी, तेल आदि देना।
१६ भोजन पकाने आदि के लिए चोर को अग्नि देना।
१७. चोर को पीने के लिए ठडा पानी देना।
१८ चोर को चोरी करने के लिए अथवा चोरी करके लाये पशु को बाधने के लिए रस्सी-रस्सा देना।

ये अठारह चोरी के प्रसूति—कारण हैं। चोर को चोर जान कर ही ऐसे कार्य चौर्यकारण होते है।

इससे स्पष्ट है कि केवल साक्षात् चोरी करने वाला ही चोर नही है, किन्तु चोरी में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देना, सलाह देना, उत्तेजना देना, चोर का आदर-सत्कार करना आदि भी चोरी के ही अन्तर्गत है। कहा है—

चोरश्चौरार्पको मन्त्री, भेदज्ञः काणकक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चोर. सप्तविध· स्मृतः ।।

अर्थात्—(१) स्वय चोरी करने वाला (२) चोरी करवाने वाला (३) चोरी करने की सलाह देने वाला (४) भेद बतलाने वाला—कैसे, कब और किस विधि से चोरी करना, इत्यादि बताने वाला (५) चोरी का माल (कम कीमत मे) खरीदने वाला (६) चोर को खाने की सामग्री देने वाला—जगल आदि गुप्त स्थानो मे रसद पहुँचाने वाला (७) चोर को छिपाने के लिए स्थान देने वाला, ये सात प्रकार के चोर कहे गए है ।

चोरों को दी जाती हुई भीषण यातनाएँ

७५—ते य तत्थ कीरंति परिकप्पियंगमंगा उल्लंबिज्जंति रुक्खसालासु केइ कलुणाइं विलवमाणा, अवरे चउरंगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसमपत्थरसहा अण्णे, य गय-चलण-मलणयणिम्मद्दिया कीरंति पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मुंडपरसूहि केइ उक्कत्तकण्णोट्ठणासा उप्पाडियणयण-दसण-वसणा जिब्भिदियछिया छिण्ण-कण्णसिरा पणिज्जंते छिज्जंते य असिणा णिव्विसया छिण्णहत्थपाया पमुच्चंते य जावज्जीवबंधणा य कीरंति, केइ परदव्वहरणलुद्धा कारग्गलणियल-जुयलरुद्धा चारगाएहतसारा सयणविप्पमुक्का मित्तजणणिरक्खिया णिरासा बहुजण-धिक्कार-सद्द-लज्जाविया अलज्जा अणुबद्धखुहा पारद्धा सी-उण्ह-तण्ह-वेयण-दुग्घट्टघट्टिया विवण्णमुह-विच्छविया विहलमइल-दुब्बला किलंता कासंता वाहिया य आमाभिभूयगत्ता परूढ-णह-केस-मंसु-रोमा छगमुत्तम्मि णियगम्मि खुत्ता । तत्थेव मया अकामगा बंधिऊण पाएसु कड्डिया खाइयाए छूढा, तत्थ य वग-सुणग-सियाल-कोल-मज्जार-वंडसं-दंसगतुंड-पक्खिगण-विवाह-मुहसयल-विलुत्तगत्ता कय-विहंगा, केइ किमिणा य कुहियदेहा अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा सुट्ठु कयं जं मउत्ति पावो तुट्ठेणं जणेण हम्ममाणा लज्जावणगा य होंति सयणस्स वि य दीहकाल ।

७५—वहाँ वध्यभूमि मे उनके (किन्ही-किन्ही चोरो के) अग-प्रत्यग काट डाले जाते हैं—टुकडे-टुकडे कर दिये जाते है । उनको वृक्ष की शाखाओ पर टाग दिया जाता है । उनके चार अगो—दोनो हाथो और दोनो पैरो को कस कर बाध दिया जाता है । किन्ही को पर्वत की चोटी से नीचे गिरा दिया जाता है—फेंक दिया जाता है । बहुत ऊँचाई से गिराये जाने के कारण उन्हे विषम—नुकीले पत्थरो की चोट सहन करनी पडती है । किसी-किसी का हाथी के पैर के नीचे कुचल कर कचूमर बना दिया जाता है । उन अदत्तादान का पाप करने वालो को कुठित धार वाले—भोथरे कुल्हाड़ो आदि से अठारह स्थानो में खडित किया जाता है । कइयो के कान, आँख और नाक काट दिये जाते हैं तथा नेत्र, दात और वृषण—अडकोश उखाड लिये जाते है । जीभ खीच कर बाहर निकाल ली जाती है, कान काट लिये जाते हैं या शिराएँ काट दी जाती है । फिर उन्हे वधभूमि में ले जाया जाता है और वहाँ तलवार से काट दिया जाता है । (किन्ही-किन्ही) चोरो को हाथ और पैर काट कर निर्वासित कर दिया जाता है—देश निकाला दे दिया जाता है । कई चोरो को आजीवन-मृत्युपर्यन्त कारागार मे रक्खा जाता है । परकीय द्रव्य का अपहरण करने मे लुब्ध कई चोरो को कारागार मे साकल बाध कर एव दोनो पैरो मे बेडियाँ डाल कर बन्द कर दिया जाता है । कारागार में बन्दी बना कर उनका धन छीन लिया जाता है ।

वे चोर स्वजनों द्वारा त्याग दिये जाते है—राजकोप के भय से कोई स्वजन उनसे सबध नही रखता, मित्रजन उनकी रक्षा नही करते । सभी के द्वारा वे तिरस्कृत होते हैं । अतएव वे सभी की ओर से निराश हो जाते हैं । बहुत-से लोग 'धिक्कार है तुम्हे' इस प्रकार कहते हैं तो वे लज्जित होते हैं अथवा अपनी काली करतूत के कारण अपने परिवार को लज्जित करते हैं । उन लज्जाहीन मनुष्यो को निरन्तर भूखा मरना पडता है । चोरी के वे अपराधी सर्दी, गर्मी और प्यास की पीड़ा से कराहते-चिल्लाते रहते हैं । उनका मुख—चेहरा विवर्ण—सहमा हुआ और कान्तिहीन हो जाता है । वे सदा विह्वल या विफल, मलिन और दुर्बल बने रहते है । थके-हारे या मुर्झाए रहते हैं, कोई-कोई खासते रहते हैं और अनेक रोगो मे ग्रस्त रहते हैं । अथवा भोजन भलीभांति न पचने के कारण उनका शरीर पीडित रहता है । उनके नख, केश और दाढी-मूंछो के बाल तथा रोम बढ़ जाते हैं । वे कारागार मे अपने ही मल-मूत्र में लिप्त रहते है (क्योकि मल-मूत्र त्यागने के लिए उन्हे अन्यत्र नही जाने दिया जाता ।)

जब इस प्रकार की दुस्सह वेदनाएं भोगते-भोगते वे, मरने की इच्छा न होने पर भी, मर जाते है (तब भी उनकी दुर्दशा का अन्त नही होता) । उनके शव के पैरो मे रस्सी बाध कर कारागार से बाहर निकाला जाता है और किसी खाई-गड्ढे मे फेंक दिया जाता है । तत्पश्चात् भेडिया, कुत्ते, सियार, शूकर तथा सडासी के समान मुख वाले अन्य पक्षी अपने मुखो से उनके शव को नोच-चीथ डालते है । कई शवो को पक्षी—गीध आदि खा जाते है । कई चोरो के मृत कलेवर मे कीडे पड जाते हैं, उनके शरीर सड-गल जाते हैं । (इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् भी उनकी ऐसी दुर्गति होती है । फिर भी उसका अन्त नही आता) । उसके बाद भी अनिष्ट वचनो से उनकी निन्दा की जाती है – उन्हे धिक्कारा जाता है कि –अच्छा हुआ जो पापी मर गया अथवा मारा गया । उसकी मृत्यु से सन्तुष्ट हुए लोग उसकी निन्दा करते हैं । इस प्रकार वे पापी चोर अपनी मौत के पश्चात् भी दीर्घकाल तक अपने स्वजनो को लज्जित करते रहते हैं ।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे भी चोरो को दी जाने वाली भीषण, दुस्सह या असह्य यातनाओ का विवरण दिया गया है । साथ ही बतलाया गया है कि अनेक प्रकार के चोर ऐसे भी होते हैं, जिन्हे प्राणदण्ड—वध के बदले आजीवन कारागार का दण्ड दिया जाता है । मगर यह दण्ड उन्हे प्राणदण्ड से भी अधिक भारी पडता है । कारागार मे उन्हे भूख, प्यास आदि, सर्दी-गर्मी आदि तथा वध-बन्ध आदि के घोर कष्ट तो सहन करने ही पडते हैं, परन्तु कभी-कभी तो उन्हे मल-मूत्र त्यागने के लिए भी अन्यत्र नही जाने दिया जाता और वे जिस स्थान मे रहते है, वही उन्हे मल-मूत्र त्यागने को विवश होना पडता है और उनका शरीर अपने ही त्यागे हुए मल-मूत्र से लिप्त हो जाता है; अदत्तादान-कर्त्ताओ की यह दशा कितनी दयनीय होती है !

ऐसी अवस्था मे आजीवन रहना कितनी बडी विडम्बना है, यह कल्पना करना भी कठिन है ।

जब वे चोर ऊपर मूल पाठ मे बतलाई गई यातनाओं को अधिक सहन करने मे असमर्थ हो कर अकालमृत्यु या यथाकालमृत्यु के शिकार हो जाते है तो उनके शव की भी विडम्बना होती है । शव के हाथों-पैरो में रस्सी बाध कर उसे घसीटा जाता है और किसी खड्डे या खाई में फेंक दिया जाता है । गीध और सियार उसे नोच-नोच कर खाते है, वह सडता-गलता रहता है, उसमे असख्य कीड़े बिलबिलाते हैं । इधर यह दुर्दशा होती है और उधर लोग उसकी मौत का समाचार पाकर उसे

कोसते हैं। कहते हैं—भला हुआ जो पापी मर गया ! इस प्रकार का जनवाद सुन कर उस चोर के आत्मीय जनों को लज्जित होना पडता है। वे दूसरो के सामने अपना शिर ऊँचा नही कर पाते। इस प्रकार चोर स्वय तो यातनाएँ भुगतता ही है, अपने पारिवारिक जनो को भी लज्जित करता है।

फिर भी क्या चोरी के पाप से होने वाली विडम्बनाओ का अन्त आ जाता है ? नही। आगे पढिए।

पाप और दुर्गति की परम्परा

७६—मया संता पुणो परलोग-समावण्णा णरए गच्छंति णिरभिरामे अंगार-पलित्तककप्प-अच्चत्थ-सीयवेयण-अस्साउदिण्ण-सययदुक्ख-सय-समभिद्दुए, तओ वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोणि तहिं पि णिरयोवमं अणुहवंति वेयणं, ते अणंतकालेण जइ णाम कहिं वि मणुयभावं लभंति णेगेहिं णिरयगइ-गमण-तिरिय-भव-सयसहस्स-परियट्टेहिं।

तत्थ वि य भवंतऽणारिया णीय-कुल-समुप्पण्णा आरियजणे वि लोगबज्झा तिरिक्खभूया य अकुसला कामभोगतिसिया जहिं णिबंधंति णिरयवत्तणिभवप्पवंचकरण-पणोल्लि पुणो वि संसारावत्तणेम-मूले धम्मसुइ-विवज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छत्तसुइपवण्णा य होंति एगंत-दंड-रुइणो वेढेंता कोसिकारकीडोव्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतु-घणबंधणेणं।

७६—(चोर अपने दु:खमय जीवन का अन्त होने पर) परलोक को प्राप्त होकर नरक मे उत्पन्न होते हैं। नरक निरभिराम है—वहाँ कोई भी अच्छाई नही है और आग से जलते हुए घर के समान (अतीव उष्ण वेदना वाला या) अत्यन्त शीत वेदना वाला होता है। (तीव्र) असातावेदनीय कर्म की उदीरणा के कारण सैकडो दु:खो से व्याप्त है। (लम्बी आयु पूरी करने के पश्चात्) नरक से उद्वर्त्तन करके—उबर कर—निकल कर फिर तिर्यचयोनि में जन्म लेते हैं। वहाँ भी वे नरक जैसी असातावेदना को अनुभव करते हैं। उस तिर्यंचयोनि में अनन्त काल भटकते हैं। किसी प्रकार, अनेकों वार नरकगति और लाखों वार तिर्यंचगति में जन्म-मरण करते-करते यदि मनुष्यभव पा लेते हैं तो वहाँ भी नीच कुल में उत्पन्न होते हैं और अनार्य होते हैं। कदाचित् आर्यकुल में जन्म मिल गया तो वहाँ भी लोकबाह्य-बहिष्कृत होते हैं। पशुओ जैसा जीवन यापन करते हैं, कुशलता से रहित होते हैं अर्थात् विवेकहीन होते हैं, अत्यधिक कामभोगो की तृष्णा वाले और अनेको वार नरक-भवो मे (पहले) उत्पन्न होने के कु-सस्कारो के कारण नरकगति मे उत्पन्न होने योग्य पापकर्म करने की प्रवृत्ति वाले होते हैं। अतएव ससार-चक्र में परिभ्रमण कराने वाले अशुभ कर्मों का बन्ध करते हैं। वे धर्मशास्त्र के श्रवण से वंचित रहते है—पापकर्मो मे प्रवृत्त रहने के कारण धर्मशास्त्र को श्रवण करने की रुचि ही उनके हृदय मे उत्पन्न नही होती। वे अनार्य—शिष्टजनोचित आचार-विचार से रहित, क्रूर-नृशस-निर्दय मिथ्यात्व के पोषक शास्त्रो को अगीकार करते हैं। एकान्ततः हिंसा में ही उनकी रुचि होती है। इस प्रकार रेशम के कीडे के समान वे अष्ट कर्म रूपी तन्तुओ से अपनी आत्मा को प्रगाढ बन्धनो से जकड़ लेते हैं।

विवेचन—अदत्तादान-पाप के फलस्वरूप जीव की उसी भव सबधी व्यथाओ का विस्तार-पूर्वक वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रकार ने परभव सबधी दशाओ का दिग्दर्शन यहाँ कराया है। चोरी के फल भोगने के लिए चोर को नरक में उत्पन्न होना पड़ता है। क्योंकि नारक जीव नरक से

छुटकारा पाकर पुन. अनन्तर भव में नरक मे उत्पन्न नही होता, अतः चोर का जीव किसी तिर्यंच की पर्याय में जन्म लेता है। वहाँ भी उसे नरक जैसे कष्ट भोगने पड़ते हैं। तिर्यंचगति से मर कर जीव पुनः तिर्यंच हो सकता है, अतएव वह वार-वार तिर्यंचो में और बीच-बीच मे नरकगति में जन्म लेता और मरता रहता है। यो जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल तक व्यतीत हो जाता है।

तत्पश्चात् कभी किसी पुण्य-प्रभाव से मनुष्यगति प्राप्त करता है तो नीच कुल मे जन्म लेता है और पशुओ सरीखा जीवन व्यतीत करता है। उसकी रुचि पापकर्मों में ही रहती है। वार-वार नरकभव मे उत्पन्न होने के कारण उसकी मति ही ऐसी हो जाती है कि अनायास ही वह पापो मे प्रवृत्त होता है।

नरकगति और तिर्यंचगति मे होने वाले दुःखो का प्रथम आस्रवद्वार मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है, अतएव वही से समझ लेना चाहिए।

पापी जीव अपनी आत्मा को किस प्रकार कर्मों से वेष्टित कर लेता है, इसके लिए मूल पाठ मे 'कोसिकारकीडोव्व' अर्थात् कोशिकारकीट—रेशमी कीड़े की बहुत सुन्दर उपमा दी गई है। यह कीडा अपनी ही लार से अपने आपको वेष्टित करने वाले कोश का निर्माण करता है। उसके मुख से निकली लार तन्तुओं का रूप धारण कर लेती है और उसी के शरीर पर लिपट कर उसे घेर लेती है। इस प्रकार वह कीडा अपने लिए आप ही बन्धन तैयार करता है। इसी प्रकार पापी जीव स्वय अपने किये कर्मों द्वारा बद्ध होता है।

संसार-सागर

७७—एवं णरग-तिरिय-णर-अमर-गमण-पेरंतचक्कवालं जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिलं संजोगवियोगवीची-चितापसंग-पसरिय-वह-बंध-महल्ल-विपुलकल्लोलं कलुण-विलविय-लोभ-कलकलित-बोलबहुलं अवमाणणफेणं तिव्वखिसणपुलंपुलप्पभूय-रोग-वेयण-पराभव-विणिवायफरुस-धरिसण-समावडिय- कठिणकम्मपत्थर-तरंग-रंगंत-णिच्च-मच्चु-भयतोयपट्ठं कसायपायालसंकुलं भव-सयसहस्सजलसंचयं अणंतं उव्वेयणयं अणोरपारं महब्भयं भयंकरं पइभयं अपरिमिय-महिच्छ-कलुस-मइ-वाउवेगउद्धम्ममाणं आसापिवासपायाल-काम-रइ-रागदोस-बंधण-बहुविहसंकप्प-विउलदगरयरयंधकारं मोहमहावत्त-भोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंत-बहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणियं पधाविय-वसणसमावण्ण रुण्ण-चंडमारुयसमाहया मणुण्णवीची-वाकुलियभग्गफुट्टंतणिट्ठकल्लोल-संकुलजलं पमायबहुचंडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणगपूरघोरविद्धंसणत्थबहुलं अण्णाणभमंत-मच्छपरिहत्थं अणिहुतिंदिय-महामगरतुरिय-चरिय-खोखुब्भमाण- संतावणिचयचलंत- चवल-चंचल-अत्ताण-असरण-पुव्वकय-कम्मसंचयोदिण्ण-वज्जवेइज्जमाण-दुहसय-विवागघुण्णंतजल-समूहं।

इड्ढि-रस-साय-गारवोहार-गहिय- कम्मपडिबद्ध-सत्तकड्ढिज्जमाण-णिरयतलहुत्त-सण्णविसण्ण-बहुलं अरइ-रइ-भय-विसाय-सोगमिच्छत्तसेलसंकडं अणाइसंताण-कम्मबंधण-किलेसचिक्खिल्लसुदुत्तारं अमर-णर-तिरिय-णिरयगइ-गमण-कुडिलपरियत्त-विपुलवेलं हिंसा-लिय-अदत्तादाण मेहुणपरिग्गहारंभ-करण-कारावणा-णुमोयण-अट्ठविह-अणिट्ठकम्मपिंडिय- गुरुभारक्कंतदुग्गजलोघ-दूरपणोलिज्जमाण-उम्मुग्ग-णिमग्ग-दुल्लभतलं सारीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियंता सायस्सायपरितावणमयं उब्बुड्डणिब्बुड्डयं

करेंता चउरंतमहंत-मणवयग्गं रुद्दं संसारसागरं श्रट्ठियं श्रणालंबण-मपइट्ठाण-मप्पमेयं चुलसीइ-जोणि-सयसहस्सगुविलं श्रणालोकमंधयारं श्रणंतकालं णिच्चं उत्तत्थसुण्णभयसण्णसंपउत्ता वसंति उव्विग्ग-वासवसहिं ।

जहिं श्राउयं णिबंधंति पावकम्मकारी, बंधव-जण-सयण-मित्तपरिवज्जिया श्रणिट्ठा भवंति श्रणाइज्जदुव्विणीया कुठाणा-सण-कुसेज्ज-कुभोयणा श्रसुइणो कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया, कुरूवा बहु-कोह-माण-माया-लोहा बहुमोहा धम्मसण्ण-सम्मत्त-परिब्भट्ठा दारिद्दोवद्दवाभिभूया णिच्चं परकम्म-कारिणो जीवणत्थरहिया किविणा परपिंडतक्कगा दुक्खलद्धाहारा श्ररस-विरस-तुच्छ-कय-कुच्छिपूरा परस्स पेच्छंता रिद्धि-सक्कार-भोयणविसेस-समुदयविहिं णिदंता श्रप्पगं कयंतं च परिवयंता इह य पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण डज्झमाणा परिभूया होंति, सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्प-कला-समय-सत्थ-परिवज्जिया जहाजायपसुभूया श्रवियत्ता णिच्च-णीय-कम्मोवजीविणो लोय-कुच्छ-णिज्जा मोघमणोरहा णिरासबहुला ।

७७—(बन्धनो से जकडा वह जीव श्रनन्त काल तक ससार-सागर मे ही परिभ्रमण करता रहता है। ससार-सागर का स्वरूप कैसा है, यह एक सागोपाग रूपक द्वारा शास्त्रकार निरूपित करते है—)

नरक, तिर्यंच, मनुष्य श्रौर देव गति मे गमनागमन करना ससार-सागर की बाह्य परिधि है। जन्म, जरा श्रौर मरण के कारण होने वाला गभीर दु ख ही ससार-सागर का श्रत्यन्त क्षुब्ध जल है। संसार-सागर मे सयोग श्रौर वियोग रूपी लहरे उठती रहती है। सतत—निरन्तर चिन्ता ही उमका प्रसार—फैलाव—विस्तार है। वध श्रौर बन्धन ही उसमे लम्बी-लम्बी, ऊची एव विस्तीर्ण तरगे हैं। उसमे करुणाजनक विलाप तथा लोभ की कलकलाहट की ध्वनि की प्रचुरता है। उसमे श्रपमान रूपी फेन होते हैं—श्रवमानना या तिरस्कार के फेन व्याप्त रहते हैं। तीव्र निन्दा, पुन. पुन उत्पन्न होने वाले रोग, वेदना, तिरस्कार, पराभव, श्रध पतन, कठोर झिडकियाँ जिनके कारण प्राप्त होती है, ऐसे कठोर ज्ञानावरणीय श्रादि कर्मों रूपी पाषाणो से उठी हुई तरगो के समान चचल है। सदैव बना रहने वाला मृत्यु का भय उस ससार-समुद्र के जल का तल है। वह ससार-सागर कषायरूपी पाताल-कलशो से व्याप्त है। लाखों भवो की परम्परा ही उसकी विशाल जलराशि है। वह श्रनन्त है—उसका कही श्रोर-छोर दृष्टिगोचर नही होता। वह उद्वेग उत्पन्न करने वाला श्रौर तटरहित होने से श्रपार है। दुस्तर होने के कारण महान् भय रूप है। भय उत्पन्न करने वाला है। उसमे प्रत्येक प्राणी को एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न होने वाला भय बना रहता है। जिनकी कही कोई सीमा—श्रन्त नही, ऐसी विपुल कामनाश्रो श्रौर कलुषित बुद्धि रूपी पवन श्राधी के प्रचण्ड वेग के कारण उत्पन्न तथा श्राशा (श्रप्राप्त पदार्थ को प्राप्त करने की श्रभिलाषा) श्रौर पिपासा (प्राप्त भोगो-पभोगो को भोगने की लोलुपता) रूप पाताल, समुद्रतल से कामरति—शब्दादि विषयो सम्बन्धी श्रनुराग श्रौर द्वेष के बन्धन के कारण उत्पन्न विविध प्रकार के सकल्परूपी जल-कणो की प्रचुरता से वह श्रन्धकारमय हो रहा है। ससार-सागर के जल में प्राणी मोहरूपी भवरों (श्रावर्तों) में भोगरूपी गोलाकार चक्कर लगा रहे हैं, व्याकुल होकर उछल रहे हैं तथा बहुत-से बीच के हिस्से में फैलने के

कारण ऊपर उछल कर नीचे गिर रहे है। इस ससार-सागर मे इधर-उधर दौड़धाम करते हुए, व्यसनों से ग्रस्त प्राणियो के रुदनरूपी प्रचण्ड पवन से परस्पर टकराती हुई अमनोज्ञ लहरो से व्याकुल तथा तरंगों से फूटता हुआ एव चचल कल्लोलो से व्याप्त जल है। वह प्रमाद रूपी अत्यन्त प्रचण्ड एव दुष्ट श्वापदो—हिंसक जन्तुओ द्वारा सताये गये एव इधर-उधर घूमते हुए प्राणियों के समूह का विध्वस करने वाले घोर अनर्थों से परिपूर्ण है। उसमे अज्ञान रूपी भयकर मच्छ घूमते रहते हैं। अनुपशान्त इन्द्रियो वाले जीवरूप महामगरो की नयी-नयी उत्पन्न होने वाली चेष्टाओ से वह अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। उसमे सन्तापो का समूह— नाना प्रकार के सन्ताप विद्यमान हैं, ऐसा प्राणियो के द्वारा पूर्वसचित एव पापकर्मों के उदय से प्राप्त होने वाला तथा भोगा जाने वाला फल रूपी घूमता हुआ—चक्कर खाता हुआ जल-समूह है जो बिजली के समान अत्यन्त चचल—चलायमान बना रहता है। वह त्राण एव शरण से रहित है—दुःखी होते हुए प्राणियो को जैसे समुद्र मे कोई त्राण—शरण नही होता, इसी प्रकार ससार मे अपने पापकर्मों का फल भोगने से कोई बच नही सकता।

ससार-सागर में ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव रूपी अपहार—जलचर जन्तुविशेष—द्वारा पकड़े हुए एव कर्मबन्ध से जकड़े हुए प्राणी जब नरकरूप पाताल-तल के सम्मुख पहुँचते है तो सन्न—खेदखिन्न और विषण्ण—विषादयुक्त होते हैं, ऐसे प्राणियो की बहुलता वाला है। वह अरति, रति, भय, दीनता, शोक तथा मिथ्यात्व रूपी पर्वतो से व्याप्त है। अनादि सन्तान— परम्परा वाले कर्मबन्धन एव राग-द्वेष आदि क्लेश रूप कीचड के कारण उस ससार-सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है। जैसे समुद्र मे ज्वार आते है, उसी प्रकार ससार-समुद्र मे देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति में गमनागमन रूप कुटिल परिवर्तनो से युक्त विस्तीर्ण वेला—ज्वार—आते रहते है। हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आरभ के करने, कराने और अनुमोदने से सचित ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के गुरुतर भार से दबे हुए तथा व्यसन रूपी जलप्रवाह द्वारा दूर फेंके गये प्राणियो के लिए इस ससार-सागर का तल पाना अत्यन्त कठिन है। इसमे प्राणी शारीरिक और मानसिक दु खों का अनुभव करते रहते हैं। ससार सबधी सुख-दुःख से उत्पन्न होने वाले परिताप के कारण वे कभी ऊपर उठने और कभी डूबने का प्रयत्न करते रहते हैं, अर्थात् आन्तरिक सन्ताप से प्रेरित होकर प्राणी ऊपर-नीचे आने-जाने की चेष्टाओ मे सलग्न रहते हैं। यह ससार-सागर चार दिशा रूप चार गतियो के कारण विशाल है। अर्थात् समुद्र चारो दिशाओ मे विस्तृत होता है और ससार चार गतियो के कारण विशाल है। यह अन्तहीन और विस्तृत है। जो जीव सयम में स्थित नही—असंयमी हैं, उनके लिए यहाँ कोई आलम्बन नही है, कोई आधार नही है—सुरक्षा के लिए कोई साधन नही है। यह अप्रमेय है—छद्मस्थ जीवो के ज्ञान से अगोचर है या इसकी कही अन्तिम सीमा नही है—उसे मापा नही जा सकता। चौरासी लाख जीवयोनियो से व्याप्त—भरपूर है। यहाँ अज्ञानान्धकार छाया रहता है और यह अनन्तकाल तक स्थायी है। ससार-सागर उद्वेगप्राप्त—घबराये हुए—दु.खी प्राणियो का निवास-स्थान है। इस ससार मे पापकर्मकारी प्राणी जहाँ—जिस ग्राम, कुल आदि की आयु बाधते हैं वही पर वे बन्धु-बान्धवो, स्वजनो और मित्रजनो से परिवर्जित होते हैं, अर्थात् उनका कोई सहायक, आत्मीय या प्रेमी नही होता। वे सभी के लिए अनिष्ट होते हैं। उनके वचनो को कोई ग्राह्य—आदेय नही मानता और वे दुर्विनीत—कदाचारी होते हैं। उन्हें रहने को खराब स्थान, बैठने को खराब आसन, सोने को खराब शय्या और खाने को खराब भोजन मिलता है। वे अशुचि—अपवित्र या गदे रहते है अथवा अश्रुति—शास्त्रज्ञान से विहीन होते हैं। उनका सहनन

(हाड़ों की बनावट) खराब होता है, शरीर प्रमाणोपेत नही होता—शरीर का कोई भाग उचित से अधिक छोटा अथवा बड़ा होता है। उनके शरीर की आकृति बेडौल होती है। वे कुरूप होते हैं। उनमें क्रोध, मान, माया और लोभ तीव्र होता है—तीव्रकषायी होते हैं और मोह—आसक्ति की तीव्रता होती है—अत्यन्त आसक्ति वाले होते हैं अथवा घोर अज्ञानी होते हैं। उनमे धर्मसंज्ञा—धार्मिक समझ-बूझ नही होती। वे सम्यग्दर्शन से रहित होते हैं। उन्हें दरिद्रता का कष्ट सदा सताता रहता है। वे सदा परकर्मकारी—दूसरों के अधीन रह कर काम करते हैं—नौकर-चाकर रह कर जिन्दगी बिताते हैं। कृपण-रंक-दीन-दरिद्र रहते है। दूसरो के द्वारा दिये जाने वाले पिण्ड—आहार की ताक में रहते हैं। कठिनाई से दु:खपूर्वक आहार पाते हैं, अर्थात् सरलता से अपना पेट भी नही भर पाते। किसी प्रकार रूखे-सूखे, नीरस एव निस्सार भोजन से पेट भरते हैं। दूसरो का वैभव, सत्कार-सम्मान भोजन, वस्त्र आदि समुदय-अभ्युदय देखकर वे अपनी निन्दा करते हैं—अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं। अपनी तकदीर को रोते है। इस भव मे या पूर्वभव मे किये पापकर्मों की निन्दा करते हैं। उदास मन रह कर शोक की आग मे जलते हुए लज्जित-तिरस्कृत होते हैं। साथ ही वे सत्त्वहीन, क्षोभग्रस्त तथा चित्रकला आदि शिल्प के ज्ञान से रहित, विद्याओ से शून्य एव सिद्धान्त-शास्त्र के ज्ञान से शून्य होते हैं। यथाजात अज्ञान पशु के समान जड़ बुद्धि वाले, अविश्वसनीय या अप्रतीति उत्पन्न करने वाले होते हैं। सदा नीच कृत्य करके अपनी आजीविका चलाते हैं—पेट भरते है। लोकनिन्दित, असफल मनोरथ वाले, निराशा से ग्रस्त होते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे ससार-महासमुद्र का प्ररूपण किया गया है। ससार का अर्थ है—ससरण—गमनागमन करना। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकगति मे जन्म-मरण करना ही ससार कहलाता है। इन चार गतियो मे परिभ्रमण करने के कारण इसे चातुर्गतिक भी कहते है। इन चार गतियो में नरकगति एकान्तत. दु.खो और भीषण यातनाओ से परिपूर्ण है। तिर्यंचगति मे भी दु खो को ही बहुलता है। मनुष्य और देवगति भी दु'खों से अछूती नही है। इनके सम्बन्ध मे प्रथम आस्रवद्वार मे विस्तार से कहा जा चुका है।

यहाँ बतलाया गया है कि ससार सागर है। चार गतियाँ इनकी चारो ओर की बाह्य परिधि—घेरा हैं। समुद्र मे विशाल सलिल-राशि होती है तो इसमे जन्म—जरा—मरण एव भयकर दु.ख रूपी जल है। सागर का जल जैसे क्षुब्ध हो जाता है, उसी प्रकार ससार मे यह जल भी क्षुब्ध रहता है। जैसे सागर में आकाश को स्पर्श करती लहरे उठती रहती हैं, उसी प्रकार ससार मे इष्ट-वियोग, अनिष्ट-सयोग से उत्पन्न होने वाली बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ एव वध-बधादि की यातनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। ये ही इस सागर की लहरे हैं। जैसे समुद्र मे जगह-जगह पहाड़—चट्टाने होती हैं, उसी प्रकार यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म रूपी पर्वत हैं। इनके टकराव से भीषण लहरें पैदा होती हैं। मृत्यु-भय इस समुद्र की सतह है। क्रोधादि चार कषाय ही ससार-सागर के पाताल-कलश हैं। निरन्तर चालू रहने वाले भव-भवान्तर ही इस समुद्र का असीम जल है। इस जल से यह सदा परिपूर्ण रहता है। अनन्त—असीम तृष्णा, विविध प्रकार के मसूबे, कामनाएँ, आशाएँ तथा मलीन मनोभावनाएँ ही यहाँ प्रचण्ड वायु-वेग है, जिसके कारण ससार सदा क्षोभमय बना रहता है। काम-राग, लालसा, राग, द्वेष एव अनेकविध सकल्प रूपी सलिल की प्रचुरता के कारण यहाँ अन्धकार छाया रहता है। जैसे समुद्र मे भयानक आवर्त्त होते हैं तो यहाँ तीव्र मोह के

आवर्त्त विद्यमान हैं। समुद्र में भयावह जन्तु निवास करते है तो यहाँ ससार मे प्रमाद रूपी जन्तु विद्यमान हैं। अज्ञान एव असयत इन्द्रियाँ यहाँ विशाल मगर-मच्छ हैं, जिनके कारण निरन्तर क्षोभ उत्पन्न होता रहता है। समुद्र मे वडवानल होता है तो इस ससार मे शोक-सन्ताप का वडवानल है। समुद्र में पड़ा हुआ जीव अशरण, अनाथ, निराधार एव त्राणहीन बन जाता है, इसी प्रकार ससार मे जब जीव अपने कृत कर्मों के दुर्विपाक का वेदन करता हुआ दु खी होता है तो कोई भी उसके लिए शरण नहीं होता, कोई उसे दुःख से बचा नही सकता, कोई उसके लिए आधार अथवा आलम्बन नही बन सकता।

ऋद्धिगौरव—ऋद्धि का अभिमान, रसगौरव—सरस भोजनादि के लाभ का अभिमान, सातागौरव—प्राप्त सुख-सुविधा का अहकार रूप अपहार नामक समुद्री जन्तु इस ससार-सागर मे रहते हैं जो जीवो को खींच कर पाताल-तल की ओर घसीट ले जाते हैं। हिंसा आदि पापो के आचरण से होने वाले कर्म-बन्धन के गुरुतर भार मे ससारी प्राणी ससार-समुद्र में डूबते और उतराते रहते हैं।

इस ससार को अनादि और अनन्त कहा गया है। यह कथन समग्र जीवो की अपेक्षा समझना चाहिए, एक जीव की अपेक्षा से नही। कोई-कोई जीव अपने कर्मों का अन्त करके ससार-सागर से पार उतर जाते हैं। तथापि अनन्तानन्त जीवों ने भूतकाल में ससार मे परिभ्रमण किया है, वर्त्तमान में कर रहे हैं और भविष्यत् काल मे सदा करते ही रहेगे। अतएव यह अनादि और अनन्त है।

कर्मबन्ध को अनादि कहने का आशय भी सन्तति की अपेक्षा से ही है। कोई भी एक कर्म ऐसा नही है जो जीव के साथ अनादि काल से बँधा हो। प्रत्येक कर्म की स्थिति मर्यादित है और अपनी स्थिति पूर्ण होने पर वह जीव से पृथक् हो ही जाता है। किन्तु प्रतिसमय नवीन-नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है और इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादिकालिक है।

ससार-सागर के रूपक का यह सार अश है। शास्त्रकार ने स्वय ही विस्तृत रूप से इनका उल्लेख किया है। यद्यपि भाषा जटिल है तथापि आशय सुगम—सुबोध है। उसका आशय सरलता से समझा जा सकता है।

मूल पाठ मे चौरासी लाख जीवयोनियो का उल्लेख किया गया है। जीवो की उत्पत्ति का स्थान योनि कहलाता है। ये चौरासी लाख हैं—

पृथ्वीकाय की ७ लाख, अप्काय की ७ लाख, तेजस्काय की ७ लाख, वायुकाय की ७ लाख, प्रत्येक-वनस्पतिकाय की १० लाख, साधारण-वनस्पतिकाय की १४ लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, नारको की चार लाख, देवो की चार लाख, पचेन्द्रिय तिर्यंचो की चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख। इनमे कुछ योनियाँ शुभ और कुछ अशुभ हैं।[1]

१. सीयादी जोणिओ, चउरासीई अ सयसहस्सेहि।
असुहाओ य सुहाओ, तत्थ सुहाओ इमा जाण ॥ १ ॥
असंखाऊ मणुस्सा, राईसरसखमादियाऊण।
तित्थयरणामगोय, सव्वसुह होइ णायव्व ॥ २ ॥
तत्थ वि य जाइसपणाइ, सेसाओ होंति असुहाओ।
देवेसु किब्बिसाई, सेसाओ हुति असुहाओ ॥ ३ ॥

[शेष अगले पृष्ठ पर]

योनियों का स्वरूप विस्तारपूर्वक जानने के लिए तथा उनके अन्य प्रकार से भेद समझने के लिए प्रज्ञापनासूत्र का नौवाँ पद देखना चाहिए।

भोगे बिना छुटकारा नहीं

७८—आसापास-पडिबद्धपाणा अत्थोपायाण-काम-सोक्खे य लोयसारे होंति अपच्चंतगा य सुट्ठु वि य उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्त-कम्मकय-दुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचयपरा पक्खीणदव्वसारा णिच्चं अधुव-धण-धण्णकोस-परिभोगविवज्जिया रहिय-कामभोग-परिभोग-सव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोग-णिस्साणमग्गणपरायणा वरागा अकामियाए विणेंति दुक्खं। णेव सुहं णेव णिव्वुइं उवलभंति अच्चंत-विउल-दुक्खसय-संपलित्ता परस्स दव्वेहिं जे अविरया।

एसो सो अदिण्णादाणस्स फलविवागो, इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ, ण य अवेयइत्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति।

७८--अदत्तादान का पाप करने वालो के प्राण भवान्तर मे भी अनेक प्रकार की आशाओ—कामनाओं--तृष्णाओ के पाश मे बँधे रहते है। लोक मे सारभूत अनुभव किये जाने वाले अथवा माने जाने वाले अर्थोपार्जन एव कामभोगो सम्बन्धी सुख के लिए अनुकूल या प्रबल प्रयत्न करने पर भी उन्हें सफलता प्राप्त नही होती,—आवश्यकता एव निराशा ही हाथ लगती है। उन्हे प्रतिदिन उद्यम करने पर भी—कडा श्रम करने पर भी बडी कठिनाई से सिक्थपिण्ड—इधर-उधर बिखरा—फेका भोजन ही नसीब होता है—थोडे-से दाने ही मिलते है। वे प्रक्षीणद्रव्यसार होते हैं अर्थात् कदाचित् कोई उत्तम द्रव्य मिल जाए तो वह भी नष्ट हो जाता है या उनके इकट्ठे किए हुए दाने भी क्षीण हो जाते हैं। अस्थिर धन, धान्य और कोश के परिभोग से वे सदैव वचित रहते हैं। काम—शब्द और रूप तथा भोग—गन्ध, स्पर्श और रस के भोगोपभोग के सेवन से—उनसे प्राप्त होने वाले समस्त सुख से भी वचित रहते है। परायी लक्ष्मी के भोगोपभोग को अपने अधीन बनाने के प्रयास मे तत्पर रहते हुए भी वे बेचारे—दरिद्र न चाहते हुए भी केवल दु ख के ही भागी होते है। उन्हे न तो सुख नसीब होता है, न शान्ति—मानसिक स्वस्थता या सन्तुष्टि। इस प्रकार जो पराये

पंचिदियतिरिएसु, हय-गय रयणा हवति उ सुहाओ
सेसाओ असुहाओ, सुहवण्णेगेंदियादीया ॥ ४ ॥
देविंद-चक्कवट्टित्तणाइ, मोत्तु च तित्थयरभाव।
अणगारभाविया वि य, सेसाओ अणतसो पत्ता ॥ ५ ॥

अर्थात् —शीत आदि चौरासी लाख योनियों मे कतिपय शुभ और शेष अशुभ योनियाँ होती है। शुभ योनियाँ इस प्रकार हैं--असख्य वर्ष की आयु वाले मनुष्य (युगलिया), सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यो मे राजा-ईश्वर आदि, तीर्थंकरनामकर्म के बन्धक सर्वोत्तम शुभ योनि वाले हैं। सख्यात वर्ष की आयु वालो मे भी उच्चकुलसम्पन्न शुभ योनि वाले हैं, अन्य सब अशुभ योनि वाले हैं। देवो मे किल्विष जाति वालो की अशुभ और शेष शुभ हैं। पचेन्द्रिय तिर्यंचो मे हस्तिरत्न और अश्वरत्न शुभ हैं, शेष अशुभ हैं। एकेन्द्रियादि मे शुभ वर्णादि वाले शुभयोनिक और शेष अशुभयोनिक है। देवेन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकर और भावितात्मा अनगारो को छोड कर शेष जीवो ने अनन्त-अनन्त वार योनियाँ प्राप्त की है।

—प्रश्नव्या. सैलाना.

द्रव्यों से—पदार्थों से विरत नही हुए हैं अर्थात् जिन्होने अदत्तादान का परित्याग नही किया है, वे अत्यन्त एव विपुल सैकड़ों दु.खो की आग मे जलते रहते हैं।

अदत्तादान का यह फलविपाक है, अर्थात् अदत्तादान रूप पापकृत्य के सेवन से बँधे कर्मों का उदय में आया विपाक—परिणाम है। यह इहलोक मे भी और परलोक—आगामी भवो मे भी होता है। यह सुख से रहित है और दु.खो की बहुलता—प्रचुरता वाला है। अत्यन्त भयानक है। अतीव प्रगाढ कर्मरूपी रज वाला है। बडा ही दारुण है, कर्कश—कठोर है, असातामय है और हजारो वर्षों मे इससे पिण्ड छूटता है, किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता।

विवेचन—मूल पाठ का आशय स्पष्ट है। मूल मे अदत्तादान के फलविपाक को 'अप्पसुहो' कहा गया है। यही पाठ हिंसा आदि के फलविपाक के विषय मे भी प्रयुक्त हुआ है। 'अल्प' शब्द के दो अर्थ घटित होते हैं—अभाव और थोडा। यहाँ दोनो अर्थ घटित होते है, अर्थात् अदत्तादान का फल सुख से रहित है, जैसा कि पूर्व के विस्तृत वर्णन मे स्पष्ट है। जब 'अल्प' का अर्थ 'थोडा' स्वीकार किया जाता है तो उसका आशय समझना चाहिए—लेशमात्र, नाममात्र, पहाड बराबर दु.खो की तुलना मे राई भर।

यहाँ अर्थ और कामभोग को लोक मे 'सार' कहा गया है, सो सामान्य सासारिक प्राणियो की दृष्टि से ही समझना चाहिए। पारमार्थिक दृष्टि से तो अर्थ अनर्थों का मूल है और कामभोग आशी-विष सर्प के सदृश है।

उपसंहार

७९—एवमाहंसु णायकुल-णंदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-णामधेज्जो कहेसी य अदिण्णा-दाणस्स फलविवागं। एयं तं तइयं पि अदिण्णादाणं हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसंतिकभेज्ज-लोहमूलं एवं जाव चिरपरिगय-मणुगयं दुरंतं।

॥ तइयं अहम्मदारं समत्तं ॥ त्तिबेमि ॥

७९—ज्ञातकुलनन्दन, महान्-आत्मा वीरवर (महावीर) नामक जिनेश्वर भगवान् ने इस प्रकार कहा है। अदत्तादान के इस तीसरे (आस्रव-द्वार के) फलविपाक को भी उन्ही तीर्थंकर देव ने प्रतिपादित किया है।

यह अदत्तादान, परधन-अपहरण, दहन, मृत्यु, भय, मलिनता, त्रास, रौद्रध्यान एव लोभ का मूल है। इस प्रकार यह यावत् चिर काल से (प्राणियो के साथ) लगा हुआ है। इसका अन्त कठिनाई से होता है।

॥ तृतीय अधर्म-द्वार समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : अब्रह्म

श्रीसुधर्मा स्वामी अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू स्वामी के समक्ष चौथे आस्रव अब्रह्मचर्य की प्ररूपणा करते हुए उन्हे सम्बोधित करके कहते है—

८०—जंबू ! अबंभं च चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं पंकपणयपासजालभूयं थी-पुरिस-णपुंसग-वेयचिंधं तव-संजम-बंभचेरविग्घं भेयाययण-बहुपमायमूलं कायर-कापुरिससेवियं सुयणजणवज्जणिज्जं उड्ढ-णरय-तिरिय-तिल्लोकपइट्ठाणं जरा-मरण-रोग-सोगबहुलं वध-बंधविघाय-दुविघायं दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिगय-मणुगयरं दुरंतं चउत्थं अहम्मदारं ॥१॥

८०—हे जम्बू ! चौथा आस्रवद्वार अब्रह्मचर्य है। यह अब्रह्मचर्य देवो, मानवो और असुरो सहित समस्त लोक अर्थात् ससार के प्राणियो द्वारा प्रार्थनीय है—ससार के समग्र प्राणी इसकी कामना या अभिलाषा करते हैं। यह प्राणियो को फँसाने वाले कीचड के समान है। इसके सम्पर्क से जीव उसी प्रकार फिसल जाते हैं जैसे काई के ससर्ग से। ससार के प्राणियो को बांधने के लिए पाश के समान है और फँसाने के लिए जाल के सदृश है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद इसका चिह्न है। यह अब्रह्मचर्य तपश्चर्या, सयम और ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नस्वरूप—विघातक है। सदाचार सम्यक्चारित्र के विनाशक प्रमाद का मूल है। कायरो—सत्त्वहीन प्राणियो और कापुरुषों—निन्दित—निम्नवर्ग के पुरुषो (जीवो) द्वारा इसका सेवन किया जाता है। यह सुजनो—पाप से विरत साधक पुरुषो द्वारा वर्जनीय—त्याज्य है। ऊर्ध्वलोक—देवलोक, नरकलोक—अधोलोक एव तिर्यक्लोक—मध्यलोक मे, इस प्रकार तीनो लोको मे इसकी अवस्थिति है—प्रसार है। जरा—बुढापा, मरण—मृत्यु, रोग और शोक की बहुलता वाला है, अर्थात् इसके फलस्वरूप जीवों को जरा, मरण, रोग और शोक का पात्र बनना पडता है। वध—मारने-पीटने, बन्ध—बन्धनों में डालने और विघात—प्राणहीन कर देने पर भी इसका विघात—अन्त नही होता। यह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का मूल कारण है। चिरकाल—अनादिकाल से परिचित है और सदा से अनुगत है—प्राणियो के पीछे पडा हुआ है। यह दुरन्त है, अर्थात् कठिनाई से—तीव्र मनोबल, दृढ सकल्प, उग्र तपस्या आदि साधना से ही इसका अन्त आता है अथवा इसका अन्त अर्थात् फल अत्यन्त दुःखप्रद होता है।

ऐसा यह अधर्मद्वार है।

विवेचन—अदत्तादान नामक तीसरे आस्रवद्वार का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् यहाँ क्रमप्राप्त अब्रह्मचर्य का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। यो तो सभी आस्रवद्वार आत्मा को पतित करने वाले और अनेकानेक अनर्थों के मूल कारण हैं, जैसा कि पूर्व मे प्रतिपादित किया जा चुका है और आगे भी प्रतिपादन किया जाएगा। किन्तु अब्रह्मचर्य का इसमे अनेक दृष्टियो से विशिष्ट स्थान है।

अब्रह्मचर्य इतना व्यापक है कि देवों, दानवो, मनुष्यो एव तिर्यंचो मे इसका एकच्छत्र साम्राज्य है। यहाँ तक कि जीवो में सब से हीन संज्ञा वाले एकेन्द्रिय जीव भी इसके घेरे से बाहर

नहीं है। हरि, हर, ब्रह्मा आदि से लेकर कोई भी शूरवीर पुरुष ऐसा नही है जो कामवासना—अब्रह्मचर्य के अधीन न हो। यदि किसी पर इसका वश नही चल पाता तो वह केवल वीतराग—जिन ही हैं, अर्थात् जिसने राग का समूल उन्मूलन कर दिया है, जो वासना से सर्वथा रहित हो गया है वही पुरुषपुंगव अब्रह्मचर्य के फंदे से बच सका है।[1]

इस कथन का आशय यह नही है कि अब्रह्मचर्य के पाश से बचना और ब्रह्मचर्य की आराधना करना असभव है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, जिन—वीतराग पुरुष इस दुर्जय विकार पर अवश्य विजय प्राप्त करते हैं। यदि अब्रह्मचर्य का त्याग असभव होता तो सर्वज्ञ—वीतराग—महापुरुष इसके त्याग का उपदेश ही क्यों देते ! जहाँ पुराणो आदि साहित्य में ब्रह्मचर्य का पालन करने को उद्यत हुए किन्तु निमित्त मिलने पर रागोद्रेक से प्रेरित होकर अनेक साधको के उससे भ्रष्ट हो जाने के उदाहरण विद्यमान हैं, वही ऐसे-ऐसे जितेन्द्रिय, दृढमानस तपस्वियो के भी उदाहरण हैं, जिन्हें डिगाने के लिए देवागनाओ ने कोई कसर नही रक्खी, अपनी मोहक हाव-भाव—विलासमय चेष्टाओ से सभी उपाय किये, किन्तु वे जितेन्द्रिय महामानव रचमात्र भी नहीं डिगे। उन्होंने नारी को रक्त-मास—अशुचि का ही पिण्ड समझा और अपने आत्मबल द्वारा ब्रह्मचर्य की पूर्ण रूप से रक्षा की। यही कारण है कि प्रस्तुत पाठ में उसे 'दुरतं' तो कहा है किन्तु 'अनत' नही कहा, अर्थात् यह नही कहा कि उसका अन्त नही हो सकता। हाँ, अब्रह्मचर्य पर पूर्ण विजय पाने के लिए तप और सयम मे दृढता होनी चाहिए, साधक को सतत—निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

अब्रह्म के गुण-निष्पन्न नाम

८१—तस्स य णामाणि गोण्णाणि इमाणि होंति तीसं, तं जहा— १ अबंभं २ मेहुणं ३ चरंतं ४ संसग्गि ५ सेवणाहिगारो ६ संकप्पो ७ बाहणा पयाणं ८ दप्पो ९ मोहो १० मणसंखोभो ११ अणिग्गहो १२ वुग्गहो १३ विघाओ १४ विभंगो १५ विब्भमो १६ अहम्मो १७ असीलया १८ गामधम्मतित्ती १९ रई २० रागचिंता २१ कामभोगमारो २२ वेरं २३ रहस्सं २४ गुज्झं २४ बहुमाणो २६ बंभचेरविग्घो २७ वावत्ती २८ विराहणा २९ पसंगो ३० कामगुणोत्ति वि य तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीसं।

८१—उस पूर्व प्ररूपित अब्रह्मचर्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ अब्रह्म—अकुशल अनुष्ठान, अशुभ आचरण।
२ मैथुन—मिथुन अर्थात् नर-नारी के सयोग से होने वाला कृत्य।
३. चरत—समग्र ससार में व्याप्त।
४. सर्सार्ग—स्त्री और पुरुष (आदि) के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला।
५ सेवनाधिकार—चोरी आदि अन्यान्य पापकर्मों का प्रेरक।

---

१. हरि-हर-हिरण्यगर्भप्रमुखे भुवने न कोऽप्यसौ शूरः।
कुसमविशिखस्य विशिखान् अस्खलयद् यो जिनादन्यः॥
—प्र. व्या., आगरा-सस्करण

६. संकल्पी—मानसिक संकल्प से उत्पन्न होने वाला ।

७ बाधना पदानाम्—पद अर्थात् सयम-स्थानो को बाधित करने वाला, अथवा 'बाधना प्रजानाम्'— प्रजा अर्थात् सर्वसाधारण को पीडित—दु.खी करने वाला ।

८ दर्प—शरीर और इन्द्रियो के दर्प— अधिक पुष्ट होने—से उत्पन्न होने वाला ।

९ मूढता—अज्ञानता-अविवेक—हिताहित के विवेक को नष्ट करने वाला या विवेक को भुला देने वाला अथवा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला ।

१०. मन सक्षोभ—मानसिक क्षोभ से उत्पन्न होने वाला या मन मे क्षोभ—उद्वेग उत्पन्न करने वाला—मन को चलायमान बना देने वाला ।

११ अनिग्रह—विषयो मे प्रवृत्त होते हुए मन का निग्रह न करना अथवा मनोनिग्रह न करने से उत्पन्न होने वाला ।

१२ विग्रह—लडाई-झगड़ा-क्लेश उत्पन्न करने वाला अथवा विपरीत ग्रह-आग्रह-अभिनिवेश से उत्पन्न होने वाला ।

१३ विघात—आत्मा के गुणों का घातक ।

१४ विभग--सयम आदि सद्‌गुणो को भग करने वाला ।

१५ विभ्रम—भ्रम का उत्पादक अर्थात् अहित मे हित की बुद्धि उत्पन्न करने वाला ।

१६ अधर्म —पाप-का कारण ।

१७ अशीलता—शील का घातक, सदाचरण का विरोधी ।

१८ ग्रामधर्मतप्ति—इन्द्रियो के विषय शब्दादि काम-भोगो की गवेषणा का कारण ।

१९ रति— रतिक्रीडा करना—सम्भोग करना ।

२० रागचिन्ता—नर-नारी के शृङ्गार, हाव-भाव, विलास आदि के चिन्तन से उत्पन्न होने वाला ।

२१ कामभोगमार—काम-भोगो मे होने वाली अत्यन्त आसक्ति से होने वाली मृत्यु का कारण ।

२२ वैर—वैर-विरोध का हेतु ।

२३. रहस्यम्—एकान्त मे किया जाने वाला कृत्य ।

२४ गुह्य—लुक-छिपकर किया जाने वाला या छिपाने योग्य कर्म ।

२५. बहुमान—ससारी जीवो द्वारा बहुत मान्य ।

२६. ब्रह्मचर्यविघ्न—ब्रह्मचर्यपालन मे विघ्नकारी ।

२७ व्यापत्ति—आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विनाशक ।

२८ विराधना—सम्यक्‌चारित्र की विराधना करने वाला ।

२९. प्रसग—आसक्ति का कारण ।

३०. कामगुण—कामवासना का कार्य ।

विवेचन---अब्रह्मचर्य के ये तीस गुणनिष्पन्न नाम हैं। इन नामो पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि इनमे अब्रह्मचर्य के कारणो का, उसके कारण होने वाली हानियो का तथा उसके स्वरूप का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया गया है।

अब्रह्मचर्यसेवन का मूल मन मे उत्पन्न होने वाला एक विशेष प्रकार का विकार है। अतएव

इसे 'मनोज' भी कहते हैं। उत्पन्न होते ही मन को मथ डालता है, इस कारण इसका एक नाम 'मन्मथ' भी है। मन मे उद्‌भूत होने वाला यह विकार शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि मे बाधक तो है ही, उसके लिए की जाने वाली साधना-आराधना का भी विघातक है। यह चारित्र को पनपने नही देता। संयम मे विघ्न उपस्थित करता है। प्रथम तो सम्यक्‌चारित्र को उत्पन्न ही नही होने देता, फिर उत्पन्न हुआ चारित्र भी इसके कारण नष्ट हो जाता है।

इसकी उत्पत्ति के कारणो की समीक्षा करते हुए शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है कि इसका जन्म दर्प से होता है। इसका आशय यह है कि जब इन्द्रियाँ बलवान् बन जाती हैं और शरीर पुष्ट होता है तो कामवासना को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है। यही कारण है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाले साधक विविध प्रकार की तपश्चर्या करके अपनी इन्द्रियो को नियन्त्रित रखते हैं और अपने शरीर को भी बलिष्ठ नही बनाते। इसके लिए जिह्वेन्द्रिय पर काबू रखना और पौष्टिक आहार का वर्जन करना अनिवार्य है।

तीस नामो मे एक नाम 'ससर्गी' भी आया है। इससे ध्वनित है कि अब्रह्मचर्य के पाप से बचने के लिए साधक को विरोधी वेद वाले के ससर्ग से दूर रहना चाहिए। नर के साथ नारी का और नारी के साथ नर का अमर्यादा ससर्ग कामवासना को उत्पन्न करता है।

अब्रह्मचर्य को मोह, विग्रह, विघात, विभ्रम, व्यापत्ति, बाधनापद आदि जो नाम दिये गए हैं उनसे ज्ञात होता है कि यह विकार मन मे विपरीत भावनाएँ उत्पन्न करता है। काम के वशीभूत हुआ प्राणी मूढ बन जाता है। वह हित-अहित को, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को या श्रेयस्-अश्रेयस् को यथार्थ रूप मे समझ नही पाता। हित को अहित और अहित को हित मान बैठता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। उसके विचार विपरीत दिशा पकड लेते हैं। उसके शील-सदाचार-सयम का विनाश हो जाता है।

'विग्रहिक' और 'वैर' नामो से स्पष्ट है कि अब्रह्मचर्य लडाई-झगड़ा, युद्ध, कलह आदि का कारण है। प्राचीनकाल मे कामवासना के कारण अनेकानेक युद्ध हुए है, जिनमें हजारों-लाखो मनुष्यो का रक्त बहा है। शास्त्रकार स्वय आगे ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। आधुनिक काल में भी अब्रह्मसेवन की बदौलत अनेक प्रकार के लडाई-झगडे होते ही रहते हैं। हत्याएँ भी होती रहती है।

इस प्रकार उल्लिखित तीस नाम जहाँ अब्रह्मचर्य के विविध रूपो को प्रकट करते हैं, वही उससे होने वाले भीषण अनर्थों को भी सूचित करते है।

अब्रह्मसेवी देवादि

८२—तं च पुण णिसेवंति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहियमई असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिया, अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवाइय-कंदिय-महाकंदिय-कूहंड-पयंगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा, तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा, जलयर-थलयर-खहयरा, मोयपडिबद्धचित्ता अवितण्हा कामभोगतिसिया, तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिया य अइमुच्छिया य अबंभे उस्सण्णा तामसेण भावेण अणुम्मुक्का दंसण-चरित्तमोहस्स पंजरं पिव करेंति अण्णोण्णं सेवमाणा।

८२—उस अब्रह्म नामक पापास्रव को अप्सराओ (देवांगनाओ) के साथ सुरगण (वैमानिक देव) सेवन करते हैं। कौन-से देव सेवन करते हैं? जिनकी मति मोह के उदय मे मोहित—मूढ बन गई है तथा असुरकुमार, भुजग-नागकुमार, गरुडकुमार (सुपर्णकुमार) विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार, ये दश प्रकार के भवनवासी देव (अब्रह्म का सेवन करते हैं।)

अणपन्निक, पणपण्णिक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतग देव। (ये सब व्यन्तर देवो के प्रकार है--व्यन्तर जाति के देवो में अन्तर्गत हैं।)

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व (ये आठ प्रकार के व्यन्तर देव हैं।)

इनके अतिरिक्त तिर्छे—मध्य लोक मे विमानो मे निवास करने वाले ज्योतिष्क देव, मनुष्यगण तथा जलचर, स्थलचर एव खेचर—आकाश मे उडने वाले पक्षी (ये पचेन्द्रिय तिर्यचजातीय जीव) अब्रह्म का सेवन करते हैं।

जिनका चित्त मोह से ग्रस्त (प्रतिबद्ध) हो गया है, जिनकी प्राप्त कायभोग सबधी तृष्णा का अन्त नही हुआ है, जो अप्राप्त कामभोगो के लिए तृष्णातुर हैं, जो महती—तीव्र एव बलवती तृष्णा से बुरी तरह अभिभूत हैं—जिनके मानस को प्रबाल काम-लालसा ने पराजित कर दिया है, जो विषयो मे गृद्ध—अत्यन्त आसक्त एव अतीव मूर्छित हैं—कामवासना की तीव्रता के कारण जिन्हे उससे होने वाले दुष्परिणामो का भान नही है, जो अब्रह्म के कीचड मे फँसे हुए हैं और जो तामसभाव—अज्ञान रूप जड़ता से मुक्त नही हुए है, ऐसे (देव, मनुष्य और तिर्यञ्च) अन्योन्य-परस्पर नर-नारी के रूप मे अब्रह्म (मैथुन) का सेवन करते हुए अपनी आत्मा को दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के पिंजरे मे डालते हैं, अर्थात् वे अपने आप को मोहनीय कर्म के बन्धन से ग्रस्त करते है।

विवेचन—उल्लिखित मूल पाठ मे अब्रह्म-कामसेवन करने वाले सासारिक प्राणियो का कथन किया गया है। वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर, ये चारो निकायो के देवगण, मनुष्यवर्ग तथा जलचर, स्थलचर और नभश्चर—ये तिर्यञ्च कामवासना के चगुल मे फँसे हुए है। देवो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रस्तुत पाठ मे अब्रह्मचर्यसेवियो मे सर्वप्रथम देवो का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवो मे कामवासना अन्य गति के जीवो की अपेक्षा अधिक होती है। वे अनेक प्रकार से विषय-सेवन करते है।[1] इसे जानने के लिए स्थानाग सूत्र देखना चाहिए। अधिक विषय-सेवन का कारण उनका सुखमय जीवन है। विक्रियाशक्ति भी उसमे सहायक होती है।

यहा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैमानिक देवो के दो प्रकार हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। बारह देवलोको तक के देव कल्पोपपन्न और ग्रैवेयकविमानो तथा अनुत्तरविमानो के देव

१. (क) कायप्रवीचारा आ ऐशानात्
शेषा स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो परेऽप्रवीचारा।
—तत्त्वार्थसूत्र चतुर्थ अ, सूत्र ८, ९, १०

(ख) स्थानागसूत्र, स्था ३ उ. ३

कल्पातीत होते हैं, अर्थात् उनमें इन्द्र, सामानिक आदि का स्वामी-सेवकभाव नही होता । अब्रह्म का सेवन कल्पोपपन्न वैमानिक देवो तक सीमित है, कल्पातीत वैमानिक देव अप्रवीचार-मैथुनसेवन से रहित होते हैं । यही तथ्य प्रदर्शित करने के लिए मूलपाठ मे **'मोह-मोहियमई'** विशेषण का प्रयोग किया गया है । यद्यपि कल्पातीत देवो मे भी मोह की विद्यमानता है तथापि उसकी मन्दता के कारण वे मैथुनप्रवृत्ति से विरत होते हैं ।

वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में निवास करते हैं । ज्योतिष्क देवों का निवास इस पृथ्वी के समतल भाग से ७९० योजन से ९०० योजन तक के अन्तराल में है । ये सूर्य, चन्द्र आदि के भेद मे मूलत: पांच प्रकार के हैं । भवनवासी देवो के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस प्रकार हैं । इस रत्नप्रभा पृथ्वी का पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है । इनमें से एक हजार योजन ऊपरी और एक हजार योजन नीचे के भाग को छोड कर एक लाख अठहत्तर योजन में भवनवासी देवो का निवास है । व्यन्तर देव विविध प्रदेशो मे रहते है, इस कारण इनकी सज्ञा व्यन्तर है । रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम भाग एक हजार योजन मे से एक-एक सौ योजन ऊपर और नीचे छोड कर बीच के ८०० योजन मे, तिर्यग्भाग में व्यन्तरो के असंख्यात नगर हैं ।

उल्लिखित विवरण से स्पष्ट है कि देव, मनुष्य और तिर्यंच इस अब्रह्म नामक आस्रवद्वार के चगुल मे फँसे हैं ।

चक्रवर्ती के विशिष्ट भोग

८३—भुज्जो य असुर-सुर-तिरिय-मणुयभोगरइविहारसंपउत्ता य 'चक्कवट्टी सुरणरवइसक्कया सुरवरुव्व देवलोए ।

चक्रवर्ती का राज्य विस्तार

८४— भरह-णग-णगर- णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड- कब्बड-मडंब-संबाह-पट्टणसहस्स-मंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुह ।

चक्रवर्ती नरेन्द्र के विशेषण

८५—णरसीहा णरवई णरिंदा णरवसहा मरुयवसहकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए विप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा ।

चक्रवर्ती के शुभ लक्षण

रवि-ससि-संख-वरचक्क-सोत्थिय-पडाग-जव -मच्छ-कुम्म-रहवर-भग-भवण-विमाण-तुरय-तोरण-गोपुर-मणिरयण-णंदियावत्त- मुसल-णंगल- सुरइयवरकप्परुक्ख- मिगवइ-भद्दासण- सुरुचिथूभ-वरमउड-सरिय-कुंडल-कुंजर-वरवसह- दीव-मंदर-गरुलज्झय- इंदकेउ-दप्पण- अट्ठावय- चाव-बाण- णक्खत्त-मेह-मेहल-वीणा-जुग-छत्त-दाम-दामिणि-कमंडलु-कमल-घंटा-वरपोय-सूइ-सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-णेउर-णग-णगर-वइर- किण्णर-मयूर- वररायहंस-सारस- चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर-खेडग-पव्वीसग-विपंचि-वरतालियंट- सिरियाभिसेय- मेइणि-खग्गं-कुस- विमल-कलस-भिंगार- वद्धमाणग-पसत्थउत्तमविभत्तवरपुरिसलक्खणधरा ।

चक्रवर्ती की ऋद्धि

बत्तीसं वररायसहस्साणुजायमग्गा चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणणयणकंता रत्ताभा पउमपम्ह कोरंटगदामचंपकसुतवियवरकणकणिहसवण्णा सुवण्णा[1] सुजायसव्वंगसुंदरंगा महग्घवरपट्टणुग्गयविचित्तरागएणिपेणिणिम्मिय-दुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणिसुत्तगविभूसियंगा वरसुरभि-गंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया कप्पियछेयायरियसुकयरइतमालकडगंगयतुडियपवरभूसणपिणद्धदेहा एकावलिकंठसुरइयवच्छा पालंब-पलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया उज्जल-णेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा तेएण दिवाकरोव्व दित्ता सारयणवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा उप्पण्णसमत्त-रयण-चक्करयणप्पहाणा णवणिहिवइणो समिद्धकोसा चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमाणमग्गा तुरयवई गयवई रहवई णरवई विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोमवयणा सूरा तिलोक्कणिग्गयभावलद्धसद्दा समत्तभरहाहिवा णरिंदा ससेल-वण-काणणं च हिमवंतसागरंतं धीरा भुत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसीहा पुव्वकडतवप्पभावा णिविट्ठसंचियसुहा, अणेगवाससयमायुवंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता अतुल-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे य अणुभवेत्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं ।

८३, ८४, ८५—पुनः असुरो, सुरो, तिर्यंचो और मनुष्यो सम्बन्धी भोगो मे रतिपूर्वक विहार विविध प्रकार की कामक्रीडाओ के प्रवृत्त, सुरेन्द्रो और नरेन्द्रो द्वारा सत्कृत— सम्मानित, देवलोक मे देवेन्द्र सरीखे, भरत क्षेत्र में सहस्रों पर्वतो, नगरो, निगमो—व्यापारियो वाली बस्तियो, जनपदो - प्रदेशो, पुरवरो—राजधानी आदि विशिष्ट नगरो, द्रोणमुखो—जहाँ जलमार्ग और स्थलमार्ग—दोनो से जाया जा सके ऐसे स्थानो, खेटो—धूल के प्राकार वाली बस्तियो, कर्बटो- -कस्बों—जिनके आस-पास दूर तक कोई बस्ती न हो ऐसे स्थानो, सवाहो- -छावनियो, पत्तनो - व्यापार-प्रधान नगरियो से सुशोभित, सुरक्षित होने के कारण निश्चिन्त—स्थिर लोगो के निवास वाली, एकच्छत्र—एक के आधिपत्य वाली एव समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का उपभोग करके चक्रवर्त्ती– जो मनुष्यो मे सिह के समान शूरवीर होते है, जो नरपति है, नरेन्द्र है—मनुष्यो मे सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली है, जो नर-वृषभ है—स्वीकार किये उत्तरदायित्व को निभाने मे समर्थ है, जो मरुभूमि के वृषभ के समान सामर्थ्यवान् हैं, अत्यधिक राज-तेज रूपी लक्ष्मी—वैभव से देदीप्यमान है—जिनमे असाधारण राजसी तेज देदीप्यमान हो रहा है, जो सौम्य—शान्त एव निरोग है, राजवशो मे तिलक के समान—श्रेष्ठ है, जो सूर्य, चन्द्रमा, शख, चक्र, स्वस्तिक, पताका, यव, मत्स्य, कच्छप—कछुवा, उत्तम रथ, भग—योनि, भवन, विमान, अश्व, तोरण, नगरद्वार, मणि (चन्द्रकान्त आदि), रत्न, नद्यावर्त्त -नौ कोणो वाला स्वस्तिक, मूसल, हल, सुन्दर कल्पवृक्ष, सिह, भद्रासन, सुरुचि—एक विशिष्ट आभूषण, स्तूप, सुन्दर मुकुट, मुक्तावली हार, कुडल, हाथी, उत्तम बैल, द्वीप, मेरुपर्वत या घर, गरुड, ध्वजा, इन्द्रकेतु—इन्द्रमहोत्सव मे गाडा जाने वाला स्तम्भ, दर्पण, अष्टापद—वह फलक या पट जिस पर चौपड आदि खेली जाती है या कैलाश पर्वत, धनुष, बाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, गाड़ी का जुआ, छत्र, दाम—माला, दामिनी—पैरो तक लटकती माला, कमण्डलु, कमल, घटा, उत्तम पोत—जहाज, सुई, सागर, कुमुदवन अथवा कुमुदो से व्याप्त तालाब, मगर, हार, गागर—जलघट या एक

१. 'सुवण्णा' शब्द ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति मे ही है ।

प्रकार का आभूषण, नूपुर—पाजेब, पर्वत, नगर, वज्र, किन्नर—देवविशेष या वाद्यविशेष, मयूर, उत्तम राजहंस, सारस, चकोर, चक्रवाक-युगल, चवर, ढाल, पव्वीसक—एक प्रकार का बाजा, विपची—सात तारो वाली वीणा, श्रेष्ठ पखा, लक्ष्मी का अभिषेक, पृथ्वी, तलवार, अकुश, निर्मल कलश, भृगार—झारी और वर्धमानक—सिकोरा अथवा प्याला, (चक्रवर्ती इन सब) श्रेष्ठ पुरुषो के मागलिक एव विभिन्न लक्षणो को धारण करने वाले होते हैं।

बत्तीस हजार श्रेष्ठ मुकुटबद्ध राजा मार्ग मे उनके (चक्रवर्त्ती के) पीछे-पीछे चलते हैं। वे चौसठ हजार श्रेष्ठ युवतियो (महारानियो) के नेत्रो के कान्त—प्रिय होते हैं। उनके शरीर की कान्ति रक्तवर्ण होती है। वे कमल के गर्भ--मध्यभाग, चम्पा के फूलो, कोरट की माला और तप्त सुवर्ण की कसौटी पर खीची हुई रेखा के समान गौर वर्ण वाले होते हैं। उनके सभी अगोपांग अत्यन्त सुन्दर और सुडौल होते हैं। बडे-बडे पत्तनो मे बने हुए विविध रगो के हिरनी तथा खास जाति की हिरनी के चर्म के समान कोमल एव बहुमूल्य वल्कल से या हिरनी के चर्म से बने वस्त्रो से तथा चीनी वस्त्रो, रेशमी वस्त्रो से तथा कटिसूत्र—करधनी से उनका शरीर सुशोभित होता है। उनके मस्तिष्क उत्तम सुगन्ध से सुन्दर चूर्ण (पाउडर) के गध से और उत्तम कुसुमो से युक्त होते हैं। कुशल कलाचार्यों—शिल्पियो द्वारा निपुणतापूर्वक बनाई हुई सुखकर—आराम देने वाली माला, कड़े, अगद—बाजूबद, तुटिक—अनन्त तथा अन्य उत्तम आभूषणो को वे शरीर पर धारण किए रहते हैं। एकावली हार से उनका कण्ठ सुशोभित रहता है। वे लम्बी लटकती धोती एव उत्तरीय वस्त्र—दुपट्टा पहनते है। उनकी उगलियाँ अगूठियो से पीली रहती हैं। अपने उज्ज्वल एव सुखप्रद वेष—पोशाक से अत्यन्त शोभायमान होते हैं। अपनी तेजस्विता से वे सूर्य के समान दमकते है। उनका आघोष (आवाज) शरद् ऋतु के नये मेघ की ध्वनि के समान मधुर गम्भीर एव स्निग्ध होता है। उनके यहाँ चौदह रत्न—जिनमे चक्ररत्न प्रधान है—उत्पन्न हो जाते हैं और वे नौ निधियो के अधिपति होते है। उनका कोश—कोशागार—खजाना—खूब भरपूर (समृद्ध) होता है। उनके राज्य की सीमा चातुरन्त होती है, अर्थात् तीन दिशाओ मे समुद्र पर्यन्त और एक दिशा मे हिमवान् पर्वत पर्यन्त होती है। चतुरगिणी सेना—गजसेना, अश्वसेना, रथसेना एव पदाति-सेना—उनके मार्ग का अनुगमन करती है—उनके पीछे-पीछे चलती है। वे अश्वो के अधिपति, हाथियो के अधिपति, रथो के अधिपति एव नरो—मनुष्यो के अधिपति होते हैं। वे बडे ऊचे कुलो वाले तथा विश्रुत—दूर-दूर तक फैले यश वाले होते हैं। उनका मुख शरद्-ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा के समान होता है। शूरवीर होते है। उनका प्रभाव तीनो लोकों मे फैला होता है एव सर्वत्र उनकी जय-जयकार होती है। वे सम्पूर्ण—छह खण्ड वाले भरत क्षेत्र के अधिपति, धीर, समस्त शत्रुओ के विजेता, बडे-बडे राजाओ मे सिंह के समान, पूर्वकाल मे किए तप के प्रभाव से सम्पन्न, सचित पुष्ट सुख को भोगने वाले, अनेक वर्षशत अर्थात् सैकडों वर्षों के आयुष्य वाले एव नरो में इन्द्र—चक्रवर्त्ती होते हैं। पर्वतो, वनो और काननो सहित उत्तर दिशा मे हिमवान् नामक वर्षधर पर्वत और शेष तीन दिशाओ में लवणसमुद्र पर्यन्त समग्र भरत क्षेत्र का भोग करके अर्थात् समस्त भारतवर्ष के स्वामित्व—राज्यशासन का उपभोग करके, (विभिन्न) जनपदों में प्रधान—उत्तम भार्याओ के साथ भोग-विलास करते हुए तथा अनुपम—जिनकी तुलना नही की जा सकती ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गध सम्बन्धी काम-भोगो का अनुभव—भोगोपभोग करते हैं। फिर भी वे काम-भोगों से तृप्त हुए विना ही मरणधर्म को—मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे शास्त्रकार ने यह प्रदर्शित किया है कि कामभोगो से जीव की

कदापि तृप्ति होना सम्भव नही है। कामभोगों की लालसा अग्नि के समान है। ज्यो-ज्यों ईंधन डाला जाता है, त्यो-त्यों अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित ही होती जाती है। ईंधन से उसकी उपशान्ति होना असम्भव है। अतएव ईंधन डाल कर अग्नि को शान्त करने-बुझाने का प्रयास करना वज्रमूर्खता है। काम-भोगों के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है। भोजन करके भूख शान्त की जा सकती है, जल-पान करके तृषा को उपशान्त किया जा सकता है, किन्तु कामभोगो के सेवन से काम-वासना तृप्त नहीं की जा सकती। जो काम-वासना की वृद्धि करने वाला है, उससे उसकी शान्ति होना असम्भव है। ज्यो-ज्यों कामभोगो का सेवन किया जाता है, त्यो-त्यो उसकी अभिवृद्धि ही होती है। यथार्थ ही कहा गया है—

न जातु काम. कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।।

जैसे आग में घी डालने से आग अधिक प्रज्वलित होती है—शान्त नही होती, उसी प्रकार कामभोग से कामवासना कदापि शान्त नही हो सकती।

अग्नि को बुझाने का उपाय उसमें नये सिरे से ईंधन न डालना है। इसी प्रकार कामवासना का उन्मूलन करने के लिए कामभोग से विरत होना है। महान् विवेकशाली जन कामवासना के चगुल से बचने के लिए इसी उपाय का अवलम्बन करते हैं। उन्होने भूतकाल मे यही उपाय किया है और भविष्य में भी करेंगे, क्योकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नही।

कामभोग भोगतृष्णा की अभिवृद्धि के साधन है और उनके भोगने से तृप्ति होना सम्भव नही है, इसी तथ्य को अत्यन्त सुन्दर रूप से समझाने के लिए शास्त्रकार ने चक्रवर्त्ती के विपुल वैभव का विशद वर्णन किया है।

चक्रवर्त्ती के भोगो की महिमा का बखान करना शास्त्रकार का उद्देश्य नही है। उसकी शारीरिक सम्पत्ति का वर्णन करना भी उनका अभीष्ट नही है। उनका लक्ष्य यह है कि मानव जाति में सर्वोत्तम वैभवशाली, सर्वश्रेष्ठ शारीरिक बल का स्वामी, अतुल पराक्रम का धनी एव अनुपम काम-भोगो का दीर्घ काल तक उपभोक्ता चक्रवर्त्ती होता है। उसके भोगोपभोगो की तुलना मे शेष मानवो के उत्तमोत्तम कामभोग धूल हैं, निकृष्ट हैं किसी गणना में नही हैं। षट्खण्ड भारतवर्ष की सर्व श्रेष्ठ चौसठ हजार स्त्रियाँ उसकी पत्नियाँ होती हैं। वह उन पत्नियो के नयनो के लिए अभिराम होता है, अर्थात् समस्त पत्नियाँ उसे हृदय से प्रेम करती हैं। उनके साथ अनेक शताब्दियो तक निश्चिन्त होकर भोग भोगने पर भी उसकी वासना तृप्त नही होती और अन्तिम क्षण तक—मरण सन्निकट आने तक भी वह अतृप्त—असन्तुष्ट ही रहता है और अतृप्ति के साथ ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है।

जब चक्रवर्त्ती के जैसे विपुलतम भोगो से भी ससारी जीव की तृप्ति न हुई तो सामान्य जनों के भोगोपभोगो से किस प्रकार तृप्ति हो सकती है! इसी तथ्य को प्रकाशित करना प्रस्तुत सूत्र का एक मात्र लक्ष्य है। इसी प्रयोजन को पुष्ट करने के लिए चक्रवर्त्ती की विभूति का वर्णन किया गया है।

चक्रवर्त्ती सम्पूर्ण भरतखण्ड के एकच्छत्र साम्राज्य का स्वामी होता है। बत्तीस हजार मुकुट-

बद्ध राजा उनके समक्ष नतमस्तक होकर उसके आदेश को अगीकार करते हैं। सोलह हजार म्लेच्छ राजा भी उसके सेवक होते हैं।

सोलह हजार देव भी चक्रवर्त्ती के प्रकृष्ट पुण्य से प्रेरित होकर उसके आज्ञाकारी होते हैं। इनमें से चौदह हजार देव चौदह रत्नों की रक्षा करते हैं और दो हजार उनके दोनों ओर खड़े रहते हैं।

चक्रवर्त्ती की सेना बहुत विराट् होती है। उसमे चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख घोड़े, चौरासी लाख रथ और ९६००००००० पैदल सैनिक होते हैं।

उसके साम्राज्य में ७२००० बड़े-बड़े नगर, ३२००० जनपद, ९६०००००० ग्राम, ९९००० द्रोणमुख, ४८००० पट्टन, २४००० मडंब, २०००० आकर, १६००० खेट, १४००० सबाह आदि सम्मिलित होते हैं।

चक्रवर्ती की नौ निधियां—उनकी असाधारण सम्पत्ति नौ निधि और चौदह रत्न विशेषत: उल्लेखनीय हैं। निधि का अर्थ निधान या भडार है। चक्रवर्ती की यह नौ निधियां सदैव समृद्ध रहती है। इनका परिचय इस प्रकार है—

१. नैसर्पनिधि—नवीन ग्रामो का निर्माण करना, पुरानों का जीर्णोद्धार करना और सेना के लिए मार्ग, शिविर, पुल आदि का निर्माण इस निधि से होता है।

२ पाण्डुकनिधि—धान्य एवं बीजो की उत्पत्ति, नाप, तौल के साधन, वस्तुनिष्पादन की सामग्री प्रस्तुत करना आदि इसका काम है।

३. पिगलनिधि—स्त्रियो, पुरुषो, हस्तियो एव अश्वो आदि के आभूषणो की व्यवस्था करना।

४ सर्वरत्ननिधि—सात एकेन्द्रिय और सात पचेन्द्रिय श्रेष्ठरत्नों की उत्पत्ति इस निधि से होती है।

५ महापद्मनिधि—रगीन और श्वेत, सब तरह के वस्त्रो की उत्पत्ति और निष्पत्ति का कारण यह निधि है।

६ कालनिधि—अतीत और अनागत के तीन-तीन वर्षों के शुभाशुभ का ज्ञान, सौ प्रकार के शिल्प, प्रजा के लिए हितकर सुरक्षा, कृषि और वाणिज्य कर्म कालनिधि से प्राप्त होते हैं।

७ महाकालनिधि—लोहे, सोने, चाँदी आदि के आकर, मणि, मुक्ता, स्फटिक और प्रवाल की उत्पत्ति इससे होती है।

८ माणवकनिधि—योद्धाओ, कवचो और आयुधो की उत्पत्ति, सर्व प्रकार की युद्धनीति एव दण्डनीति की व्यवस्था इस निधि से होती है।

९ शंखमहानिधि—नृत्यविधि, नाटकविधि, चार प्रकार के काव्यों एव सभी प्रकार के वाद्यों की प्राप्ति का कारण।

इन नौ निधियों के अधिष्ठाता नौ देव होते हैं। यहाँ निधि और उसके अधिष्ठाता देव मे अभेद-विवक्षा है। अतएव जिस निधि से जिस वस्तु की प्राप्ति कही गई है, वह उस निधि के अधिष्ठायक देव से समझना चाहिए।

इन नौ महानिधियों में चक्रवर्ती के लिए उपयोगी सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है। इन पर निधियों के नाम वाले देव निवास करते हैं। इनका क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। सदा देवों का ही आधिपत्य होता है।[1]

चौदह रत्न—उल्लिखित नौ निधियों मे से 'सर्वरत्ननिधि' से चक्रवर्त्ती को चौदह रत्नो की प्राप्ति होती है। यहाँ 'रत्न' शब्द का अर्थ हीरा, पन्ना आदि पाषाण नही समझना चाहिए। वस्तुत. जिस जाति में जो वस्तु श्रेष्ठ होती है, उसे 'रत्न' शब्द से अभिहित किया जाता है। जो नरो में उत्तम हो वह 'नररत्न' कहा जाता है। रमणियों मे श्रेष्ठ को 'रमणीरत्न' कहते है। इसी प्रकार समस्त सेनापतियो मे जो उत्तम हो वह सेनापतिरत्न, समस्त अश्वो में श्रेष्ठ को अश्वरत्न आदि। इसी प्रकार चौदह रत्नो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। चौदह रत्नों के नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) सेनापति (२) गाथापति (३) पुरोहित (४) अश्व (५) बढई (६) हाथी (७) स्त्री (८) चक्र (९) छत्र (१०) चर्म (११) मणि (१२) काकिणी (१३) खड्ग और (१४) दण्ड। इनका परिचय अन्यत्र देख लेना चाहिए।[2] विस्तारभय से यहाँ उल्लेख नही किया गया है।

ऐसी भोग-सामग्री के अधिपति भी कामभोगो से अतृप्त रहकर ही मरण-शरण होते हैं।

बलदेव और वासुदेव के भोग

८६—भुज्जो भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टगा महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा णरवसहा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवसमुद्दविजयमाइयदसाराणं पज्जुण्ण-पईव-संब-अणिरुद्ध-णिसह-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहाईण जायवाणं अद्धुट्ठाण वि कुमारकोडीणं हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवकीए य आणंद-हिययभावणंदणकरा सोलसरायवर-सहस्साणुजायमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणामणिकणगरयणमोत्तियपवालधणधण्णसंचयरिद्धिसमिद्धकोसा हयगयरहसहस्ससामी गामा-गर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सहस्सथिमिय- णिव्वुयपमुइयजण- विविहसास- णिप्फज्जमाणमेइणिसरसरिय- तलाग-सेलकाणण-आरामुज्जाणमणाभिरामपरिमंडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवण-जलहि-परिगयस्स छव्विह-कालगुणकामजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिगा धीरकित्तिपुरिसा ओहबला अइबला अणिहया अपराजियसत्तु-मद्दणरिपुसहस्समाणमहणा।

साणुक्कोसा अमच्छरी अचवला अचंडा मियमंजुलपलावा हसियगंभीरमहुरभणिया अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगा ससिसोमागारकंतपियदंसणा अमरिसणा पयंडडंडप्पयारगंभीरदरिसणिज्जा तालद्धउव्विद्धगरुलकेऊ बलवगगज्जंतदरियदप्पियमुट्ठियचाणूरमूरगा रिट्ठवसहघाइणो केसरिमुहविप्फाडगा दरियणागदप्पमहणा जमलज्जुणभंजगा महासउणिपूयणारिवू कंसमउडमोडगा जरासंधमाणमहणा।

१. स्थानाङ्ग, स्थान ९, पृ. ६६६-६६८ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)
२. प्रश्नव्याकरण, विवेचन ३५६ पृ. (आगरा संस्करण, श्री हेमचन्द्रजी म.)

तेहिं य अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहिं सुरमिरीयिकवयं विणिम्मुयंतेहिं सपडिवंडेहिं, मायवत्तेहिं धरिज्जंतेहिं विरायंता । ताहिं य पवरगिरिकुहरविहरणसमुद्धियाहिं णिरुवहयचमरपच्छिम-सरीरसंजायाहिं अमइलसेयकमलविमुकुलुज्जलिय- रययगिरिसिहर-विमलससिकिरण-सरिसकलहोय-णिम्मलाहिं पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूरचंचलाहिं माणस-सरपसरपरिचियावासविसदवेसाहिं कणगगिरिसिहरसंसिताहिं उवायप्पायचवलजयिणसिग्घवेगाहिं हंस-वधूयाहिं चेव कलिया णाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहिं सललियाहिं णरवइसिरि-समुदयप्पगासणकरीहिं वरपट्टणुग्गयाहिं समिद्धरायकुलसेवियाहिं,कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूववसवा-सविसदगंधुद्धुयाभिरामाहिं चिल्लिगाहिं उभओपासं वि चामराहिं उक्खिप्पमाणाहिं सुहसीयलवाय-वीइयंगा ।

अजिया अजियरहा हलमूसलकणगपाणी संखचक्कगयसत्तिणंदगधरा पवरुज्जलसुकयविमल-कोथूभतिरीडधारी कुंडलउज्जोवियाणणा पुंडरीयणयणा एगावलीकंठरइयवच्छा सिरिवच्छसुलंछणा वरजसा सव्वोउय-सुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंतवियसंतचित्तवणमालरइयवच्छा अट्ठसयविभत्तलक्खण-पसत्थसुंदरविराइयंगमंगा मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगई कडिसुत्तगणीलपीयकोसिज्जवाससा पवरदित्ततेया सारयणवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा णरसीहा सीहविक्कमगई अत्थमियपवररायसीहा सोमा बारवइपुण्णचंदा पुव्वकयतवप्पभावा णिविट्ठसंचियसुहा अणेगवाससयमाउवंता भज्जाहिं य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता अउल-सद्दफरिसरसरूवगंधे अणुहवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं ।

८६—और फिर (बलदेव तथा वासुदेव जैसे विशिष्ट ऐश्वर्यशाली एवं उत्तमोत्तम काम-भोगों के उपभोक्ता भी जीवन के अन्त तक भोग भोगने पर भी तृप्त नही हो पाते, वे) बलदेव और वासुदेव पुरुषो मे अत्यन्त श्रेष्ठ होते है, महान् बलशाली और महान् पराक्रमी होते हैं । बड़े-बड़े(सारंग आदि) धनुषो को चढाने वाले, महान् सत्त्व के सागर, शत्रुओ द्वारा अपराजेय, धनुषधारी, मनुष्यो मे धोरी वृषभ के समान—स्वीकृत उत्तरदायित्व—भार का सफलतापूर्वक निर्वाह करने वाले, राम—बलराम और केशव—श्रीकृष्ण-दोनो भाई-भाई अथवा भाइयां सहित, एव विशाल परिवार समेत होते है । वे वसुदेव तथा समुद्रविजय आदि दशार्ह—माननीय पुरुषो के तथा प्रद्युम्न, प्रतिव, शम्ब, अनिरुद्ध, निषध, उल्मुक, सारण, गज, सुमुख, दुर्मुख आदि यादवो और साढे तीन करोड़ कुमारों के हृदयों को दयित—प्रिय होते हैं । वे देवी—महारानी रोहिणी के तथा महारानी देवकी के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाले—उनके अन्तस् में प्रीतिभाव के जनक होते है । सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजा उनके मार्ग का अनुगमन करते है—उनके पीछे-पीछे चलते है । वे सोलह हजार सुनयना महारानियों के हृदय के वल्लभ होते हैं । उनके भाण्डार विविध प्रकार की मणियो, स्वर्ण, रत्न, मोती, मूंगा, धन और धान्य के संचय रूप ऋद्धि से सदा भरपूर रहते हैं । वे सहस्रो हाथियो, घोड़ों एव रथों के अधिपति होते हैं । सहस्रों ग्रामों, आकरो, नगरो, खेटों, कर्बटों, मडम्बो, द्रोणमुखों, पट्टनो, आश्रमो, संवाहों—सुरक्षा के लिए निर्मित किलों में स्वस्थ, स्थिर, शान्त और प्रमुदित जन निवास करते हैं, जहां विविध प्रकार के धान्य उपजाने वाली भूमि होती है, जहाँ बड़े-बड़े सरोवर हैं, नदियाँ हैं, छोटे-छोटे तालाब हैं, पर्वत हैं, वन हैं, आराम—दम्पतियो के क्रीडा करने योग्य बगीचे हैं, उद्यान हैं, (ऐसे ग्राम-नगर आदि के वे

स्वामी होते हैं ।) वे अर्धभरत क्षेत्र के अधिपति होते है, क्योकि भरतक्षेत्र का दक्षिण दिशा की ओर का आधा भाग वैताढ्य नामक पर्वत के कारण विभक्त हो जाता है और वह तीन तरफ लवणसमुद्र से घिरा है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण षट्खण्ड भरत क्षेत्र को दो भागों मे विभक्त करने वाला वैताढ्य पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा में लम्बा आ जाने से तीन खण्ड दक्षिण दिशा मे रहते हैं। उन तीनों खण्डों के शासक वासुदेव—अर्धचक्रवर्त्ती होते हैं। वह अर्धभरत (बलदेव-वासुदेव के समय में) छहों प्रकार के कालों अर्थात् ऋतुओ में होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त होता है ।

बलदेव और वासुदेव धैर्यवान् और कीर्त्तिमान् होते है—उनका धीरज अक्षय होता है और दूर-दूर तक यश फैला होता है। वे ओघबली होते हैं—उनका बल प्रवाह रूप से निरन्तर कायम रहता है। अतिबल—साधारण मनुष्यो की अपेक्षा अत्यधिक बल वाले होते है। उन्हे कोई आहत—पीडित नहीं कर सकता। वे कभी शत्रुओ द्वारा पराजित नही होते अपितु सहस्रो शत्रुओ का मान-मर्दन करने वाले भी होते हैं। वे दयालु, मत्सरता से रहित—गुणग्राही, चपलता से रहित, विना कारण कोप न करने वाले, परिमित और मजु भाषण करने वाले, मुस्कान के साथ गंभीर और मधुर वाणी का प्रयोग करने वाले, अभ्युपगत—समक्ष आए व्यक्ति के प्रति वत्सलता (प्रीति) रखने वाले तथा शरणागत की रक्षा करने वाले होते हैं। उनका समस्त शरीर लक्षणो से—सामुद्रिक शास्त्र मे प्रतिपादित उत्तम चिह्नों से, व्यजनों से—तिल मसा आदि से तथा गुणो से या लक्षणो और व्यजनों के गुणो से सम्पन्न होता है। मान और उन्मान से प्रमाणोपेत तथा इन्द्रियो एव अवयवों से प्रतिपूर्ण होने के कारण उनके शरीर के सभी अगोपाग सुडौल-सुन्दर होते हैं। उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य होनी है और वे देखने मे अत्यन्त प्रिय और मनोहर होते हैं। वे अपराध को सहन नही करते अथवा अपने कर्त्तव्य-पालन मे प्रमाद नही करते। प्रचण्ड— उग्र दड का विधान करने वाले अथवा प्रचण्ड सेना के विस्तार वाले एव देखने मे गभीर मुद्रा वाले होते है। बलदेव की ऊँची ध्वजा ताड वृक्ष के चिह्न से और वासुदेव की ध्वजा गरुड के चिह्न से अकित होती है। गर्जते हुए अभिमानियो मे भी अभिमानी मौष्टिक और चाणूर नामक पहलवानो के दर्प को (उन्होने) चूर-चूर कर दिया था। रिष्ट नामक साड का घात करने वाले, केसरी सिंह के मुख को फाड़ने वाले, अभिमानी (कालीय) नाग के अभिमान का मथन करने वाले, (विक्रिया से बने हुए वृक्ष के रूप में) यमल अर्जुन को नष्ट करने वाले, महाशकुनि और पूतना नामक विद्याधारियो के शत्रु, कस के मुकुट को मोड़ देने वाले अर्थात् कस को पकड़ कर और नीचे पटक कर उसके मुकुट को भग कर देने वाले और जरासध (जैसे प्रतापशाली राजा) का मान-मर्दन करने वाले थे। वे सघन, एक-सरीखी एव ऊँची शलाकाओ—ताडियो से निर्मित तथा चन्द्रमण्डल के समान प्रभा—कान्ति वाले, सूर्य की किरणो के समान, (चारो ओर फैली हुई) किरणो रूपीकवच को बिखेरने, अनेक प्रतिदडो से युक्त छत्रो को धारण करने से अतीव शोभायमान थे। उनके दोनो पार्श्वभागो (बगलों) में ढोले जाते हुए चामरों से सुखद एव शीतल पवन किया जाता है। उन चामरों की विशेषता इस प्रकार है—श्रेष्ठ पर्वतो की गुफाओ—पार्वत्य प्रदेशो मे विचरण करने वाली चमरी गायो से प्राप्त किये जाने वाले, नीरोग चमरी गायो के पृष्ठभाग— पूछ में उत्पन्न हुए, अम्लान—ताजा श्वेत कमल, उज्ज्वल-स्वच्छ रजतगिरि के शिखर एवं निर्मल चन्द्रमा की किरणो के सदृश वर्ण वाले तथा चांदी के समान निर्मल होते हैं। पवन से प्रताडित, चपलता से चलने वाले, लीलापूर्वक नाचते हुए एव लहरो के प्रसार तथा सुन्दर क्षीर-सागर के सलिलप्रवाह के समान चचल होते हैं। साथ ही वे मान-सरोवर के विस्तार में परिचित आवास वाली, श्वेत वर्ण वाली, स्वर्णगिरि पर स्थित तथा ऊपर-नीचे गमन करने मे अन्य चचल वस्तुओं को मात कर देने वाले वेग से युक्त हसनियो के समान होते है।

विविध प्रकार की मणियो के तथा पीतवर्ण तपनीय स्वर्ण के बने विचित्र दंडो वाले होते हैं। वे लालित्य से युक्त और नरपतियो की लक्ष्मी के अभ्युदय को प्रकाशित करते है। वे बड़े-बड़े पत्तनो—नगरो में निर्मित होते हैं और समृद्धिशाली राजकुलो में उनका उपयोग किया जाता है। वे चामर, काले अगर, उत्तम कुंदरुक्क—चीड की लकड़ी एव तुरुष्क—लोभान की धूप के कारण उत्पन्न होने वाली सुगध के समूह से सुगधित होते है। (ऐसे चामर बलदेव और वासुदेव के दोनो पसवाड़ो की ओर ढोले जाते है, जिनसे सुखप्रद तथा शीतल पवन का प्रसार होता है।)

(वे बलदेव और वासुदेव) अपराजेय होते हैं—किसी के द्वारा जीते नही जा सकते। उनके रथ अपराजित होते हैं। बलदेव हाथो में हल, मूसल और बाण धारण करते हैं और वासुदेव पाञ्चजन्य शख, सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा, शक्ति (शस्त्र-विशेष) और नन्दक नामक खड्ग धारण करते हैं। अतीव उज्ज्वल एव सुनिर्मित कौस्तुभ मणि और मुकुट को धारण करते हैं। कुंडलों (की दीप्ति) से उनका मुखमण्डल प्रकाशित होता रहता है। उनके नेत्र पुण्डरीक—श्वेत कमल के समान विकसित होते है। उनके कण्ठ और वक्षस्थल पर एकावली—एक लड़ वाला हार शोभित रहता है। उनके वक्षस्थल मे श्रीवत्स का सुन्दर चिह्न बना होता है। वे उत्तम यशस्वी होते हैं। सर्व ऋतुओं के सौरभमय सुमनो से ग्रथित लम्बी शोभायुक्त एव विकसित वनमाला से उनका वक्षस्थल शोभायमान रहता है। उनके अग उपांग एक सौ आठ मागलिक तथा सुन्दर लक्षणों—चिह्नो से सुशोभित होते हैं। उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम गजराज की गति के समान ललित और विलासमय होती है। उनकी कमर कटिसूत्र—करधनी से शोभित होती है और वे नीले तथा पीले वस्त्रो को धारण करते हैं, अर्थात् बलदेव नीले वर्ण के और वासुदेव पीत वर्ण के कौशेय—रेशमी वस्त्र पहनते है। वे प्रखर तथा देदीप्यमान तेज से विराजमान होते है। उनका घोष (आवाज) शरत्काल के नवीन मेघ की गर्जना के समान मधुर, गभीर और स्निग्ध होता है। वे नरो मे सिंह के समान (प्रचण्ड पराक्रम के धनी) होते हैं। उनकी गति सिंह के समान पराक्रमपूर्ण होती है। वे बडे-बडे राज-सिंहो के (तेज को) अस्त—समाप्त कर देने वाले अथवा युद्ध में उनकी जीवनलीला को समाप्त कर देते है। फिर (भी प्रकृति से) सौम्य-शान्त-सात्त्विक होते है। वे द्वारवती—द्वारका नगरी के पूर्ण चन्द्रमा थे। वे पूर्वजन्म मे किये तपश्चरण के प्रभाव वाले होते हैं। वे पूर्वसचित इन्द्रियसुखो के उपभोक्ता और अनेक सौ वर्षों—सैकडो वर्षो—की आयु वाले होते हैं।

ऐसे बलदेव और वासुदेव विविध देशो की उत्तम पत्नियों के साथ भोग-विलास करते है, अनुपम शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धरूप इन्द्रियविषयो का अनुभव—भोगोपभोग करते है। परन्तु वे भी कामभोगो से तृप्त हुए विना ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—षट्खण्डाधिपति चक्रवर्त्ती महाराजाओ की ऋद्धि, भोगोपभोग, शारीरिक सम्पत्ति आदि का विशद वर्णन करने के पश्चात् यहाँ बलभद्र और नारायण की ऋद्धि आदि का परिचय दिया गया है।

बलभद्र और नारायण प्रत्येक उत्सर्पिणी और प्रत्येक अवसर्पिणी काल मे होते हैं, जैसे चक्रवर्त्ती होते हैं। नारायण अर्थात् वासुदेव चक्रवर्त्ती की अपेक्षा आधी ऋद्धि, शरीरसम्पत्ति, बल-वाहन आदि विभूति आदि के धनी होते हैं। बलभद्र उनके ज्येष्ठ भ्राता होते है।

प्रस्तुत सूत्र का मूल आशय सभी कालों में होने वाले सभी बलभद्रों और नारायणों के भोगो एवं व्यक्तित्व का वर्णन करना और यह प्रदर्शित करना है कि ससारी जीव उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोग-

भोग कर भी, अन्त तक भी तृप्ति नही पाता है। जीवन की अन्तिम वेला तक भी वह अतृप्त रह कर मरण को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार सामान्य रूप से सभी बलभद्रो और नारायणों से सबध रखने वाले प्रस्तुत वर्णन मे वर्त्तमान अवसर्पिणी काल मे हुए नवम बलभद्र (बलराम) और नवम नारायण (श्रीकृष्ण) का उल्लेख भी आ गया है। इसकी चर्चा करते हुए टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने समाधान किया है[1] कि—'राम केशव' का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—जिन बलभद्रो और नारायणो में बलराम एव श्रीकृष्ण जैसे हुए हैं। यद्यपि इस अवसर्पिणी काल मे नौ बलभद्र, और नौ नारायण हुए हैं किन्तु उनमें बलराम और श्रीकृष्ण लोक मे अत्यन्त विख्यात हैं। उनकी इस ख्याति के कारण ही उनके नामो आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

सभी बलभद्र और नारायण, जैसा कि पूर्व मे कहा गया है, चक्रवर्त्ती से आधी ऋद्धि आदि से सम्पन्न होते हैं। सभी पुरुषो मे प्रवर—सर्वश्रेष्ठ, महान् बल और पराक्रम के धनी, असाधारण धनुर्धारी, महान् सत्त्वशाली, अपराजेय और अपने-अपने काल मे अद्वितीय पुरुष होते हैं।

प्रस्तुत में बलराम और श्रीकृष्ण से सम्बद्ध कथन भी नामादि के भेद से सभी के साथ लागू होता है।

जैनागमो के अनुसार सक्षेप मे उनका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल मे ६३ शलाकापुरुष श्लाघ्य—प्रशसनीय असाधारण पुरुष होते हैं। इन श्लाघ्य पुरुषो मे चौवीस तीर्थंकरो का स्थान सर्वोपरि होता है। वे सर्वोत्कृष्ट पुण्य के स्वामी होते है। चक्रवर्त्ती आदि नरेन्द्र और सुरेन्द्र भी उनके चरणो मे नतमस्तक होते हैं, अपने आपको उनका किंकर मान कर धन्यता अनुभव करते हैं।

तीर्थंकरों के पश्चात् दूसरा स्थान चक्रवर्त्तियो का है। ये बारह होते हैं। इनकी विभूति आदि का विस्तृत वर्णन पूर्व सूत्र मे किया गया है।

तीसरे स्थान पर वासुदेव और बलदेव है। इनकी समस्त विभूति चक्रवर्त्ती नरेश से आधी होती है। यथा—चक्रवर्त्ती छह खण्डो के अधिपति सम्राट् होते है तो वासुदेव तीन खण्डो के स्वामी होते हैं। चक्रवर्त्ती की अधीनता में बत्तीस हजार नृपति होते हैं तो वासुदेव के अधीन सोलह हजार राजा होते हैं। चक्रवर्त्ती चौसठ हजार कामिनियो के नयनकान्त होते है तो वासुदेव बत्तीस हजार रमणियो के प्रिय होते हैं। इसी प्रकार अन्य विषयो मे भी जान लेना चाहिए।

बलदेव-वासुदेव के समकालीन प्रति वासुदेव भी नौ होते हैं, जो वासुदेव के द्वारा मारे जाते हैं।

बलराम और श्रीकृष्ण नामक जो अन्तिम बलभद्र और नारायण हुए हैं, उनसे सम्बद्ध कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ये दोनो प्रशस्त पुरुष यादवकुल के भूषण थे। इस कुल मे दश दशार थे, जिनके नाम हैं—(१) समुद्रविजय (२) अक्षोभ्य (३) स्तिमित (४) सागर (५) हिमवान् (६) अचल (७) धरण (८) पूरण (९) अभिचन्द्र और (१०) वसुदेव।

---

१. अभयदेववृत्ति पृ. ७३, आगमोदयसमिति सस्करण।

इस परिवार में ५६ करोड़ यादव थे। उनमें साढे तीन करोड प्रद्युम्न आदि कुमार थे। बलराम की माता का नाम रोहिणी और श्रीकृष्ण की माता का नाम देवकी था। इनके शस्त्रों तथा वस्त्रों के वर्ण आदि का वर्णन मूल पाठ में ही प्रायः आ चुका है।

मुष्टिक नामक मल्ल का हनन बलदेव ने और चाणूर मल्ल का वध श्रीकृष्ण ने किया था। रिष्ट नामक साड को मारना, कालिय नाग को नाथना, यमलार्जुन का हनन करना, महाशकुनी एव पूतना नामक विद्याधरियों का अन्त करना, कस-वध और जरासन्ध के मान का मर्दन करना आदि घटनाओं का उल्लेख बलराम-श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है, तथापि तात्पर्य यह जानना चाहिए कि ऐसो-ऐसों के दमन करने का सामर्थ्य बलदेवों और वासुदेवो में होता है। ऐसे असाधारण बल, प्रताप और पराक्रम के स्वामी भी भोगोपभोगों से तृप्त नही हो पाते। अतृप्त रह कर ही मरण को प्राप्त होते हैं।

माण्डलिक राजाओं के भोग

८७—भुज्जो मंडलिय-णरवरिंदा सबला सअंतेउरा सपरिसा सपुरोहियामच्च-दंडणायग-सेणावइ-मंतणीइ-कुसला णाणामणिरयणविपुल-धणधण्णसंचयणिही-समिद्धकोसा रज्जसिरिं विउल-मणुहवित्ता विक्कोसंता बलेण मत्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं।

८७—और (बलदेव और वासुदेव के अतिरिक्त) माण्डलिक राजा भी होते हैं। वे भी सबल—बलवान् अथवा सैन्यसम्पन्न होते हैं। उनका अन्त.पुर—रनवास (विशाल) होता है। वे सपरिषद्—परिवार या परिषदों से युक्त होते हैं। शान्तिकर्म करने वाले पुरोहितो से, अमात्यो—मन्त्रियो से, दडाधिकारियो—दडनायको से, सेनापतियो से जो गुप्त मत्रणा करने एव नीति मे निपुण होते है, इन सब से सहित होते हैं। उनके भण्डार अनेक प्रकार की मणियो से, रत्नों से, विपुल धन और धान्य से समृद्ध होते है। वे अपनी विपुल राज्य-लक्ष्मी का अनुभव करके अर्थात् भोगोपभोग करके, अपने शत्रुओ का पराभव करके—उन पर आक्रोश करते हुए अथवा अक्षय भण्डार के स्वामी होकर (अपने) बल में उन्मत्त रहते हैं—अपनी शक्ति के दर्प में चूर—बेभान बन जाते हैं। ऐसे माण्डलिक राजा भी कामभोगों से तृप्त नहीं हुए। वे भी अतृप्त रह कर ही कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गए।

विवेचन—किसी बड़े साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रदेश का अधिपति माण्डलिक राजा कहलाता है। माण्डलिक राजा के लिए प्रयुक्त विशेषण सुगमता से समझे जा सकते है।

अकर्मभूमिज मनुष्यों के भोग

८८—भुज्जो उत्तरकुरु-देवकुरु-वणविवर-पायचारिणो णरगणा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा भोगसस्सिरीया पसत्थसोमपडिपुण्णरूवदरिसणिज्जा सुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तकंतकरचरण-कोमलतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा अणुपुव्वसुसंहयंगुलीया उण्णयतणुतंबणिद्धणक्खा संठियसुसिलिट्ठ-गूढगुंफा एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्विजंघा समुग्गणिसग्गगूढजाणू वरवारणमत्ततुल्लविक्कम-विलासिय-गई वरतुरगसुजायगुज्झदेसा आइण्णहयव्वणिरुवलेवा पमुइयवरतुरगसीहअइरेगवट्टियकडी गंगा-वत्तदाहिणावत्ततरंगभंगुर-रविकिरण-बोहिय-विकोसायंतपम्हगंभीरवियडणाभी साहतसोणंदमुसल-दप्पणणिगरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झा उज्जुगसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जल-

डहसूमालमउयरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हवियडणाभी संणयपासा संगयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेहधारी कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविच्छिण्णपिहुलवच्छा जुयसण्णिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुणिचियघणथिरसुबद्धसंधी पुरवरफलिहवट्टियभुया ।

भुयईसरविउलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवइयमउयमंसलसुजाय-लक्खणपसत्थ-अच्छिद्दजालपाणी पीवरसुजायकोमलवरंगुली तंबतलिणसुइरुइलणिद्धणखा णिद्धपाणिलेहा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा रविससिसंखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलरिसहणागवरपडिपुण्णविउलखंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू उवचियमंसलपसत्थसद्दूलविउलहणुया ओयवियसिलप्पवालबिंबफलसण्णिभाधरोट्ठा पंडुरससिसकलविमलसंखगोखीरफेणकुंददगरयमुणालिया-धवलदंतसेढी अखंडदंता अप्फुडियदंता अविरलदंता सुणिद्धदंता सुजायदंता एगदंतसेढिव्व अणेगदंता हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततला तालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगणासा अवदालियपोंडरीयणयणा कोकासियधवलपत्तलच्छा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराजि-संठियसंगयायसुजायभुमगा अल्लीणपमाण-जुत्तसवणा सुसवणा पीणमंसलकवोलदेसभागा अचिरुग्गयबालचंदसंठियमहाणिलाडा उडुवइरिव-पडिपुण्णसोमवयणा छत्तागारुत्तमंगदेसा घणणिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिभपिंडियग्गसिरा हुयव-हणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसंतकेसभूमी सामलीपोंडघणणिचियछोडियमिउविसतपसत्थसुहुम-लक्खणसुगंधिसुंदरभुयमोयगभिंगणीलकज्जलपहट्ठभमरगणणिद्धणिगुरुंबणिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्ध-सिरया सुजायसुविभत्तसंगयंगा ।

८८—इसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रो के वनो मे और गुफाओ में पैदल विचरण करने वाले अर्थात् रथ, शकट आदि यानो और हाथी, घोडा आदि वाहनो का उपयोग न करके सदा पैदल चलने वाले नर-गण हैं अर्थात् यौगलिक-युगल मनुष्य होते हैं। वे उत्तम भोगो-भोगसाधनो से सम्पन्न होते हैं। प्रशस्त लक्षणो—स्वस्तिक आदि के धारक होते है। भोग-लक्ष्मी से युक्त होते हैं। वे प्रशस्त मगलमय सौम्य एव रूपसम्पन्न होने के कारण दर्शनीय होते हैं। उत्तमता से बने सभी अवयवों के कारण सर्वांग सुन्दर शरीर के धारक होते है। उनकी हथेलियाँ और पैरो के तलभाग—तलुवे लाल कमल के पत्तो की भाति लालिमायुक्त और कोमल होते हैं। उनके पैर कछुए के समान सुप्रतिष्ठित—सुन्दराकृति वाले होते हैं। उनकी अगुलियाँ अनुक्रम मे बड़ी-छोटी, सुसहत-सघन-छिद्र-रहित होती हैं। उनके नख उन्नत—उभरे हुए, पतले, रक्तवर्ण और चिकने—चमकदार होते है। उनके पैरो के गुल्फ—टखने सुस्थित, सुघड और मासल होने के कारण दिखाई नही देते हैं। उनकी जघाएँ हिरणी की जघा, कुरुविन्द नामक तृण और वृत्त—सूत कातने की तकली के समान क्रमशः वर्तुल एव स्थूल होती है। उनके घुटने डिब्बे एव उसके ढक्कन की सधि के समान गूढ होते हैं, (वे स्वभावतः मासल—पुष्ट होने से दिखाई नही देते।) उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम हस्ती के समान विक्रम और विकास से युक्त होती है, अर्थात् वे मदोन्मत्त हाथी के समान मस्त एव धीर गति से चलते हैं। उनका गुह्यदेश—गुप्तांग—जननेन्द्रिय उत्तम जाति के घोड़े के गुप्तांग के समान सुनिर्मित एव गुप्त होता है। जैसे उत्तम जाति के अश्व का गुदाभाग मल से

लिप्त नही होता, उसी प्रकार उन यौगलिक पुरुषो का गुदाभाग भी मल के लेप से रहित होता है। उनका कटिभाग—कमर का भाग हृष्ट-पुष्ट एव श्रेष्ठ और सिह की कमर से भी अधिक गोलाकार होता है। उनकी नाभि गगा नदी के आवर्त—भवर तथा दक्षिणावर्त्त तरगो के समूह के समान चक्करदार तथा सूर्य की किरणो से विकसित कमल की तरह गभीर और विकट—विशाल होती है। उनके शरीर का मध्यभाग समेटी हुई त्रिकाष्ठिका—तिपाई, मूसल, दर्पण—दण्डयुक्त कांच और शुद्ध किए हुए उत्तम स्वर्ण से निर्मित खड्ग की मूठ एव श्रेष्ठ वज्र के समान कृश—पतला होता है। उनकी रोमराजि सीधी, समान, परस्पर सटी हुई, स्वभावतः बारीक, कृष्णवर्ण, चिकनी, प्रशस्त—सौभाग्यशाली पुरुषो के योग्य सुकुमार और सुकोमल होती है। वे मत्स्य और विहग—पक्षी के समान उत्तम रचना—बनावट से युक्त कुक्षि वाले होने से झषोदर—मत्स्य जैसे पेट वाले होते हैं। उनकी नाभि कमल के समान गभीर होती है। पार्श्वभाग नीचे की ओर झुके हुए होते हैं, अतएव सगत, सुन्दर और सुजात—अपने योग्य गुणो से सम्पन्न होते हैं। वे पार्श्व प्रमाणोपेत एव परिपुष्ट होते हैं। वे ऐसे देह के धारक होते है, जिसकी पीठ और बगल की हड्डियाँ मांसयुक्त होती हैं तथा जो स्वर्ण के आभूषण के समान निर्मल कान्तियुक्त, सुन्दर बनावट वाली और निरुपहत—रोगादि के उपद्रव से रहित होतो है। उनके वक्षस्थल सोने की शिला के तल के समान प्रशस्त, समतल, उपचित—पुष्ट और विशाल होते हैं। उनकी कलाइयाँ गाडी के जुए के समान पुष्ट, मोटी एव रमणीय होती हैं। तथा अस्थिसन्धियाँ अत्यन्त सुडौल, सुगठित, सुन्दर, माँसल और नसो से दृढ बनी होती हैं। उनकी भुजाएँ नगर के द्वार की आगल के समान लम्बी और गोलाकार होती है। उनके बाहु भुजगेश्वर—शेषनाग के विशाल शरीर के समान और अपने स्थान से पृथक् की हुई आगल के समान लम्बे होते हैं। उनके हाथ लाल-लाल हथेलियो वाले, परिपुष्ट, कोमल, मासल, सुन्दर बनावट वाले, शुभ लक्षणो से युक्त और निश्छिद्र—छेद रहित अर्थात् आपस मे सटी हुई उगलियो वाले होते है। उनके हाथो की उगलियाँ पुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती हैं। उनके नख ताम्रवर्ण—ताबे जैसे वर्ण के—लालिमा लिये, पतले, स्वच्छ, रुचिर—सुन्दर, चिकने होते है। चिकनी तथा चन्द्रमा की तरह अथवा चन्द्र मे अकित, सूर्य के समान (चमकदार) या सूर्य से अकित, शख के समान या शख के चिह्न से अकित, चक्र के समान या चक्र के चिह्न से अकित, दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक के चिह्न से अकित, सूर्य, चन्द्रमा, शख, उत्तम चक्र, दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नों से सुविरचित हस्त-रेखाओं वाले होते है। उनके कधे उत्तम महिष, शूकर, सिह, व्याघ्र, साड, और गजराज के कधे के समान परिपूर्ण—पुष्ट होते है। उनकी ग्रीवा चार अगुल परिमित एव शख जैसी होती है। उनकी दाढी-मूछे अवस्थित—न घटने वाली और न बढने वाली होती हैं—सदा एक सरीखी रहती है तथा सुविभक्त—अलग-अलग एव सुशोभन होती है। वे पुष्ट, मासयुक्त, सुन्दर तथा व्याघ्र के समान विस्तीर्ण हनु—ठुड्डी वाले होते हैं। उनके अधरोष्ठ सशुद्ध मूगे और बिम्बफल के सदृश लालिमायुक्त होते है। उनके दातो की पक्ति चन्द्रमा के टुकडे, निर्मल शख, गाय से दूध के फेन, कुन्दपुष्प, जलकण तथा कमल की नाल के समान धवल-श्वेत होती है। उनके दांत अखण्ड होते है, टूटे नही होते, अविरल—एक दूसरे मे सटे हुए होते है, अतीव स्निग्ध—चिकने होते हैं और सुजात—सुरचित होते है। वे एक दन्तपंक्ति के समान अनेक—बत्तीस दाँतों वाले होते हैं, अर्थात् उनके दातो की कतार इस प्रकार परस्पर सटी होती है कि वे अलग-अलग नही जान पडते। उनका तालु

और जिह्वा अग्नि में तपाये हुए और फिर धोये हुए स्वच्छ स्वर्ण के सदृश लाल तल वाली होती है। उनकी नासिका गरुड़ के समान लम्बी, सीधी और ऊँची होती है। उनके नेत्र विकसित पुण्डरीक—श्वेत कमल के समान विकसित (प्रमुदित) एव धवल होते हैं। उनकी भ्रू—भौंहें किंचित् नीचे झुकाए धनुष के समान मनोरम, कृष्ण अभ्रराजि—मेघो की रेखा के समान काली, उचित मात्रा में लम्बी एवं सुन्दर होती हैं। कान आलीन—किंचित् शरीर से चिपके हुए-से और उचित प्रमाण वाले होते हैं। अतएव उनके कान सुन्दर होते हैं या सुनने की शक्ति से युक्त होते है। उनके कपोलभाग—गाल तथा उनके आसपास के भाग परिपुष्ट तथा मांसल होते हैं। उनका ललाट अचिर उद्गत—जिसे उगे अधिक समय नही हुआ, ऐसे बाल-चन्द्रमा के आकार का तथा विशाल होता है। उनका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्र के सदृश सौम्य होता है। मस्तक छत्र के आकार का उभरा हुआ होता है। उनके सिर का अग्रभाग मुद्गर के समान सुदृढ नसो से आबद्ध, प्रशस्त लक्षणों-चिह्नो से सुशोभित, उन्नत—उभरा हुआ, शिखरयुक्त भवन के समान और गोलाकार पिण्ड जैसा होता है। उनके मस्तक की चमडी—टाट—अग्नि में तपाये और फिर धोये हुए सोने के समान लालिमायुक्त एव केशो वाली होती है। उनके मस्तक के केश शाल्मली (सेमल) वृक्ष के फल के समान सघन, छाटे हुए—मानो घिसे हुए, बारीक, सुस्पष्ट, मागलिक, स्निग्ध, उत्तम लक्षणों से युक्त, सुवासित, सुन्दर, भुजमोचक रत्न जैसे काले वर्ण वाले, नीलमणि और काजल के सदृश तथा हर्षित भ्रमरो मे झुड की तरह काली कान्ति वाले, गुच्छ रूप, कुंचित—घुघराले, दक्षिणावर्त्त—दाहिनी ओर मुडे हुए होते है। उनके अग सुडौल, सुविभक्त—यथास्थान और सुन्दर होते हैं।

वे यौगलिक उत्तम लक्षणो, तिल आदि व्यजनो तथा गुणो से (अथवा लक्षणो और व्यजनो के गुणो से) सम्पन्न होते है। वे प्रशस्त—शुभ—मागलिक बत्तीस लक्षणो के धारक होते हैं। वे हस के, क्रौंच पक्षी के, दुन्दुभि के एव सिंह के समान स्वर—आवाज वाले होते है। उनका स्वर ओघ होता है—अविच्छिन्न और अत्रुटित होता है। उनकी ध्वनि मेघ की गर्जना जैसी होती है, अतएव कानो को प्रिय लगती है। उनका स्वर और निर्घोष—दोनो ही सुन्दर होते है। वे वज्रऋषभनाराचसहनन और सम-चतुरस्रसस्थान के धारक होते हैं। उनके अग-प्रत्यग कान्ति से देदीप्यमान रहते हैं। उनके शरीर की त्वचा प्रशस्त होती है। वे नीरोग होते हैं और कक नामक पक्षी के समान अल्प आहार करते हैं। उनकी आहार को परिणत करने—पचाने की शक्ति कबूतर जैसी होती है। उनका मल-द्वार पक्षी जैसा होता है, जिसके कारण मल-त्याग के पश्चात् वह मल-लिप्त नही होता। उनकी पीठ, पार्श्वभाग और जघाएँ सुन्दर, सुपरिमित होती हैं। पद्म—कमल और उत्पल—नील कमल की सुगन्ध के सदृश मनोहर गन्ध से उनका श्वास एव मुख सुगन्धित रहता है। उनके शरीर की वायु का वेग सदा अनुकूल रहता है। वे गौर-वर्ण, स्निग्ध तथा श्याम होते हैं (या उनके सिर पर चिकने और काले बाल होते हैं।) उनका उदर शरीर के अनुरूप उन्नत होता है। वे अमृत के समान रस वाले फलो का आहार करते हैं। उनके शरीर को ऊँचाई तीन गव्यूति की और आयु तीन पल्योपम की होती है। पूरी तीन पल्योपम की आयु को भोग कर वे अकर्मभूमि—भोगभूमि के मनुष्य (अन्त तक) कामभोगो से अतृप्त रहकर ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—उल्लिखित सूत्रो मे यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु नामक अकर्मभूमि—भोगभूमि के नाम का उल्लेख किया गया है, तथापि वहाँ के मनुष्यो के वर्णन मे जो कहा गया है, वह प्रायः सभी अकर्मभूमिज मनुष्यों के लिए समझ लेना चाहिए।

देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इन दो क्षेत्र—विभागो—के अतिरिक्त शेष समग्र महाविदेह कर्मभूमि है।

देवकुरु और उत्तरकुरु का नामोल्लेख करने का कारण यह है कि वह उत्तम अकर्मभूमि है और सदा काल अकर्मभूमि ही रहती है।

अकर्मभूमि के तीस क्षेत्र हैं। भरत और ऐरवत क्षेत्र मे कभी अकर्मभूमि और कभी कर्मभूमि की स्थिति होती है।

तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप में भरत, ऐवरत और (देवकुरु—उत्तरकुरु के सिवाय) महाविदेह, ये तीन कर्मभूमि—क्षेत्र हैं। इनसे दुगुने अर्थात् छह धातकीखण्ड मे और छह पुष्करार्ध मे है। इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमिक्षेत्र है।

कर्मभूमिज मनुष्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, कला आदि कर्मों से अपना जीवनयापन करते है। अतएव ये क्षेत्र कर्मभूमि-क्षेत्र कहलाते है।

जैसा कि उल्लेख किया गया है, महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तर दिशा में स्थित उत्तरकुरु और दक्षिण में स्थित देवकुरु तथा हरिवर्ष, रम्यक्वर्ष, हैमवत और हैरण्यवत, ये छह क्षेत्र अकर्मभूमि के है। बारह क्षेत्र धातकीखण्ड के और बारह पुष्करार्ध के मिल कर अकर्मभूमि के कुल तीस क्षेत्र हैं।

अकर्मभूमि के मनुष्य युगलिक कहलाते हैं, क्योंकि वे पुत्र और पुत्री के रूप में—युगल के रूप मे ही उत्पन्न होते है। वे पुत्र और पुत्री ही आगे चल कर पति-पत्नी बन जाते हैं और एक युगल को जन्म देते है। अधिक सन्तान उत्पन्न नही होती।

इन युगलो का जीवन-निर्वाह वृक्षो से होता है। वृक्षो से ही उनकी समग्र आवश्यकताओ की पूर्त्ति हो जाती है। अतएव उन वृक्षो को 'कल्पवृक्ष' कहा जाता है। ये मनुष्य अत्यन्त सात्त्विक प्रकृति के, मद कषायो वाले और भोगसामग्री के सग्रह से सर्वथा रहित होते है। पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर होते हैं। वे असि, मसि, कृषि आदि पूर्वोक्त कोई कर्म नही करते। कल्पवृक्षो से प्राप्त सामग्री मे ही सुन्तुष्ट रहते है। उनकी इच्छा सीमित होती है। फलाहारी होने से सदा नीरोग रहते हैं। अश्व आदि होने पर भी उन पर सवारी नही करते। पैदल विचरण करते हैं। गाय-भैस आदि पशु होने पर भी ये मनुष्य उनके दूध का सेवन नही करते। पूर्ण वनस्पतिभोजी होते है।

वनस्पतिभोजी एव पूर्ण रूप से प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी शारीरिक दशा कितनी स्पृहणीय होती है, यह तथ्य मूल पाठ मे वर्णित उनकी शरीरसम्पत्ति से कल्पना में आ सकता है। वे वज्रऋषभनाराचसहनन से सम्पन्न होते है अर्थात् उनकी अस्थिरचना श्रेष्ठतम होती है और शरीर की आकृति अत्यन्त सुडौल—समचतुरस्रसस्थान वाली होती है। यही कारण है कि उनके शरीर की अवगाहना तीन गाऊ की और उम्र तीन पल्योपम जितने लम्बे समय की होती है।

विशेष वर्णन सूत्रकार ने स्वय किया है। किन्तु इस सब विस्तृत वर्णन का उद्देश्य यही प्रदर्शित करना है कि तीन पल्योपम जितने दीर्घकाल तक और जीवन की अन्तिम घड़ी तक यौवन-अवस्था मे रहकर इच्छानुकूल एव श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोगो को भोग कर भी मनुष्य तृप्त नही हो पाता। उसकी अतृप्ति बनी ही रहती है और वे आखिर अतृप्त रहकर ही मरण-शरण होते है।

युगलो को बत्तीस प्रशस्त लक्षणो का धारक कहा गया है। वे बत्तीस लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) छत्र (२) कमल (३) धनुष (४) उत्तम रथ (५) वज्र (६) कर्म (७) अकुश (८) वापी

(९) स्वस्तिक (१०) तोरण (११) सर (१२) सिंह (१३) वृक्ष (१४) चक्र (१५) शंख (१६) गज—हाथी (१७) सागर (१८) प्रासाद (१९) मत्स्य (२०) यव (२१) स्तम्भ (२२) स्तूप (२३) कमण्डलु (२४) पर्वत (२५) चामर (२६) दर्पण (२७) वृषभ (२८) पताका (२९) लक्ष्मी (३०) माला (३१) मयूर और (३२) पुष्प।[1]

अकर्मभूमिज नारियों की शरीर-सम्पदा

८१—पमया वि य तेसिं हुंति सोम्मा सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अइकंतविसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठियसिलिट्ठचलणा उज्जुमउयपीवरसुसाहयंगुलीओ अब्भुण्णयरइयतलिणतंबसुइणिद्धणखा रोमरहियवट्टसंठियअजहण्णपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मियसुणिगूढजाणू मंसलपसत्थसुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेकसंठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअविरलसमसहियसुजायवट्टपीवरणिरंतरोरू अट्ठावयवीइपट्टसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणी वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरीओ तिवलिवलियतणुणमियमज्झियाओ उज्जुयसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्तरोमराईओ गंगावत्तगपदाहिणावत्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोहियअकोसायंत पउमगंभीरवियडणाभी अणुब्भडपसत्थसुजायपीणकुच्छी सण्णयपासा सुजायपासा संगयपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसपमाणसमसहियलट्ठचुचुयआमेलगजमलजुयलवट्टियपओहराओ भुयंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहियणमियआइज्जलडहबाहा तंबणहा मंसलग्गहत्था कोमलपीवरवरंगुलिया णिद्धपाणिलेहा ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा।

पीणुण्णयकक्खवत्थिप्पएसपडिपुण्णगलकवोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुया दालिमपुप्फप्पगासपीवरलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरयकुंदचंदवासंतिममउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउलअकुडिलअब्भुण्णयउज्जुतुंगणासा सारयणवकमलकुमुयकुवलयदलणिगरसरिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतणयणा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायतणुकसिणणिद्धभुमगा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठगंडलेहा चउरंगुलविसालसमणिडाला कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा छत्तुण्णयउत्तमंगा अकविलसुसिणिद्धदीहसिरया।

छत्त-ज्झय-जूव-थूभ-दामिणि-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्भ-रहवर-मकरज्झय-अंक- थाल-अंकुस-अट्ठावय- सुपइट्ठअमरसिरियाभिसेय- तोरण- मेइणि- उदहिवर-पवरभवण-गिरिवर-वरायंस-सुललियगय-उसभ-सीह-चामर-पसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ हंससरिसगईओ कोइलमहुरगिराओ कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलितवंग-दुव्वण्ण-वाहि-दोहग्ग-सोयमुक्काओ

---

1. प्र. व्या. सैलाना-संस्करण पृ २२५

उच्चत्तेण य नराण थोवूणमूसियाओ सिंगारागारचारुवेसाओ सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणा लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया नंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओव्व उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जियाओ तिण्णि य पलिओवमाइं परमाउं पालइत्ता ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं।

८९—उन (युगलिको) की स्त्रियां भी सौम्य अर्थात् शान्त एव सात्त्विक स्वभाव वाली होती है। उत्तम सर्वांगो से सुन्दर होती हैं। महिलाओ के सब प्रधान—श्रेष्ठ गुणो से युक्त होती है। उनके चरण—पैर अत्यन्त रमणीय, शरीर के अनुपात मे उचित प्रमाण वाले अथवा चलते समय भी अतिकोमल, कच्छप के समान—उभरे हुए और मनोज्ञ होते हैं। उनकी उगलियां सीधी, कोमल, पुष्ट और निश्छिद्र—एक दूसरे से सटी हुई होती है। उनके नाखून उन्नत, प्रसन्नताजनक, पतले, निर्मल और चमकदार होते है। उनकी दोनो जघाएँ रोमो से रहित, गोलाकार श्रेष्ठ मागलिक लक्षणो से सम्पन्न और रमणीय होती है। उनके घुटने सुन्दर रूप से निर्मित तथा मासयुक्त होने के कारण निगूढ होते है। उनकी सन्धियाँ मासल, प्रशस्त तथा नसो से सुबद्ध होती है। उनकी ऊपरी जघाएँ—साथल कदली-स्तम्भ से भी अधिक सुन्दर आकार की, घाव आदि से रहित, सुकुमार, कोमल, अन्तररहित, समान प्रमाण वाली, सुन्दर लक्षणो से युक्त, सुजात, गोलाकार और पुष्ट होती है। उनकी श्रोणि—कटि अष्टापद—द्यूतविशेष खेलने के लहरदार पट्ट के समान आकार वाली, श्रेष्ठ और विस्तीर्ण होती है। वे मुख की लम्बाई के प्रमाण से अर्थात् बारह अगुल से दुगुने अर्थात् चौबीस अगुल विशाल, मासल—पुष्ट, गढे हुए श्रेष्ठ जघन—कटिप्रदेश से नीचे के भाग—को धारण करने वाली होती है। उनका उदर वज्र के समान (मध्य मे पतला) शोभायमान, शुभ लक्षणो मे सम्पन्न एव कृश होता है। उनके शरीर का मध्यभाग त्रिवलि—तीन रेखाओ से युक्त, कृश और नमित—झुका हुआ होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक-सी, परस्पर मिली हुई, स्वाभाविक, बारीक, काली, मुलायम, प्रशस्त, ललित, सुकुमार, कोमल और सुविभक्त—यथास्थानवर्त्ती होती है। उनकी नाभि गगा नदी के भवरो के समान, दक्षिणावर्त्त चक्कर वाली तरगमाला जैसी, सूर्य की किरणो से ताजा खिले हुए और नही कुम्हलाए हुए कमल के समान गभीर एव विशाल होती है। उनकी कुक्षि अनुद्भट—नही उभरी हुई, प्रशस्त, सुन्दर और पुष्ट होती है। उनका पार्श्वभाग सन्नत—उचित प्रमाण मे नीचे झुका, सुगठित और सगत होता है तथा प्रमाणोपेत, उचित मात्रा मे रचित, पुष्ट और रतिद—प्रसन्नताप्रद होता है। उनकी गात्रयष्टि—देह पीठ की उभरी हुई अस्थि से रहित, शुद्ध स्वर्ण से निर्मित रुचक नामक आभूषण के समान निर्मल या स्वर्ण की कान्ति के समान सुगठित तथा नीरोग होती है। उनके दोनो पयोधर—स्तन स्वर्ण के दो कलशो के सदृश, प्रमाणयुक्त, उन्नत—उभरे हुए, कठोर तथा मनोहर चूची (स्तनाग्रभाग) वाले तथा गोलाकार होते है। उनकी भुजाएँ सर्प की आकृति सरीखी क्रमश पतली गाय की पूँछ के समान गोलाकार, एक-सी, शिथिलता से रहित, सुनमित, सुभग एव ललित होती हैं। उनके नाखून ताम्रवर्ण—लालिमायुक्त होते हैं। उनके अग्रहस्त—कलाई या हथेली मासल—पुष्ट होती है। उनकी अगुलियाँ कोमल और पुष्ट होती है। उनकी हस्तरेखाएँ स्निग्ध—चिकनी होती हैं तथा चन्द्रमा, सूर्य, शख, चक्र एव स्वस्तिक के चिह्नो से अकित एव सुनिर्मित होती है। उनकी काख और मलोत्सर्गस्थान पुष्ट तथा उन्नत होते है एव कपोल परिपूर्ण तथा गोलाकार होते हैं। उनकी ग्रीवा चार अगुल प्रमाण वाली एव उत्तम शख जैसी होती है। उनकी ठुड्डी मास से पुष्ट, सुस्थिर तथा प्रशस्त होती है। उनके अधरोष्ठ—नीचे के होठ अनार के खिले फूल जैसे लाल, कान्तिमय, पुष्ट, कुछ

लम्बे, कुंचित—सिकुड़े हुए और उत्तम होते है। उनके उत्तरोष्ठ—ऊपर वाले होठ भी सुन्दर होते हैं। उनके दांत दही, पत्ते पर पड़ी बूंद, कुन्द के फूल, चन्द्रमा एव चमेली की कली के समान श्वेत वर्ण, अन्तररहित—एक दूसरे से सटे हुए और उज्ज्वल होते है। वे रक्तोत्पल के समान लाल तथा कमलपत्र के सदृश कोमल तालु और जिह्वा वाली होती है। उनकी नासिका कनेर की कली के समान, वक्रता से रहित, आगे से ऊपर उठी, सीधी और ऊँची होती है। उनके नेत्र शरद्‌ऋतु के सूर्य-विकासी नवीन कमल, चन्द्रविकासी कुमुद तथा कुवलय—नील कमल के पत्तो के समूह के समान, शुभ लक्षणों से प्रशस्त, कुटिलता (तिर्छेपन) से रहित और कमनीय होते हैं। उनकी भौहे किंचित् नमाये हुए धनुष के समान मनोहर, कृष्णवर्ण अभ्रराजि—मेघमाला के समान सुन्दर, पतली, काली और चिकनी होती हैं। उनके कान सटे हुए और समुचित प्रमाण से युक्त होते है। उनके कानों की श्रवणशक्ति अच्छी होती है। उनकी कपोलरेखा पुष्ट, साफ और चिकनी होती है। उनका ललाट चार अगुल विस्तीर्ण और सम होता है। उनका मुख चन्द्रिकायुक्त निर्मल एव परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोलाकार एव सौम्य होता है। उनका मस्तक छत्र के सदृश उन्नत- उभरा हुआ होता है। उनके मस्तक के केश काले, चिकने और लम्बे-लम्बे होते हैं। वे निम्निलिखित उत्तम बत्तीस लक्षणो से सम्पन्न होती हैं—

(१) छत्र (२) ध्वजा (३) यज्ञस्तम्भ (४) स्तूप (५) दामिनी—माला (६) कमण्डलु (७) कलश (८) वापी (९) स्वस्तिक (१०) पताका (११) यव (१२) मत्स्य (१३) कच्छप (१४) प्रधान रथ (१५) मकरध्वज (कामदेव) (१६) वज्र (१७) थाल (१८) अकुश (१९) अष्टापद—जुआ खेलने का पट्ट या वस्त्र (२०) स्थापनिका ठवणी या ऊँचे पैंदे वाला प्याला (२१) देव (२२) लक्ष्मी का अभिषेक (२३) तोरण (२४) पृथ्वी (२५) समुद्र (२६) श्रेष्ठ भवन (२७) श्रेष्ठ पर्वत (२८) उत्तम दर्पण (२९) क्रीडा करता हुआ हाथी (३०) वृषभ (३१) सिंह और (३२) चमर।

उनकी चाल हस जैसी और वाणी कोकिला के स्वर की तरह मधुर होती है। वे कमनीय कान्ति से युक्त और सभी को प्रिय लगती है। उनके शरीर पर न झुर्रियां पडती हैं, न उनके बाल सफेद होते हैं, न उनमे अगहीनता होती है, न कुरूपता होती है। वे व्याधि, दुर्भाग्य- सुहाग-हीनता एव शोक-चिन्ता से (आजीवन) मुक्त रहती है। ऊँचाई मे पुरुषो से कुछ कम ऊँची होती है। शृगार के आगार के समान और सुन्दर वेश-भूषा से सुशोभित होती है। उनके स्तन, जघन, मुख—चेहरा, हाथ, पाँव और नेत्र—सभी कुछ अत्यन्त सुन्दर होते है। लावण्य—सौन्दर्य, रूप और यौवन के गुणो से सम्पन्न होती है। वे नन्दन वन मे विहार करने वाली अप्सराओ सरीखी उत्तरकुरु क्षेत्र की मानवी अप्सराएँ होती है। वे आश्चर्यपूर्वक दर्शनीय होती है, अर्थात् उन्हे देखकर उनके अद्‌भुत सौन्दर्य पर आश्चर्य होता है कि मानवी में भी इतना अपार सौन्दर्य सभव है! वे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट—अधिक से अधिक मनुष्यायु को भोग कर भी—तीन पल्योपम जितने दीर्घ काल तक इष्ट एव उत्कृष्ट मानवीय भोगोपभोगो का उपभोग करके भी कामभोगो से तृप्त नही हो पाती और अतृप्त रह कर ही कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त होती है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे भोगभूमि की महिलाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस वर्णन मे उनके शरीर का आ-नख-शिख वर्णन समाविष्ट हो गया है। उनके पैरो, अगुलियो, नाखूनों जघाओ, घुटनो आदि से लेकर मस्तक के केशो तक का पृथक्-पृथक् वर्णन है, जो विविध उपमाओं से अलकृत है। इस शारीरिक सौन्दर्य के निरूपण के साथ ही उनकी हस-सदृश गति और कोकिला

सदृशी मधुर वाणी का भी कथन किया गया है। यह भी प्रतिपादन किया गया है कि वे सदा रोग और शोक से मुक्त, सदा सुहाग से सम्पन्न और सुखमय जीवन यापन करती हैं।

यह सब उनके बाह्य सौन्दर्य का प्रदर्शक है। उनकी आन्तरिक प्रकृति के विषय मे यहाँ कोई उल्लेख नही है। इसका कारण यह है कि इससे पूर्व भोगभूमिज पुरुषो के वर्णन मे जो प्रतिपादन किया जा चुका है, वह यहाँ भी समझ लेना है। तात्पर्य यह है कि वहाँ के मानव-पुरुष जैसे अल्पकषाय एव सात्त्विक स्वभाव वाले होते हैं वैसे ही वहाँ की महिलाएं भी होती हैं। जैसे पुरुष पूर्णतया निसर्ग-जीवी होते हैं वैसे ही नारियाँ भी सर्वथा निसर्ग—निर्भर होती हैं। प्रकृतिजीवी होने के कारण उनका समग्र शरीर सुन्दर होता है, नीरोग रहता है और अन्त तक उन्हे वार्धक्य की विडम्बना नही भुगतनी पडती। उन्हे सौन्दर्यवर्धन के लिए आधुनिक काल मे प्रचलित अजन, मजन, पाउडर, नख-पालिश आदि वस्तुओ का उपयोग नही करना पडता और न ऐसी वस्तुओ का अस्तित्व वहाँ होता है। अभिप्राय यह है कि अकर्मभूमि की महिलाएँ तीन पल्योपम तक जीवित रहती हैं। यह जीवनमर्यादा मनुष्यो के लिए अधिकतम है। इससे अधिक काल का आयुष्य मनुष्य का असम्भव है। इतने लम्बे समय तक उनका यौवन अक्षुण्ण रहता है। उन्हे बुढापा आता नही। जीवन-पर्यन्त वे आनन्द, भोग-विलाम मे मग्न रहती है। फिर भी अन्त मे भोगो से अतृप्त रह कर ही मरण को प्राप्त होती हैं। इसका कारण पूर्व मे ही लिखा जा चुका है कि जैसे ईधन से आग की भूख नही मिटती, उसी प्रकार भोगोपभोगो को भोगने से भोगतृष्णा शान्त नही होती—प्रत्युत अधिकाधिक वृद्धिगत ही होती जाती है। अतएव भोगतृष्णा को शान्त करने के लिए भोग-विरति की शरण लेना ही मात्र सदुपाय है।

परस्त्री में लुब्ध जीवों की दुर्दशा

९०—मेहुणसण्णासंपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं।

विसयविसउदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मंति विसुणिया धणणासं सयणविप्पणासं य पाउणंति।

परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसण्णासंपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं।

मणुयगणा वाणरा य पक्खी य विरुज्झंति, मित्ताणि खिप्पं हवंति सत्तू।

समए धम्मे गणे य भिंदंति पारदारी।

धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ।

जसमंतो सुव्वया य पावेंति अयसकित्ति।

रोगत्ता वाहिया पवड्ढेंति रोगवाही।

दुवे य लोया दुआराहगा हवंति-इहलोए-चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया।

तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य एवं जाव गच्छंति विउलमोहाभिभूयसण्णा।

९०—जो मनुष्य मैथुनसज्ञा मे अर्थात् मैथुन सेवन की वासना मे अत्यन्त आसक्त हैं और मोहभृत अर्थात् मूढता अथवा कामवासना से भरे हुए है, वे आपस मे एक दूसरे का शस्त्रो से घात करते हैं।

कोई-कोई विषयरूपी विष की उदीरणा करने वाली—बढाने वाली परकीय स्त्रियों में प्रवृत्त होकर अथवा विषय-विष के वशीभूत होकर परस्त्रियो मे प्रवृत्त होकर दूसरो के द्वारा मारे जाते हैं। जब उनकी परस्त्रीलम्पटता प्रकट हो जाती है तब (राजा या राज्य-शासन द्वारा) धन का विनाश और स्वजनो—आत्मीय जनो का सर्वथा नाश प्राप्त करते है, अर्थात् उनकी सम्पत्ति और कुटुम्ब का नाश हो जाता है।

जो परस्त्रियो से विरत नही है और मैथुनसेवन की वासना से अतीव आसक्त है और मूढता या मोह से भरपूर हैं, ऐसे घोडे, हाथी, बैल, भैसे और मृग—वन्य पशु परस्पर लड कर एक-दूसरे को मार डालते हैं।

मनुष्यगण, बन्दर और पक्षीगण भी मैथुनसज्ञा के कारण परस्पर विरोधी बन जाते हैं।

मित्र शीघ्र ही शत्रु बन जाते है।

परस्त्रीगामी पुरुष समय-सिद्धान्तो या शपथों को, अहिसा, सत्य आदि धर्मों को तथा गण—समान आचार-विचार वाले समूह को या समाज की मर्यादाओं को भग कर देते हैं, अर्थात् धार्मिक एव समाजिक मर्यादाओ का लोप कर देते है। यहाँ तक कि धर्म और सयमादि गुणो मे निरत ब्रह्मचारी पुरुष भी मैथुनसज्ञा के वशीभूत होकर क्षण भर मे चारित्र—सयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।

बडे-बडे यशस्वी और व्रतो का समीचीन रूप से पालन करने वाले भी अपयश और अपकीर्ति के भागी बन जाते हैं।

ज्वर आदि रोगो से ग्रस्त तथा कोढ आदि व्याधियो मे पीडित प्राणी मैथुनसज्ञा की तीव्रता की बदौलत रोग और व्याधि की अधिक वृद्धि कर लेते है, अर्थात् मैथुन-सेवन की अधिकता रोगो को और व्याधियों को बढावा देती है।

जो मनुष्य परस्त्री से विरत नही हैं, वे दोनो लोको मे, इहलोक और परलोक मे दुराराधक होते है, अर्थात् इहलोक में और परलोक मे भी आराधना करना उनके लिए कठिन है।

इस प्रकार जिनकी बुद्धि तीव्र मोह या मोहनीय कर्म के उदय से नष्ट हो जाती है, वे यावत्[१] अधोगति को प्राप्त होते है।

विवेचन—मूल पाठ मे सामान्यतया मैथुनसज्ञा से उत्पन्न होने वाले अनेक अनर्थो का उल्लेख किया गया है और विशेष रूप मे परस्त्रीगमन के दुष्परिणाम प्रकट किए गए है।

मानव के मन मे जब तीव्र मैथुनसज्ञा—कामवासना उभरती है तब उसकी मति विपरीत हो जाती है और उसका विवेक- कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यबोध विलीन हो जाता है। वह अपने हिताहित का, भविष्य मे होने वाले भयानक परिणामो का सम्यक् विचार करने मे असमर्थ बन जाता है। इसी कारण उसे विषयान्ध कहा जाता है। उस समय वह अपने यश, कुल, शील आदि का तनिक भी विचार नही कर सकता। कहा है—

१ 'यावत' शब्द से यहा तृतीय आस्रवद्वार का 'गहिया य हया य बद्ध रुद्धा य' यहाँ से आगे 'निरये गच्छति निरभिरामे' यहाँ तक का पाठ समझ लेना चाहिए। —अभय टीका पृ ५६

धर्म शील कुलाचार, शौर्यं स्नेहञ्च मानवा: ।
तावदेव ह्यपेक्षन्ते, यावन्न स्त्रीवशो भवेत् ।।

अर्थात् मनुष्य अपने धर्म की, अपने शील की, शौर्य और स्नेह की तभी तक परवाह करते हैं, जब तक वे स्त्री के वशीभूत नही होते ।

सूत्र मे 'विषयविसस्स उदीरएसु' कह कर स्त्रियो को विषय रूपी विष की उदीरणा या उद्रेक करने वाली कहा गया है । यही कथन पुरुषवर्ग पर भी समान रूप से लागू होता है, अर्थात् पुरुष, स्त्रीजनो में विषय-विष का उद्रेक करने वाले होते हैं । इस कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे स्त्री के दर्शन, सान्निध्य, संस्पर्श आदि से पुरुष में काम-वासना का उद्रेक होता है, उसी प्रकार पुरुष के दर्शन, सान्निध्य, सस्पर्श आदि से स्त्रियो मे वासना की उदीरणा होती है । स्त्री और पुरुष दोनो ही एक-दूसरे की वासनावृद्धि मे बाह्य निमित्तकारण होते हैं । उपादानकारण पुरुष की या स्त्री की आत्मा स्वय ही है । अन्तरग निमित्तकारण वेदमोहनीय आदि का उदय है तथा बहिरग निमित्तकारण स्त्री-पुरुष के शरीर आदि हैं । बाह्य निमित्त मिलने पर वेद-मोहनीय की उदीरणा होती है । मैथुन-सज्ञा की उत्पत्ति के कारण बतलाते हुए कहा गया है—

पणीदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एव ।।

अर्थात् इन्द्रियो को उत्तेजित करने वाले गरिष्ठ रसीले भोजन से, पहले सेवन किये गए विषय-सेवन का स्मरण करने से, कुशील के सेवन से और वेद-मोहनीयकर्म की उदीरणा से मैथुनसज्ञा उत्पन्न होती है ।

इसी कारण मैथुनसज्ञा के उद्रेक से बचने के लिए ब्रह्मचर्य की नौ वाडो का विधान किया है ।

सूत्र मे 'गण' शब्द का प्रयोग 'समाज' के अर्थ मे किया गया है । मानवो का वह समूह गण कहलाता है जिनका आचार-विचार और रहन-सहन समान होता है । परस्त्रीलम्पट पुरुष समाज की उपयोगी और लाभकारी मर्यादाओ को भग कर देता है । वह शास्त्राज्ञा की परवाह नही करता, धर्म का विचार नही करना तथा शील और सदाचार को एक किनारे रख देता है । ऐसा करके वह सामाजिक शान्ति को ही भग नही करता, किन्तु अपने जीवन को भी दु खमय बना लेता है । वह नाना व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है, अपयश का पात्र बनता है, निन्दनीय होता है और परलोक मे भव-भवान्तर तक घोर यातनाओ का पात्र बनता है । चोरी के फल-विपाक के समान अब्रह्म का फलविपाक भी यहाँ जान लेना चाहिए ।

अब्रह्मचर्य का दुष्परिणाम

९१—मेहुणमूलं य सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीयाए, दोवईए कए, रुप्पिणीए, पउमावईए, ताराए, कंचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिल्लियाए, सुवण्णगुलियाए, किण्णरीए,

सुरूवविज्जुमईए, रोहिणीए[1] य, अण्णेसु य एवमाइएसु बहवे महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्ममूला अबंभसेविणो ।[2]

इहलोए ताव णट्ठा,[3] परलोए वि य णट्ठा महया मोहतिमिसंधयारे घोरे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्त-साहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य अंडय-पोयय-जराउय-रसय-संसेइम-सम्मुच्छिम-उब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-माणुसेसु जरामरणरोगसोगबहुले पलिओवमसागरोवमाइं अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवसंसण्णिविट्ठा ।

९१—सीता के लिए, द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए, पद्मावती के लिए, तारा के लिए, काञ्चना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, स्वर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए पूर्वकाल में मनुष्यों का सहार करने वाले विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित जो सग्राम हुए सुने जाते हैं, उनका मूल कारण मैथुन ही था—मैथुन सम्बन्धी वासना के कारण ये सब महायुद्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त महिलाओ के निमित्त से अन्य सग्राम भी हुए है, जो अब्रह्ममूलक थे ।

अब्रह्म का सेवन करने वाले इस लोक मे तो नष्ट होते ही हैं, वे परलोक मे भी नष्ट होते है ।

मोहवशीभूत प्राणी पर्याप्त और अपर्याप्त, साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवो मे, अण्डज (अडे से उत्पन्न होने वाले), पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदिम, उद्‌भिज्ज और औपपातिक जीवो मे, इस प्रकार नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्यगति के जीवो मे, अर्थात् जरा, मरण, रोग और शोक की बहुलता वाले, महामोहरूपी अंधकार से व्याप्त एव घोर-दारुण परलोक मे अनेक पल्योपमो एव सागरोपमो जितने सुदीर्घ काल पर्यन्त नष्ट-विनष्ट होते रहते है—बर्बाद होते रहते है—दारुण दशा भोगते है तथा अनादि और अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले और चार गति वाले ससार रूपी अटवी मे बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे प्राचीनकाल मे स्त्रियो के निमित्त हुए सग्रामो का उल्लेख करते हुए सीता, द्रौपदी आदि के नामों का निर्देश किया गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी सैकडो अन्य उदाहरण इतिहास मे विद्यमान हैं। परस्त्रालम्पटता के कारण आए दिन होने वाली हत्याओ के समाचार आज भी वृत्तपत्रो मे अनायास ही पढने को मिलते रहते हैं ।

परस्त्रीगमन वास्तव में अत्यन्त अनर्थकारी पाप है। इसके कारण परस्त्रीगामी की आत्मा कलुषित होती है और उसका वर्त्तमान भव ही नही, भविष्य भी अतिशय दु.ख पूर्ण बन जाता है। साथ ही अन्य निरपराध सहस्रो ही नही, लाखो और कभी-कभी करोडो मनुष्यो को अपने प्राणो से हाथ धोना पडता है। रुधिर की नदियाँ बहती हैं। देश को भारी क्षति सहनी पडती है। अतएव यह पाप बडा ही दारुण है। सूत्र मे निर्दिष्ट नामो से सबद्ध कथाएँ परिशिष्ट मे देखिये ।

---

१. "रोहिणीय" पाठ ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति मे नही है, परन्तु टीका मे उसका वरित दिया है। लगता है कि भूल से छूट गया है ।

२. यहाँ "अबभसेविणो"—पाठ श्री ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति मे अधिक है ।

३ "ताव णट्ठा" के स्थान पर 'णट्ठकित्ती' पाठ भी है ।

सूत्र में उल्लिखित ससारी जीवो के कतिपय भेद-प्रभेदो का अर्थ इस प्रकार है—

जन्म-मरण के चक्र मे फँसे हुए जीव ससारी कहलाते हैं। जिन्हें मुक्ति प्राप्त नही हुई है वे जीव सदैव जन्म-मरण करते रहते हैं। ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं। वे मुख्यत: दो भागों मे विभक्त किये गये हैं—त्रस और स्थावर। केवल एक स्पर्शेन्द्रिय जिन्हे प्राप्त है ऐसे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीव स्थावर कहे जाते है और द्वीन्द्रियो से लेकर पचेन्द्रियो तक के प्राणी त्रस हैं। इन ससारी जीवो का जन्म तीन प्रकार का है—गर्भ, उपपात और सम्मूर्च्छन। गर्भ से अर्थात् माता-पिता के रज और वीर्य के सयोग मे जन्म लेने वाले प्राणी गर्भज कहलाते हैं।

गर्भज जीवो के तीन प्रकार हैं—जरायुज, अण्डज और पोतज। गर्भ को लपेटने वाली थैली—पतली झिल्ली जरायु कहलाती है और जरायु से लिपटे हुए जो मनुष्य, पशु आदि जन्म लेते हैं, वे जरायुज कहे जाते हैं। पक्षी और सर्पादि जो प्राणी अडे द्वारा जन्म लेते है, उन्हें अण्डज कहते हैं। जो जरायु आदि के आवरण से रहित है, वह पोत कहलाता है। उससे जन्म लेने वाले पोतज प्राणी कहलाते हैं। ये पोतज प्राणी गर्भ से बाहर आते ही चलने-फिरने लगते है। हाथी, हिरण आदि इस वर्ग के प्राणी हैं।

देवों और नारक जीवो जन्म के स्थान उपपात कहलाते हैं। उन स्थानो में उत्पन्न होने के कारण उन्हे औपपातिक कहते है।

गर्भज और औपपातिक जीवो के अतिरिक्त शेष जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। इधर-उधर के पुद्गलों के मिलने से गर्भ के विना ही उनका जन्म हो जाता है। विच्छू, मेंढक, कीड़े-मकोड़े आदि प्राणी इसी कोटि में परिगणित हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम होते हैं। मनुष्यो के मल-मूत्र आदि में उत्पन्न होने वाले मानवरूप जीवाणु भी सम्मूर्च्छिम होते है।

सम्मूर्च्छिम जन्म से उत्पन्न होने वाले जीव कोई स्वेदज, कोई रसज और कोई उद्भिज्ज होते है। स्वेद अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले जू आदि स्वेदज हैं। दूध, दही आदि रसों मे उत्पन्न हो जाने वाले रसज और पृथ्वी को फोड कर उत्पन्न होने वाले उद्भिज्ज कहलाते हैं।

पर्याप्ति का शब्दार्थ है पूर्णता। जीव जब नया जन्म धारण करता है तो उसे नये सिरे से शरार, इन्द्रिय आदि के निर्माण की शक्ति—क्षमता प्राप्त करनी पड़ती है। इस शक्ति की पूर्णता को जैन परिभाषा के अनुसार पर्याप्ति कहते हैं। इसे प्राप्त करने में अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिनट के अन्दर-अन्दर) का समय लगता है। जिस जीव की यह शक्ति पूर्णता पर पहुँच गई हो, वह पर्याप्त और जिसकी पूर्णता पर न पहुँच पाई हो, वह अपर्याप्त कहलाता है। ये अपर्याप्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनकी शक्ति पूर्णता पर नही पहुँची किन्तु पहुँचने वाली है वे कारण—अपर्याप्त कहलाते हैं। कुछ ऐसे भी जीव होते हैं जिनकी शक्ति पूर्णता को प्राप्त नही हुई है और होने वाली भी नही है। वह लब्ध्यपर्याप्त कहलाते है। ऐसे जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना ही पुन. मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

कुल पर्याप्तियाँ छह हैं। उनमें से आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति—ये चार एकेन्द्रिय जीवो मे, भाषापर्याप्ति के साथ पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रियो से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवों में और मन सहित छहो पर्याप्तियाँ सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में होती हैं।

सूत्र मे साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवो का भी उल्लेख आया है। ये दोनों भेद वनस्पतिकायिक जीवों के हैं। जिस वनस्पति के एक शरीर के स्वामी अनन्त जीव हो, वे साधारण जीव कहलाते हैं और जिस वनस्पति के एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह जीव प्रत्येकशरीर कहलाता है।

आशय यह है कि जो प्राणी अब्रह्म के पाप मे विरत नही होते, उन्हे दीर्घकाल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण की तथा अन्य अनेक प्रकार की भीषण एव दुस्सह यातनाओ का भागी बनना पड़ता है।

९२—एसो सो अबंभस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइयो य अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ, ण य अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य अबंभस्स फलविवागं एयं। तं अबंभंवि चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं। त्तिबेमि।

।। चउत्थ अहम्मदारं समत्तं ।।

९२—अब्रह्म रूप अधर्म का यह इहलोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी फल-विपाक है। यह अल्पसुख—सुख से रहित अथवा लेशमात्र सुख वाला किन्तु बहुत दुःखो वाला है। यह फल-विपाक अत्यन्त भयकर है और अत्यधिक पाप-रज से सयुक्त है। बडा ही दारुण और कठोर है। असाता का जनक है—असातामय है। हजारो वर्षों मे अर्थात् बहुत दीर्घकाल के पश्चात् इससे छुटकारा मिलता है, किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता—भोगना ही पडता है। ऐसा ज्ञातकुल के नन्दन वीरवर—महावीर नामक महात्मा, जिनेन्द्र-तीर्थंकर ने कहा है और अब्रह्म का फल-विपाक प्रतिपादित किया है।

यह चौथा आस्रव अब्रह्म भी देवता, मनुष्य और असुर सहित समस्त लोक के प्राणियो द्वारा प्रार्थनीय—अभीप्सित है। इसी प्रकार यह चिरकाल से परिचित—अभ्यस्त, अनुगत—पीछे लगा हुआ और दुरन्त है—दुःखप्रद है अथवा बडी कठिनाई से इसका अन्त आता है।

विवेचन—चतुर्थ आस्रवद्वार का उपसहार करते हुए सूत्रकार ने अब्रह्म के फल को अतिशय दु.खजनक, नाममात्र का—कल्पनामात्र जनित सुख का कारण बतलाते हुए कहा है कि यह आस्रव सभी ससारी जीवो के पीछे लगा है, चिरकाल से जुड़ा है। इसका अन्त करना कठिन है, अर्थात् इसका अन्त तो अवश्य हो सकता है किन्तु उसके लिए उत्कट सयम-साधना अनिवार्य है।

अब्रह्म के समग्र वर्णन एव फलविपाक के कथन की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अर्थ रूप मे इसके मूल प्रवक्ता भगवान् महावीर जिनेन्द्र हैं।

□□

पञ्चम अध्ययन : परिग्रह

परिग्रह का स्वरूप

९३—जंबू ! इत्तो परिग्गहो पंचमो उ णियमा णाणामणि-कणग-रयण-महरिहपरिमलसपुत्त-दार-परिजण-दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह-जाण-जुग्ग-संदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धणधण्ण-पाण-भोयणाच्छायण-गंध-मल्ल-भायण-भवणविहिं चेव बहुविहीयं ।

भरहं णग-णगर-णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संबाह-पट्टण-सहस्स-परिमंडियं ।

थिमियमेइणीयं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं, अपरिमियमणंत-तण्ह-मणुगय-महिच्छ-सारणिरयमूलो, लोहकलिकसायमहक्खंधो, चिंतासयणिचियविउलसालो, गारवपविरल्लियग्गविडवो, णियडि-तयापत्तपल्लवधरो पुप्फफलं जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा कलह-पकंपियग्गसिहरो ।

णरवईसंपूइओ बहुजणस्स हिययदइओ इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ ।

चरिमं अहम्मदारं ।

९३—श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! चौथे अब्रह्म नामक आस्रवद्वार के अनन्तर यह पाँचवाँ परिग्रह (आस्रव) है । (इस परिग्रह का स्वरूप इस प्रकार—)

अनेक मणियों, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नों, बहुमूल्य सुगधमय पदार्थ, पुत्र और पत्नी समेत परिवार, दासी-दास, भृतक—काम करने वाले नौकर-चाकर, प्रेष्य – किसी कार्य के लिए भेजने योग्य कर्मचारी, घोडे, हाथी, गाय, भैंस, ऊंट, गधा, बकरा और गवेलक (एक विशिष्ट जाति के बकरे, भेडो), शिविका—पालकी, शकट-गाडी—छकडा, रथ, यान, युग्य—दो हाथ लम्बी विशेष प्रकार की सवारी, स्यन्दन —क्रीडारथ, शयन, आसन, वाहन तथा कुप्य—घर के उपयोग मे आने वाला विविध प्रकार का सामान, धन, धान्य—गेहूँ, चावल आदि, पेय पदार्थ, भोजन—भोज्य वस्तु, आच्छादन—पहनने-ओढ़ने के वस्त्र, गन्ध—कपूर आदि, माला—फूलो की माला, वर्तन-भाडे तथा भवन आदि के अनेक प्रकार के विधानो को (भोग लेने पर भी)—

और हजारो पर्वतो, नगरो (कर-रहित वस्तियों), निगमो (व्यापारप्रधान मडियो), जनपदों (देशों या प्रदेशो), महानगरो, द्रोणमुखो (जलमार्ग और स्थलमार्ग से जुडे नगरो), खेट (चारों ओर धूल के कोट वाली वस्तियो), कर्बटो-छोटे नगरों—कस्बो, मडबो—जिनके आसपास अढाई-अढ़ाई कोस तक वस्ती न हो ऐसी वस्तियो, सबाहों तथा पत्तनो—जहाँ नाना प्रदेशो से वस्तुएँ खरीदने के लिए लोग आते हैं अथवा जहां रत्नो आदि का विशेष रूप से व्यापार होता हो ऐसे बड़े नगरो से सुशोभित भरतक्षेत्र—भारतवर्ष को भोग कर भी अर्थात् सम्पूर्ण भारतवर्ष का आधिपत्य भोग लेने पर भी, तथा—

जहाँ के निवासी निर्भय निवास करते हैं ऐसी सागरपर्यन्त पृथ्वी को एकच्छत्र—अखण्ड राज्य करके भोगने पर भी (परिग्रह से तृप्ति नही होती)।

(परिग्रह वृक्ष सरीखा है। उस का वर्णन इस प्रकार है—)

कभी और कही जिसका अन्त नही आता ऐसी अपरिमित एव अनन्त तृष्णा रूप महती इच्छा ही अक्षय एव अशुभ फल वाले इस वृक्ष के मूल हैं। लोभ, कलि-कलह-लड़ाई-झगड़ा और क्रोधादि कषाय इसके महास्कन्ध हैं। चिन्ता, मानसिक सन्ताप आदि की अधिकता से अथवा निरन्तर उत्पन्न होने वाली सैकड़ो चिन्ताओ से यह विस्तीर्ण शाखाओ वाला है। ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव ही इसके विस्तीर्ण शाखाग्र—शाखाओं के अग्रभाग हैं। निकृति—दूसरो को ठगने के लिए की जाने वाली वचना—ठगाई या कपट ही इस वृक्ष के त्वचा—छाल, पत्र और पुष्प हैं। इनको यह धारण करने वाला है। काम-भोग ही इस वृक्ष के पुष्प और फल हैं। शारीरिक श्रम, मानसिक खेद और कलह ही इसका कम्पायमान अग्रशिखर—ऊपरी भाग है।

यह परिग्रह (रूप आस्रव—अधर्म) राजा-महाराजाओ द्वारा सम्मानित है, बहुत—अधिकाश लोगो का हृदय-वल्लभ—अत्यन्त प्यारा है और मोक्ष के निर्लोभता रूप मार्ग के लिए अर्गला के समान है, अर्थात् मुक्ति का उपाय निर्लोभता—अकिंचनता-ममत्वहीनता है और परिग्रह उसका बाधक है।

यह अन्तिम अधर्मद्वार है।

विवेचन—चौथे अब्रह्म नामक आस्रवद्वार का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार ने परिग्रह नामक पाँचवे आस्रवद्वार का निरूपण किया है। जैनागामो मे आस्रवद्वारो का सर्वत्र यही क्रम प्रचलित है। इसी क्रम का यहाँ अनुसरण किया गया है। अब्रह्म के साथ परिग्रह का सम्बन्ध बतलाते हुए श्री अभयदेवसूरि ने अपनी टीका मे लिखा है—परिग्रह के होने पर ही अब्रह्म आस्रव होता है, अतएव अब्रह्म के अनन्तर परिग्रह का निरूपण किया गया है।[1]

सूत्रकार ने मूल पाठ में **'परिग्गहो पंचमो'** कहकर इसे पाँचवाँ बतलाया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सूत्रक्रम की अपेक्षा से ही इसे पाँचवाँ कहा है, किसी अन्य अपेक्षा से नही।[2]

सूत्र का आशय सुगम है। विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नही है। भावार्थ इतना ही है कि नाना प्रकार की मणियो, रत्नों, स्वर्ण आदि मूल्यवान् अचेतन वस्तुओ का, हाथी, अश्व, दास-दासियो, नौकर-चाकरो आदि का, रथ-पालकी आदि सवारियो का, नग (पर्वत) नगर आदि से युक्त समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का, यहाँ तक कि सम्पूर्ण पृथ्वी के अखण्ड साम्राज्य का उपभोग कर लेने पर भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नही होती है। 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यों-त्यो लोभ अधिकाधिक बढता जाता है। वस्तुत लाभ लोभ का वर्धक है। अतएव परिग्रह की वृद्धि करके जो सन्तोष प्राप्त करना चाहते हैं, वे आग मे घी होम कर उसे बुझाने का प्रयत्न करना चाहते हैं। यदि घृताहुति से अग्नि बुझ नही सकती, अधिकाधिक ही प्रज्वलित होती है तो परिग्रह की

१. अभय टीका, पृ. ९१ (पूर्वार्ध)
२. अभय. टीका, पृ ९१ (उत्तरार्ध)

वृद्धि से सन्तुष्टि प्राप्त होना भी असभव है। लोभ को शान्त करने का एक मात्र उपाय है शौच—निर्लोभता-मुक्ति धर्म का आचरण। जो महामानव अपने मानस मे सन्तोषवृत्ति को परिपुष्ट कर लेते हैं, तृष्णा-लोभ-लालसा से विरत हो जाते हैं, वे ही परिग्रह के पिशाच से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

परिग्रह के गुणनिष्पन्न नाम

९४—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा—१ परिग्गहो २ संचयो ३ चयो ४ उवचयो ५ णिहाणं ६ संभारो ७ संकरो ८ आयरो ९ पिंडो १० दव्वसारो ११ तहा महिच्छा १२ पडिबंधो १३ लोहप्पा १४ महद्दी १५ उवकरणं १६ संरक्खणा य १७ भारो १८ संपाउप्पायओ १९ कलिकरंडो २० पवित्थरो २१ अणत्थो २२ संथवो २३ [1]अगुत्ति २४ आयासो २५ अविओगो २६ अमुत्ती २७ तण्हा २८ अणत्थओ २९ आसत्ती ३० असंतोसो त्ति वि य, तस्स एयाणि एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीसं।

९४—उस परिग्रह नामक अधर्म के गुणनिष्पन्न अर्थात् उसके गुण-स्वरूप को प्रकट करने वाले तीस नाम है। वे नाम इस प्रकार है—

१. **परिग्रह**—शरीर, धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थों को ममत्वभाव से ग्रहण करना।

२. **संचय**—किसी भी वस्तु को अधिक मात्रा में ग्रहण करना।

३. **चय**—वस्तुओ को जुटाना—एकत्र करना।

४. **उपचय**—प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करना—बढाते जाना।

५. **निधान**—धन को भूमि में गाड कर रखना, तिजोरी मे रखना या बैंक मे जमा करवा कर रखना, दबा कर रख लेना।

६. **सम्भार**—धान्य आदि वस्तुओ को अधिक मात्रा मे भर कर रखना। वस्त्र आदि को पेटियो में भर कर रखना।

७. **संकर**—सकर का सामान्य अर्थ है—भेल-सेल करना। यहां इसका विशेष अभिप्राय है—मूल्यवान् पदार्थों मे अल्पमूल्य वस्तु मिला कर रखना, जिससे कोई बहुमूल्य वस्तु को जल्दी जान न सके और ग्रहण न कर ले।

८. **आदर**—पर-पदार्थों में आदरबुद्धि रखना, शरीर, धन आदि को अत्यन्त प्रीतिभाव से सभालना-संवारना आदि।

९. **पिण्ड**—किसी पदार्थ का या विभिन्न पदार्थों का ढेर करना, उन्हे लालच से प्रेरित होकर एकत्रित करना।

१०. **द्रव्यसार**—द्रव्य अर्थात् धन को ही सारभूत समझना। धन को प्राणो से भी अधिक मानकर प्राणों को—जीवन को सकट में डाल कर भी धन के लिए यत्नशील रहना।

---

१. श्री ज्ञानविमलीय प्रति में १३ वां नाम 'अकित्ति' तथा 'आयासो' को एक ही गिना है।

११. **महेच्छा**—असीम इच्छा या असीम इच्छा का कारण।

१२. **प्रतिबन्ध**—किसी पदार्थ के साथ बँध जाना, जकड जाना। जैसे भ्रमर सुगन्ध की लालच में कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी भेद नही सकता, कोश में बन्द हो जाता है (और कभी-कभी मृत्यु का ग्रास बन जाता है)। इसी प्रकार स्त्री, धन आदि के मोह में जकड जाना, उसे छोड़ना चाह कर भी छोड न पाना।

१३. **लोभात्मा**—लोभ का स्वभाव, लोभरूप मनोवृत्ति।

१४. **महद्दिका**—(**महाधिका**)—महती आकाक्षा अथवा याचना।

१५. **उपकरण**—जीवनोपयोगी साधन-सामग्री। वास्तविक आवश्यकता का विचार न करके ऊलजलूल—अनापसनाप साधनसामग्री एकत्र करना।

१६. **संरक्षणा**—प्राप्त पदार्थों का आसक्तिपूर्वक सरक्षण करना।

१७. **भार**—परिग्रह जीवन के लिए भारभूत है, अतएव उसे भार नाम दिया गया है। परिग्रह के त्यागी महात्मा हल्के—लघुभूत होकर निश्चिन्त, निर्भय विचरते है।

१८. **संपातोत्पादक**—नाना प्रकार के सकल्पो-विकल्पो का उत्पादक, अनेक अनर्थो एव उपद्रवो का जनक।

१९. **कलिकरण्ड**—कलह का पिटारा। परिग्रह कलह, युद्ध, वैर, विरोध, सघर्ष आदि का प्रमुख कारण है, अतएव इसे 'कलह का पिटारा' नाम दिया गया है।

२०. **प्रविस्तर**—धन-धान्य आदि का विस्तार। व्यापार-धन्धा आदि का फैलाव। यह सब परिग्रह का रूप है।

२१ **अनर्थ**—परिग्रह नानाविध अनर्थों का प्रधान कारण है। परिग्रह-ममत्वबुद्धि से प्रेरित एव तृष्णा और लोभ से ग्रस्त होकर मनुष्य सभी अनर्थों का पात्र वन जाता है। उसे भीषण यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं।

२२. **संस्तव**—सस्तव का अर्थ है परिचय—वारवार निकट का सम्बन्ध। सस्तव मोह को—आसक्ति को बढाता है। अतएव इसे सस्तव कहा गया है।

२३. **अगुप्ति या अकीर्त्ति**—अपनी इच्छाओ या कामनाओ का गोपन न करना, उन पर नियन्त्रण न रखकर स्वच्छन्द छोड देना—बढने देना।

'अगुप्ति' के स्थान पर कही 'अकीर्त्ति' नाम उपलब्ध होता है। परिग्रह अपकीर्त्ति—अपयश का कारण होने से उसे अकीर्त्ति भी कहते हैं।

२४. **आयास**—आयास का अर्थ है—खेद या प्रयास। परिग्रह जुटाने के लिए मानसिक और शारीरिक खेद होता है, प्रयास करना पडता है। अतएव यह आयास है।

२५. **अवियोग**—विभिन्न पदार्थों के रूप मे—धन, मकान या दुकान आदि के रूप मे जो परिग्रह एकत्र किया है, उसे विछुडने न देना। चमडी चली जाए पर दमडी न जाए, ऐसी वृत्ति।

२६. अमुक्ति—मुक्ति अर्थात् निर्लोभता। उसका न होना अर्थात् लोभ की वृत्ति होना। यह मानसिक भाव परिग्रह है।

२७. तृष्णा—अप्राप्त पदार्थों की लालसा और प्राप्त वस्तुओं की वृद्धि की अभिलाषा तृष्णा है। तृष्णा परिग्रह का मूल है।

२८. अनर्थक—परिग्रह का एक नाम 'अनर्थ' पूर्व मे कहा जा चुका है। वहाँ अनर्थ का आशय उपद्रव, झझट या दुष्परिणाम से था। यहाँ अनर्थक का अर्थ 'निरर्थक' है। पारमार्थिक हित और सुख के लिए परिग्रह निरर्थक—निरुपयोगी है। इतना ही नही, वह वास्तविक हित और सुख में बाधक भी है।

२९. आसक्ति—ममता, मूर्च्छा, गृद्धि।

३०. असन्तोष—असन्तोष भी परिग्रह का एक रूप है। मन में बाह्य पदार्थों के प्रति सन्तुष्टि न होना। भले ही पदार्थ न हो परन्तु अन्तरस् में यदि असन्तोष है तो वह भी परिग्रह है।

विवेचन—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' इस आगमोक्ति के अनुसार यद्यपि मूर्छा—ममता परिग्रह है, तथापि जिनागम में सभी कथन सापेक्ष होते हैं। अतएव परिग्रह के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह कथन भाव की अपेक्षा से समझना चाहिए। ममत्वभाव परिग्रह है और ममत्वपूर्वक ग्रहण किए जाने वाले धन्य-धान्य, महल-मकान, कुटुम्ब-परिवार, यहाँ तक कि शरीर भी परिग्रह है। ये द्रव्यपरिग्रह हैं।

इस प्रकार परिग्रह मूलत दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य। इन्ही को भावपरिग्रह और द्रव्यपरिग्रह कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह के जो तीस नाम गिनाए गए हैं, उन पर गम्भीरता के साथ विचार करने पर यह आशय स्पष्ट हो जाता है। इन नामो मे दोनो प्रकार के परिग्रहो का समावेश किया गया है। प्रारम्भ मे प्रथम नाम सामान्य परिग्रह का वाचक है। उसके पश्चात् सचय, चय, उपचय, निधान, सभार, सकर आदि कतिपय नाम प्रधानत द्रव्य अथवा बाह्य परिग्रह को सूचित करते है। महिच्छा, प्रतिबन्ध, लोभात्मा, अगुप्ति, तृष्णा, आसक्ति, असन्तोष आदि कतिपय नाम आभ्यन्तर—भावपरिग्रह के वाचक हैं। इस प्रकार सूत्रकार ने द्रव्यपरिग्रह और भावपरिग्रह का नामोल्लेख किए विना ही दोनो प्रकार के परिग्रहो का इन तीस नामो मे समावेश कर दिया है।

अध्ययन के प्रारम्भ मे परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी गई है। वृक्ष के छोटे-बडे अनेक अगो-पाग—अवयव होते हैं। इसी प्रकार परिग्रह के भी अनेक अगोपाग है। अनेकानेक रूप हैं। उन्हे समझाने की दृष्टि से यहाँ तीस नामो का उल्लेख किया गया है।

यहाँ यह तथ्य स्मरण रखने योग्य है कि भावपरिग्रह अर्थात् ममत्वबुद्धि एकान्त परिग्रहरूप है। द्रव्यपरिग्रह अर्थात् बाह्य पदार्थ तभी परिग्रह बनते है, जब उन्हे ममत्वपूर्वक ग्रहण किया जाता है।

तीस नामों मे एक नाम 'अणत्थओ' अर्थात् अनर्थक भी है। इस नाम से सूचित होता है कि जीवननिर्वाह के लिए जो वस्तु अनिवार्य नही है, उसको ग्रहण करना भी परिग्रह ही है।

इस प्रकार ये तीस नाम परिग्रह् के विराट् रूप को सूचित करते हैं। शान्ति, सन्तोष, समाधि और आनन्दमय जीवन यापन करने वालो को परिग्रह् के इन रूपो को भलीभाँति समझ कर त्यागना चाहिए।

परिग्रह् के पाश में देव एवं मनुष्य गण भी बंधे है

९५—तं च पुण परिग्गहं ममायंति लोहघत्था भवणवर-विमाण-वासिणो परिग्गहरुई परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवणिकाया य असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिय-अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवइय-कंदिय-महाकंदिय-कुहंड-पयंगदेवा पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा य तिरियवासी। पंचविहा जोइसिया य देवा बहस्सई-चंद-सूर-सुक्क-सणिच्छरा राहु-धूमकेउ-बुहा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणयवण्णा जे य गहा जोइसम्मि चारं चरंति, केऊ य गइरईया अट्ठावीसइविहा य णक्खत्तदेवगणा णाणासंठाणसंठियाओ य तारगाओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साम-मंडलगई उवरिचरा।

उड्ढलोयवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मी-साण-सणंकुमार-माहिंद-बंभलोय-लंतक-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुया कप्पवरविमाणवासिणो सुरगणा, गेविज्जा अणुत्तरा दुविहा कप्पाईया विमाणवासी महिड्ढिया उत्तमा सुरवरा एवं च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि य णाणाविहवत्थभूसणाप वरपहरणाणि य णाणा-मणिपंचवण्णदिव्वं य भायणविहिं णाणाविहकामरूवे वेउव्वियअच्छरगणसंघाते दीव-समुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेइयाणि वणसंडे पव्वए य गामणयराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देवकुल-सभप्पव-वसहिमाइयाइं बहुयाइं कित्तणाणि य परिगिण्हित्ता परिग्गहं विउलदव्वसारं देवावि सइंदगा ण तित्ति ण तुट्ठि उवलभंति। अच्चंत-विउललोहाभिभूयसत्ता वासहर-इक्खुगार-वट्ट-पव्वय-कुंडल-रुयग-वरमाणुसोत्तर-कालोदहि-लवण-सलिल-दहपइ-रइकर-अंजणक-सेल-दहिमुह-ओवाउ-प्पाय-कंचणक-चित्त-विचित्त-जमकवरसिहरिकूडवासी।

वक्खार-अकम्मभूमिसु सुविभत्तभागदेसासु कम्मभूमिसु जे वि य णरा चाउरतचक्कवट्टी वासुदेवा बलदेवा मंडलीया इस्सरा तलवरा सेणावई इब्भा सेट्ठी रट्ठिया पुरोहिया कुमारा दंडणायगा माडंबिया सत्थवाहा कोडुंबिया अमच्चा एए अण्णे य एवमाई परिग्गहं संचिणंति अणंत असरण दुरंतं अधुवमणिच्चं असासयं पावकम्मणेम्मं अवकिरियव्वं विणासमूलं वहबंधपरिकिलेसबहुलं अणंतसंकिलेस-कारणं, ते तं धणकणगरयणणिचयं पिंडिया चेव लोहघत्था ससारं अइवयंति सव्वदुक्खसंणिलयणं।

९५—उस (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह् को लोभ से ग्रस्त—लालच के जाल मे फँसे हुए, परिग्रह् के प्रति रुचि रखने वाले, उत्तम भवनो मे और विमानो मे निवास करने वाले (भवनवासी एव वैमानिक) ममत्वपूर्वक ग्रहण करते हैं। नाना प्रकार से परिग्रह् को सचित करने की बुद्धि वाले देवो के निकाय—समूह, यथा—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, ज्वलन (अग्नि)-

कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार (ये दस प्रकार के भवनवासी देव) तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतंग (ये व्यन्तरनिकाय के अन्तर्गत देव) और (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग एव गन्धर्व, ये महर्द्धिक व्यन्तर देव) तथा तिर्यक्लोक—मध्यलोक मे निवास-विचरण करने वाले पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनैश्चर, राहु, केतु और बुध, अंगारक (तपाये हुए स्वर्ण जैसे वर्ण वाला—मगल), अन्य जो भ. ग्रह ज्योतिष्चक्र मे सचार करते हैं, केतु, गति मे प्रसन्नता अनुभव करने वाले, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना प्रकार के सस्थान—आकार वाले तारागण, स्थिर लेश्या अर्थात् कान्ति वाले अर्थात् मनुष्य क्षेत्र—अढाई द्वीप से बाहर के ज्योतिष्क और मनुष्य क्षेत्र के भीतर सचार करने वाले, जो तिर्यक् लोक के ऊपरी भाग मे (समतल भूमि से ७९० योजन से लगा कर ९०० योजन तक की ऊँचाई मे) रहने वाले तथा अविश्रान्त—लगातार—विना रुके वर्तु लाकार गति करने वाले है (ये सभी देव परिग्रह को ग्रहण करते हैं)।

(इनके अतिरिक्त) ऊर्ध्वलोक मे निवास करने वाले वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये उत्तम कल्प-विमानो मे वास करने वाले—कल्पोपपन्न हैं।

(इनके ऊपर) नौ ग्रैवेयको और पाच अनुत्तर विमानो मे रहने वाले दोनो प्रकार के देव कल्पातीत है। ये विमानवासी (वैमानिक) देव महान् ऋद्धि के धारक, श्रेष्ठ सुरवर हैं।

ये (पूर्वोक्त) चारो प्रकारो—निकायो के, अपनी-अपनी परिषद् सहित परिग्रह को ग्रहण करते है—उसमे मूर्च्छाभाव रखते है। ये सभी देव भवन, हस्ती आदि वाहन, रथ आदि अथवा घूमने के विमान आदि यान, पुष्पक आदि विमान, शय्या, भद्रासन, सिहासन प्रभृति आसन, विविध प्रकार के वस्त्र एव उत्तम प्रहरण—शस्त्रास्त्रो को, अनेक प्रकार की मणियो के पचरंगी दिव्य भाजनो—पात्रो को, विक्रियालब्धि से इच्छानुसार रूप बनाने वाली कामरूपा अप्सराओ के समूह को, द्वीपो, समुद्रो, पूर्व आदि दिशाओ, ईशान आदि विदिशाओ, चैत्यो—माणवक आदि या चैत्यस्तूपो, वनखण्डों और पर्वतो को, ग्रामो और नगरो को, आरामो, उद्यानो—बगीचो और काननो—जगलो को, कूप, सरोवर, तालाब, वापी—वावडी, दीर्घिका—लम्बी वावडी, देवकुल—देवालय, सभा, प्रपा—प्याऊ और वस्ती को और बहुत-से कीर्त्तनीय—स्तुतियोग्य धर्मस्थानो को ममत्वपूर्वक स्वीकार करते है। इस प्रकार विपुल द्रव्य वाले परिग्रह को ग्रहण करके इन्द्रो सहित देवगण भी न तृप्ति को और न सन्तुष्टि को अनुभव कर पाते हैं, अर्थात् अन्तिम समय तक इन्द्रो और देवों को भी तृप्ति एव सन्तोष नही होता।

ये सब देव अत्यन्त तीव्र लोभ से अभिभूत सज्ञा वाले है, अतः वर्षधर पर्वतो (भरतादि क्षेत्रो को विभक्त करने वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त आदि), इषुकार (धातकीखण्ड और पुष्करवर द्वीपो को विभक्त करने वाले दक्षिण और उत्तर दिशाओ मे लम्बे) पर्वत, वृत्तपर्वत (शब्दापाती आदि गोलाकार पर्वत), कुण्डल (जम्बूद्वीप से ग्यारहवें कुण्डल नामक द्वीप में मण्डलाकार) पर्वत, रुचकवर (तेरहवे रुचक नामक द्वीप मे मण्डलाकार रुचकवर नामक पर्वत), मानुषोत्तर (मनुष्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करने वाला) पर्वत, कालोदधिसमुद्र, लवणसमुद्र, सलिला (गगा आदि महानदियाँ), ह्रदपति (पद्म, महापद्म आदि ह्रद—सरोवर), रतिकर पर्वत (आठवें नन्दीश्वर नामक

द्वीप के कोण में स्थित झल्लरी के आकार के चार पर्वत), अजनक पर्वत (नन्दीश्वर द्वीप के चक्रवाल मे रहे हुए कृष्णवर्ण के पर्वत), दधिमुखपर्वत (अजनक पर्वतो के पास की सोलह पुष्करणियों में स्थित १६ पर्वत), अवपात पर्वत (वैमानिक देव मनुष्यक्षेत्र में आने के लिए जिन पर उतरते हैं), उत्पात पर्वत (भवनपति देव जिनसे ऊपर उठकर मनुष्य क्षेत्र मे आते है—वे तिगिंछ कूट आदि), काञ्चनक (उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रो मे स्थित स्वर्णमय पर्वत), चित्र-विचित्रपर्वत (निषध नामक वर्षधर पर्वत के निकट शीतोदा नदी के किनारे चित्रकूट और विचित्रकूट नामक पर्वत), यमकवर (नीलवन्त नामक वर्षधर पर्वत के समीप के शीता नदी के तट पर स्थित दो पर्वत), शिखरी (समुद्र में स्थित गोस्तूप आदि पर्वत), कूट (नन्दनवन के कूट) आदि में रहने वाले ये देव भी तृप्ति नही पाते। (फिर अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या! वे परिग्रह से कैसे तृप्त हो सकते हैं?)

वक्षारो (विजयो को विभक्त करने वाले चित्रकूट आदि) मे तथा अकर्मभूमियो मे (हैमवत आदि भोगभूमि के क्षेत्रो मे) और सुविभक्त—भलीभाँति विभागवाली भरत, ऐरवत आदि पन्द्रह कर्मभूमियो मे जो भी मनुष्य निवास करते हैं, जैसे—चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक राजा (मण्डल के अधिपति महाराजा), ईश्वर—युवराज, बड़े-बडे ऐश्वर्यशाली लोग, तलवर (मस्तक पर स्वर्णपट्ट बाधे हुए राजस्थानीय), सेनापति (सेना के नायक), इभ्य (इभ अर्थात् हाथी को ढँक देने योग्य विशाल सम्पत्ति के स्वामी), श्रेष्ठी (श्री देवता द्वारा अलकृत चिह्न को मस्तक पर धारण करने वाले सेठ), राष्ट्रिक (राष्ट्र अर्थात् देश की उन्नति-अवनति के विचार के लिए नियुक्त अधिकारी), पुरोहित (शान्तिकर्म करने वाले), कुमार (राजपुत्र), दण्डनायक (कोतवाल स्थानीय राज्याधिकारी), माडम्बिक (मडम्ब के अधिपति—छोटे राजा), सार्थवाह (बहुतेरे छोटे व्यापारियो आदि को साथ लेकर चलने वाले बडे व्यापारी), कौटुम्बिक (बड़े कुटुम्ब के प्रधान या गांव के मुखिया) और अमात्य (मत्री), ये सब और इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्य परिग्रह का सचय करते हैं। वह परिग्रह अनन्त—अन्तहीन या परिणामशून्य है, अशरण अर्थात् दु:ख से रक्षा करने मे असमर्थ है, दु:खमय अन्त वाला है, अध्रुव है अर्थात् टिकाऊ नही है, अनित्य है, अर्थात् अस्थिर एव प्रतिक्षण विनाशशील होने से अशाश्वत है, पापकर्मों का मूल है, ज्ञानीजनो के लिए त्याज्य है, विनाश का मूल कारण है, अन्य प्राणियो के वध और बन्धन का कारण है, अर्थात् परिग्रह के कारण अन्य जीवो को वध-बन्धन-क्लेश-परिताप उत्पन्न होता है अथवा परिग्रह स्वय परिग्रही के लिए वध-बन्धन आदि नाना प्रकार के घोर क्लेश का कारण बन जाता है, इस प्रकार वे पूर्वोक्त देव आदि धन, कनक, रत्नो आदि का सचय करते हुए लोभ से ग्रस्त होते हैं और समस्त प्रकार के दु:खो के स्थान इस ससार मे परिभ्रमण करते है।

विविध कलाएँ भी परिग्रह के लिये

९६—परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसयं सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिं सुणिउणाओ लेहाइयाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ, चउसट्ठिं च महिलागुणे रइजणणे, सिप्पसेवं, असि-मसि-किसि-वाणिज्जं, ववहारं अत्थसत्थईसत्थच्छरुप्पगयं, विविहाओ य जोगजुंजणाओ, अण्णेसु एवमाइएसु बहुसु कारणसएसु जावज्जीवं णडिज्जए संचिणंति मंदबुद्धी।

परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करंति पाणाण-वहकरणं अलिय-णियडिसाइसंपओगे परदव्वाभिज्जा

सयणवरअभिगमणासेवणाए आयासविसूरणं कलहभंडणवेराणि य अवमाणणविमाणणाओ इच्छामहिच्छप्पिवाससययतिसिया तण्हगेहिलोहघत्था अत्ताणा अणिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोहे ।

अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति णियमा सल्ला दंडा य गारवा य कसाया सण्णा य कामगुण-अण्हगा य इंदियलेस्साओ सयणसंपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइं दव्वाइं अणंतगाइं इच्छंति परिघेत्तुं ।

सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोहपरिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ णत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए ।

९६—परिग्रह के लिए बहुत लोग सैकडो शिल्प या हुन्नर तथा उच्च श्रेणी की—निपुणता उत्पन्न करने वाले लेखन से लेकर शकुनिरुत—पक्षियों की बोली तक की, गणित की प्रधानता वाली बहत्तर कलाएँ सीखते हैं। नारियाँ रति उत्पन्न करने वाले चौसठ महिलागुणो को सीखती है। शिल्पपूर्वक सेवा करते हैं। कोई असि—तलवार आदि शस्त्रो को चलाने का अभ्यास करते हैं, कोई मसिकर्म—लिपि आदि लिखने की शिक्षा लेते हैं, कोई कृषि—खेती करते हैं, कोई वाणिज्य-व्यापार सीखते हैं, कोई व्यवहार अर्थात् विवाद के निपटारे की शिक्षा लेते हैं। कोई अर्थशास्त्र—राजनीति आदि की, कोई धनुर्वेद आदि शास्त्र एव छुरी आदि शस्त्रो को पकडने के उपायो की, कोई अनेक प्रकार के वशीकरण आदि योगो की शिक्षा ग्रहण करते है। इसी प्रकार के परिग्रह के सैकडो कारणों—उपायो मे प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जीवनपर्यन्त नाचते रहते हैं। और जिनकी बुद्धि मन्द है—जो पारमार्थिक हिताहित का विवेक करने वाली बुद्धि की मन्दता वाले है, वे परिग्रह का सचय करते हैं।

परिग्रह के लिए लोग प्राणियो की हिंसा के कृत्य मे प्रवृत्त होते हैं। झूठ बोलते हैं, दूसरों को ठगते हैं, निकृष्ट वस्तु को मिलावट करके उत्कृष्ट दिखलाते है और परकीय द्रव्य में लालच करते है। स्वदार-गमन मे शारीरिक एव मानसिक खेद को तथा परस्त्री की प्राप्ति न होने पर मानसिक पीडा को अनुभव करते हैं। कलह—वाचनिक विवाद—झगडा, लडाई तथा वैर-विरोध करते हैं, अपमान तथा यातनाएँ सहन करते है। इच्छाओ और चक्रवर्ती आदि के समान महेच्छाओ रूपी पिपासा से निरन्तर प्यासे बने रहते है। तृष्णा—अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति की लालसा तथा प्राप्त पदार्थों सबधी गृद्धि—आसक्ति तथा लोभ मे ग्रस्त-आसक्त रहते हैं। वे त्राणहीन एव इन्द्रियो तथा मन के निग्रह से रहित होकर क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करते हैं।

इस निन्दनीय परिग्रह मे ही नियम से शल्य—मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य होते है, इसी मे दण्ड—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड—अपराध होते हैं, ऋद्धि, रस तथा साता रूप तीन गौरव होते हैं, क्रोधादि कषाय होते है, आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रह नामक सज्ञाएँ होती हैं, कामगुण—शब्दादि इन्द्रियो के विषय तथा हिंसादि पाँच आस्रवद्वार, इन्द्रियविकार तथा कृष्ण, नील एव कापोत नामक तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। स्वजनो के साथ सयोग होते हैं और परिग्रहवान् असीम-अनन्त सचित्त, अचित्त एव मिश्र-द्रव्यो को ग्रहण करने की इच्छा करते है।

देवो, मनुष्यो और असुरो-सहित इस त्रस-स्थावररूप जगत् मे जिनेन्द्र भगवन्तो—तीर्थंकरो ने (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह का प्रतिपादन किया है। (वास्तव मे) परिग्रह के समान अन्य कोई पाश—फदा, बन्धन नही है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह के लिए किए जाने वाले विविध प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया गया है। जिन कार्यों का सूत्र मे साक्षात् वर्णन है, उनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कार्य हैं, जिन्हें परिग्रह की प्राप्ति, वृद्धि एवं सरक्षण के लिए किया जाता है। अनेकानेक कार्य जीवनपर्यन्त निरन्तर करते रहने पर भी प्राणियों को परिग्रह मे तृप्ति नही होती। जो परिग्रह अधिकाधिक तृष्णा, लालसा, आसक्ति और असन्तुष्टि की वृद्धि करने वाला है, उससे तृप्ति अथवा सन्तुष्टि प्राप्त भी कैसे हो सकती है ! जीवनपर्यन्त उसे बढाने के लिए जुटे रहने पर भी, जीवन का अन्त आ जाता है परन्तु लालसा का अन्त नही आता।

तो क्या परिग्रह के पिशाच से कभी छुटकारा मिल ही नही सकता ? ऐसा नही है। जिनकी विवेकबुद्धि जागृत हो जाती है, जो यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझ जाते हैं, परिग्रह की निस्सारता का भान जिन्हें हो जाता है और जो यह निश्चय कर लेते है कि परिग्रह सुख का नही, दु:ख का कारण है, इससे हित नही, अहित ही होता है, यह आत्मा की विशुद्धि का नही, मलीनता का कारण है, इससे आत्मा का उत्थान नही, पतन होता है, यह जीवन को भी अनेक प्रकार की यातनाओ से परिपूर्ण बना देता है, अशान्ति एव आकुलता का जनक है, वे महान् पुरुष परिग्रह के पिशाच से अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

मूलपाठ मे ही कहा गया है—परिग्रह अर्थात् ममत्वभाव अनन्त है—उसका कभी और कही अन्त नही आता। वह अशरण है अर्थात् शरणदाता नही है। जब मनुष्य के जीवन मे रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं तो परिग्रह के द्वारा उनका निवारण नही हो सकता। चाहे पिता, पुत्र, पत्नी आदि सचित्त परिग्रह हो, चाहे धन-वैभव आदि अचित्त परिग्रह हो, सब एक ओर रह जाते है। रोगी को कोई शरण नही दे सकते। यहाँ नमिराज के कथानक का अनायास स्मरण हो आता है। उन्हे व्याधि उत्पन्न होने पर परिग्रह की अकिंचित्करता का भान हुआ, उनका विवेक जाग उठा और उसी समय वे भावत: परिग्रहमुक्त हो गए। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को **दुरन्त** कहा है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह का अन्त तो आ सकता है किन्तु कठिनाई से आता है।

परिग्रह का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करने के लिए शास्त्रकार ने उसे **'अणंतं असरणं दुरंतं'** कहने के साथ **'अधुवमणिच्चं, असासयं, पावकम्मणेमं, विणासमूलं, वहबंधपरिकिलेसबहुलं, अणंत-संकिलेसकारणं, सव्वदुक्खसंनिलयणं'** इत्यादि विशेषणो द्वारा अभिहित किया है।

अकथनीय यातनाएँ झेल कर प्राणो को भी सकट मे डालकर कदाचित् परिग्रह प्राप्त कर भी लिया तो वह सदा ठहरता नही, कभी भी नष्ट हो जाता है। वह अनित्य है— सदा एक-सा रहता नही, अचल नही है—अशाश्वत है, समस्त पापकर्मों का मूल कारण है, यहाँ तक कि जीवन—प्राणो के विनाश का कारण है। बहुत बार परिग्रह की बदौलत मनुष्य को प्राणो से हाथ धोना पडता है—चोरो-लुटेरो-डकैतो के हाथो मरना पड़ता है और पारमार्थिक हित का विनाशक तो है ही।

लोग समझते है कि परिग्रह सुख का कारण है किन्तु ज्ञानी जनो की दृष्टि मे वह वध, बन्ध आदि नाना प्रकार के क्लेशो का कारण होता है। परिग्रही प्राणी के मन मे सदैव अशान्ति, आकुलता, बेचैनी, उथल-पुथल एव आशंकाएँ बनी रहती हैं। परिग्रह के रक्षण की घोर चिन्ता दिन-रात उन्हे बेचैन बनाए रहती है। वे स्वजनो और परिजनो से भी सदा भयभीत रहते हैं। भोजन मे कोई विष

मिश्रित न कर दे, इस आशका के कारण निश्चिन्त होकर भोजन नही कर सकते। सोते समय कोई मार न डाले, इस भय से आराम से सो नही सकते। उन्हें प्रतिक्षण आशका रहती है। कहावत है—काया को नही, माया को डर रहता है। जिसका परिवार-रूप परिग्रह विशाल होता है, उन्हे भी नाना प्रकार की परेशानियाँ सताती रहती है। परिग्रह से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के मानसिक सक्लेश अनुभवसिद्ध हैं और समग्र लोक इनका साक्षी है। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को अनन्त सक्लेश का कारण कहा है।

परिग्रह केवल सक्लेश का ही कारण नही, वह **'सव्वदुक्खसंनिलयणं'** भी है, अर्थात् जगत् के समस्त दु.खो का घर है। एक आचार्य ने यथार्थ ही कहा है—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अनादि काल से आत्मा के साथ दु.खो की जो परम्परा चली आ रही है—एक दु.ख का अन्त होने से पहले ही दूसरा दुःख आ टपकता है, दु.ख पर दु.ख आ पड़ते हैं और भव-भवान्तर में यही दु खो का प्रवाह प्रवहमान है, इसका मूल कारण सयोग है, अर्थात् पर-पदार्थों के साथ अपने आपको जोडना है। यद्यपि कोई भी पर-पदार्थ आत्मा से जुड़ता नही, तथापि ममताग्रस्त पुरुष अपने ममत्व के धागे से उन्हे जुडा हुआ मान लेता है—ममता के बन्धन से उन्हें अपने साथ बांधता है। परिणाम यह होता है कि पदार्थ तो बंधते नही, प्रत्युत वह बाधने वाला स्वय ही बँध जाता है। अतएव जो बन्धन मे नही पडना चाहते, उन्हे बाह्य पदार्थों के साथ सयोग स्थापित करने की कुबुद्धि का परित्याग करना चाहिए। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमणो को **'संजोगा विप्पमुक्कस्स'** विशेषण प्रदान किया है। अर्थात् श्रमण अनगार सयोग से विप्रमुक्त—पूर्णरूप से मुक्त होते है।

जब श्रमण परिग्रह से पूरी तरह मुक्त होते हैं, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्वभाव से रहित होते है तो उनके उपासको को भी यही श्रद्धा रखनी चाहिए कि परिग्रह अनर्थमूल होने से त्याज्य है। इस प्रकार की श्रद्धा यदि वास्तविक होगी तो श्रमणोपासक अपनी परिस्थिति का पर्यालोचन करके उसकी एक सीमा निर्धारित अवश्य करेगा अथवा उसे ऐसा करना चाहिए। यही एक मात्र सुख और शान्ति का उपाय है। वर्त्तमान जीवन-सम्बन्धी सुख-शान्ति और शाश्वत आत्म-हित इसी मे है।

मूल पाठ मे बहत्तर कलाओ और चौसठ महिलागुणो का निर्देश किया गया है। कलाओ के नाम अनेक आगमो मे उल्लिखित है, उनके नामो में भी किंचित् भिन्नता दिखाई देती है। वस्तुतः कलाओ की कोई सख्या निर्धारित नही हो सकती। समय-समय पर उनकी सख्या और स्वरूप बदलता रहता है। आधुनिक काल में अनेक नवीन कलाओ का आविष्कार हुआ है। प्राचीन काल में जो कलाएँ प्रचलित थी, उनका वर्गीकरण बहत्तर भेदो मे किया गया था। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ लेखकला—लिखने की कला, ब्राह्मी आदि अठारह प्रकार की लिपियो को लिखने का विज्ञान।

२. गणितकला—गणना, संख्या की जोड़-बाकी आदि का ज्ञान।

३. रूपकला—वस्त्र, भित्ति, रजत-स्वर्णपट्ट आदि पर रूप (चित्र) बनाना ।
४ नाट्यकला—नाचने और अभिनय करने का ज्ञान ।
५. गीतकला—गायन सम्बन्धी कौशल ।
६. वाद्यकला—अनेक प्रकार के वाद्य बजाने की कला ।
७. स्वरगत कला—अनेक प्रकार की राग-रागिनियो मे स्वर निकालने की कला ।
८. पुष्करगत कला—पुष्कर नामक वाद्यविशेष का ज्ञान ।
९. समतालकला—समान ताल से बजाने की कला ।
१० द्यूतकला—जुआ खेलने की कुशलता ।
११. जनवादकला—जनश्रुति एव किवदन्तियो को जानना ।
१२ पौरस्कृत्यकला—पांसे खेलने का ज्ञान ।
१३ अष्टापदकला—शतरज, चौसर आदि खेलने का ज्ञान ।
१४ दकमृत्तिकाकला—जल के सयोग से मिट्टी के खिलौने आदि बनाना ।
१५. अन्नविधिकला—विविध प्रकार का भोजन बनाने का ज्ञान ।
१६ पानविधिकला—पेय पदार्थ तैयार करने की कुशलता ।
१७ वस्त्रविधि—वस्त्रो के निर्माण की कला ।
१८ शयनविधि—शयन सम्बन्धी कला ।
१९. आर्याविधि—आर्या छन्द बनाने की कला ।
२० प्रहेलिका—पहेलियाँ बनाने, बूझने की कला, गूढार्थवाली कविता रचना ।
२१ मागधिका—स्तुतिपाठ करने वाले चारण-भाटो सम्बन्धी कला ।
२२. गाथाकला—प्राकृतादि भाषाओ मे गाथाएँ रचने का ज्ञान ।
२३. श्लोककला—सस्कृतादि भाषाओ में श्लोक रचना ।
२४ गन्धयुक्ति—सुगधित पदार्थ तैयार करना ।
२५ मधुसिक्थ—स्त्रियो के पैरो मे लगाया जाने वाला महावर बनाना ।
२६ आभरणविधि—आभूषणनिर्माण की कला ।
२७ तरुणीप्रतिकर्म—तरुणी स्त्रियो के अनुरजन का कौशल ।
२८. स्त्रीलक्षण—स्त्रियो के शुभाशुभ लक्षणो को जानने का कौशल ।
२९ पुरुषलक्षण—पुरुषों के शुभाशुभ लक्षणो को जानने का कौशल ।
३० हयलक्षण—घोडो के लक्षण पहचानना ।
३१. गजलक्षण—हाथी के शुभाशुभ लक्षण जानना ।
३२. गोणलक्षण—बैलो के शुभाशुभ लक्षण जानना ।
३३ कुक्कुटलक्षण—मुर्गों के शुभाशुभ लक्षण जानना ।
३४ मेढलक्षण—मेढो के लक्षणो को पहचानना ।
३५. चक्रलक्षण—चक्र आयुध के लक्षण जानना ।
३६. छत्रलक्षण—छत्र के शुभाशुभ लक्षण जानना ।
३७ दण्डलक्षण—दण्ड के लक्षणो का परिज्ञान ।
३८. असिलक्षण—तलवार, बर्छी आदि के शुभ-अशुभ लक्षणो को जानना ।

३९. मणिलक्षण—मणियो के शुभ-अशुभ लक्षणो का ज्ञान।
४०. काकणीलक्षण—काकणी नामक रत्न के लक्षणो को जानना।
४१. चर्मलक्षण—चमड़े की या चर्मरत्न की पहचान।
४२. चन्द्रचर्या—चन्द्र के सचार और समकोण; वक्रकोण आदि से उदित हुए चन्द्र के निमित्त से शुभ-अशुभ को जानना।
४३ सूर्यचर्या—सूर्यसचारजनित उपरागो के फल को पहचानना।
४४. राहुचर्या—राहु की गति एव उसके द्वारा होने वाले चन्द्रग्रहणादि के फल को जानना।
४५ ग्रहचर्या—ग्रहो के सचार के शुभाशुभ फलो का ज्ञान।
४६. सौभाग्यकर—सौभाग्यवर्द्धक उपायो को जानना।
४७ दौर्भाग्यकर—दुर्भाग्य बढाने वाले उपायो को जानना।
४८ विद्यागत—विविध प्रकार की विद्याओ का ज्ञान।
४९. मत्रगत—मत्रो का परिज्ञान।
५० रहस्यगत—अनेक प्रकार के गुप्त रहस्यो को जानने की कला।
५१ सभास—प्रत्येक वस्तु के वृत्त-स्वभाव का ज्ञान।
५२ चारकला—गुप्तचर, जासूसी की कला।
५३ प्रतिचारकला—ग्रह आदि के सचार का ज्ञान एव रोगी की सेवा-शुश्रूषा का ज्ञान।
५४ व्यूहकला—युद्ध के लिए सेना की गरुड़ आदि के आकार मे रचना करना।
५५ प्रतिव्यूह—व्यूह के सामने उसके विरोधी व्यूह की रचना करना।
५६ स्कन्धावारमान—सेना के शिविर—पड़ाव के प्रमाण को जानना।
५७ नगरमान—नगर की रचना सम्बन्धी कुशलता।
५८ वास्तुमान—मकानो के मान-प्रमाण को जानना।
५९ स्कन्धावारनिवेश—सेना को युद्ध के योग्य खडा करने या पडाव का ज्ञान।
६० वस्तुनिवेश—वस्तुओ को कलात्मक ढग से रखने—सजाने का ज्ञान।
६१ नगरनिवेश—यथोचित स्थान पर नगर बसाने का ज्ञान।
६२ इष्वस्त्रकला—बाण चलाने—छोडने का कौशल।
६३ छरुप्रवादकला—तलवार की मूठ आदि बनाना।
६४ अश्वशिक्षा—घोडो को वाहनो मे जोतने आदि का ज्ञान।
६५ हस्तिशिक्षा—हाथियो के सचालन आदि की कुशलता।
६६ धनुर्वेद—शब्दवेधी आदि धनुर्विद्या का विशिष्ट ज्ञान।
६७. हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक—चाँदी आदि को गलाने, पकाने और उनकी भस्म बनाने आदि का कौशल।
६८ बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, सामान्ययुद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध आदि अनेक प्रकार के युद्धो सम्बन्धी कौशल।
६९ सूत्रखेड, नालिकाखेड, वर्त्तखेड, चर्मखेड आदि नाना प्रकार के खेलो को जानना।
७०. पत्रच्छेद्य, कटच्छेद्य—पत्रो एव काष्ठो को छेदने-भेदने की कला।

७१. सजीव-निर्जीव—सजीव को निर्जीव और निर्जीव को सजीव जैसा दिखाना।

७२. शकुनिरुत—पक्षियो की बोली पहचानना।

चौसठ महिलागुण—(१) नृत्यकला (२) औचित्यकला (३) चित्रकला (४) वादित्र (५) मत्र (६) तत्र (७) ज्ञान (८) विज्ञान (९) दण्ड (१०) जलस्तम्भन (११) गीतगान (१२) तालमान (१३) मेघवृष्टि (१४) फलाकृष्टि (१५) आरामरोपण (१६) आकारगोपन (१७) धर्मविचार (१८) शकुनविचार (१९) क्रियाकल्पन (२०) संस्कृतभाषण (२१) प्रसादनीति (२२) धर्मनीति (२३) वाणीवृद्धि (२४) सुवर्णसिद्धि (२५) सुरभितैल (२६) लीलासचारण (२७) गज-तुरगपरीक्षण (२८) स्त्री-पुरुषलक्षण (२९) स्वर्ण-रत्नभेद (३०) अष्टादशलिपि ज्ञान (३१) तत्कालबुद्धि (३२) वस्तुसिद्धि (३३) वैद्यकक्रिया (३४) कामक्रिया (३५) घटभ्रम (३६) सार परिश्रम (३७) अजनयोग (३८) चूर्णयोग (३९) हस्तलाघव (४०) वचनपाटव (४१) भोज्यविधि (४२) वाणिज्यविधि (४३) मुखमण्डन (४४) शालिखण्डन (४५) कथाकथन (४६) पुष्पग्रथन (४७) वक्रोक्तिजल्पन (४८) काव्यशक्ति (४९) स्फारवेश (५०) सकलभाषाविशेष (५१) अभिधानज्ञान (५२) आभरणपरिधान (५३) नृत्योपचार (५४) गृहाचार (५५) शाठ्यकरण (५६) परनिराकरण (५७) धान्यरन्धन (५८) केशबन्धन (५९) वीणादिनाद (६०) वितण्डावाद (६१) अकविचार (६२) लोकव्यवहार (६३) अन्त्यक्षरी और (६४) प्रश्नप्रहेलिका।

ये पुरुषों की बहत्तर और महिलाओं की चौसठ कलाएँ हैं। बहत्तर कलाओ का नामोल्लेख आगमो मे मिलता है, महिलागुणों का विशेष नामोल्लेख दृष्टिगोचर नही होता। इनसे प्राचीनकालीन शिक्षापद्धति एव जीवनपद्धति का अच्छा चित्र हमारे समक्ष उभर कर आता है। आगमो से यह भी विदित होता है कि ये कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सिखलाई जाती थी।

परिग्रह के लिए किये जाने वाले अन्यान्य कार्यों के विषय मे अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नही। मूल पाठ और अर्थ से ही उन्हे समझा जा सकता है। साराश यह है कि परिग्रह के लिए मनुष्य आजीवन विविध कार्य करता है, उसके लिए पचता है, मगर कभी तृप्त नही होता और अधिकाधिक परिग्रह के लिए तरसता-तरसता ही मरण के शिकजे मे फँसता है।

परिग्रह पाप का कटुफल

९७—परलोगम्मि य णट्ठा तमं पविट्ठा महयामोहमोहियमई तिमिसंधयारे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग-साहारण-पत्तेयसरीरेसु य अण्डय-पोयय-जराउय-रसय-संसेइम-सम्मुच्छिमउब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-मणुस्सेसु जरामरणरोगसोगबहुलेसु पलिओवमसागरोवमाइं अणाइयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा लोहवससण्णिविट्ठा। एसो सो परिग्गहस्स फलविवाणो इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति।

एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फलविवागं।

एसो सो परिग्गहो पंचमो उ णियमा णाणामणिकणगरयण-महरिह एवं जाव इमस्स मोक्ख-वरमोत्तिमग्गस्स फलहभूओ ।

चरिमं अहम्मदारं समत्तं । त्ति बेमि ॥

९७—परिग्रह मे आसक्त प्राणी परलोक में और इस लोक मे (सुगति से, सन्मार्ग से और सुख-शान्ति से) नष्ट-भ्रष्ट होते हैं । अज्ञानान्धकार मे प्रविष्ट होते है । तीव्र मोहनीयकर्म के उदय से मोहित मति वाले, लोभ के वश में पडे हुए जीव त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर पर्यायो में तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक अवस्थाओ मे यावत्[1] चार गति वाले ससार-कानन में परिभ्रमण करते हैं ।

परिग्रह का यह इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी फल-विपाक अल्प सुख और अत्यन्त दु ख वाला है । महान्—घोर भय से परिपूर्ण है, अत्यन्त कर्म-रज से प्रगाढ है—गाढ कर्मबन्ध का कारण है, दारुण है, कठोर है और असाता का हेतु है । हजारो वर्षों मे अर्थात् बहुत दीर्घ काल मे इससे छुटकारा मिलना है । किन्तु इसके फल को भोगे विना छुटकारा नही मिलता ।

इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा वीरवर (महावीर) जिनेश्वर देव ने कहा है । अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियो, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नो तथा बहुमूल्य अन्य द्रव्यरूप यह परिग्रह मोक्ष के मार्गरूप मुक्ति—निर्लोभता के लिए अर्गला के समान है । इसप्रकार यह अन्तिम आस्रवद्वार समाप्त हुआ ।

---

१ यावत् शब्द से गृहीत पाठ और उसके अर्थ के लिए देखिए सूत्र ९१

आस्रवद्वार का उपसंहार

उपसंहार : गाथाओं का अर्थ

९८. एएहिं पंचहिं असवरेहिं,[1] रयमादिणित्तु अणुसमयं ।
चउविहगइपेरंत, अणुपरियट्टंति संसारे ।। १ ।।

९८—इन पूर्वोक्त पाँच आस्रवद्वारो के निमित्त से जीव प्रतिसमय कर्मरूपी रज का सचय करके चार गतिरूप संसार मे परिभ्रमण करते रहते है ।

९९—सव्वगइपक्खंदे, काहिंति अणंतए अकयपुण्णा ।
जे य ण सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति ।। २ ।।

९९—जो पुण्यहीन प्राणी धर्म को श्रवण नही करते अथवा श्रवण करके भी उसका आचरण करने मे प्रमाद करते है, वे अनन्त काल तक चार गतियो मे गमनागमन (जन्म-मरण) करते रहेगे ।

१००—अणुसिट्ठं वि बहुविहं, मिच्छदिट्ठिया जे णरा अहम्मा ।
बद्धणिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं ण य करेंति ।। ३ ।।

१००—जो पुरुष मिथ्यादृष्टि हैं, अधार्मिक है, जिन्होने निकाचित (अत्यन्त प्रगाढ) कर्मो का बन्ध किया है, वे अनेक तरह से शिक्षा पाने पर भी, धर्म का श्रवण तो करते हैं किन्तु उसका आचरण नही करते ।

१०१—किं सक्का काउं जे, णेच्छह ओसहं मुहा पाउं ।
जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं ।। ४ ।।

१०१—जिन भगवान् के वचन समस्त दु.खो का नाश करने के लिए गुणयुक्त मधुर विरेचन-औषध हैं, किन्तु निस्वार्थ भाव से दी जाने वाली इस औषध को जो पीना ही नही चाहते, उनके लिए क्या किया जा सकता है !

१०२—पंचेव य उज्झिऊणं, पंचेव य रक्खिऊणं भावेणं ।
कम्मरय-विप्पमुक्कं, सिद्धिवर-मणुत्तरं जंति ।। ५ ।।

१०२—जो प्राणी पाँच (हिंसा आदि आस्रवों) को त्याग कर और पाँच (अहिंसा आदि सवरो) की भावपूर्वक रक्षा करते है, वे कर्म-रज से सर्वथा रहित होकर सर्वोत्तम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करते है ।

।। आस्रवद्वार नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ।।

---

१. 'आसवेहिं' पाठ भी है ।

[२]

संवरद्वार

भूमिका

१०३—जंबू ! एत्तो संवरदाराइं, पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए।
जह भणियाणि भगवया, सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए ॥ १ ॥

१०३—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू ! अब मैं पाँच सवरद्वारो को अनुक्रम से कहूगा, जिस प्रकार भगवान् ने सर्वदुःखो से मुक्ति पाने के लिए कहे हैं ॥ १ ॥

१०४—पढमं होइ अहिंसा, बिइयं सच्चवयणं ति पण्णत्तं।
दत्तमणुण्णाय संवरो य, बंभचेर-मपरिग्गहत्तं च ॥ २ ॥

१०४—(इन पाँच सवरद्वारो मे) प्रथम अहिंसा है, दूसरा सत्यवचन है, तीसरा स्वामी की आज्ञा मे दत्त (अदत्तादानविरमण) है, चौथा ब्रह्मचर्य और पचम अपरिग्रहत्व है ॥ २ ॥

१०५—तत्थ पढमं अहिंसा, तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।
तीसे सभावणाओ, किंचि वोच्छं गुणुद्देसं ॥ ३ ॥

१०५—इन सवरद्वारो मे प्रथम जो अहिसा है, वह त्रस और स्थावर—समस्त जीवो का क्षेम-कुशल करने वाली है। मै पाँच भावनाओ सहित अहिंसा के गुणो का कुछ कथन करू गा ॥ ३ ॥

विवेचन—पाँच आस्रवद्वारो के वर्णन के पश्चात् शास्त्रकार ने यहाँ पाँच सवरद्वारो के वर्णन की प्रतिज्ञा प्रकट की है।

पहले बतलाया जा चुका है कि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के बन्ध का कारण आस्रव कहलाता है। आस्रव के विवक्षाभेद से अनेक आधारो से, अनेक भेद किए गए हैं। किन्तु यहाँ प्रधानता की विवक्षा करके आस्रव के पाँच भेदो का ही निरूपण किया गया और अन्यान्य भेदो का इन्ही मे समावेश कर दिया गया है। अतएव आस्रव के विरोधी सवर के भी पाँच ही भेद कहे गए हैं। तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा आदि सवरो को अहिंसादि सवरो एव उनकी भावनाओ मे अन्तर्गत कर लिया गया है। अतएव अन्यत्र सवर के जो भेद-प्रभेद है उनके साथ यहाँ उल्लिखित पाँच सख्या का कोई विरोध नही है।

सवर, आस्रव का विरोधी तत्त्व है। उसका तात्पर्य यह है कि जिन अशुभ भावो से कर्मों का बध होता है, उनसे विरोधी भाव अर्थात् आस्रव का निरोध करने वाला भाव सवर है। सवर शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ फलित होता है—**'संब्रियन्ते प्रतिरुध्यन्ते आगन्तुककर्माणि येन सः**

संवर:', अर्थात् जिसके द्वारा आने वाले कर्म सवृत कर दिए जाते—रोक दिए जाते हैं, वह संवर है।

सरलतापूर्वक सवर का अर्थ समझाने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण की योजना की गई है। वह इस प्रकार है—एक नौका अथाह समुद्र मे स्थित है। नौका में गड़बड़ होने से कुछ छिद्र हो गए और समुद्र का जल नौका मे प्रवेश करने लगा। उस जल के आगमन को रोका न जाए तो जल के भार के कारण वह डूब जाएगी। मगर चतुर नाविक ने उन छिद्रो को देख कर उन्हे बद कर दिया। नौका के डूबने की आशका समाप्त हो गई। अब वह सकुशल किनारे लग जाएगी। इसी प्रकार इस ससार-सागर मे कर्म-वर्गणा रूपी अथाह जल भरा है, अर्थात् सम्पूर्ण लोक मे अनन्त-अनन्त कार्मण-वर्गणाओ के सूक्ष्म-अदृश्य पुद्गल ठसाठस भरे है। उसमें आत्मारूपी नौका स्थित है। हिंसा आदि आस्रवरूपी छिद्रो के द्वारा उनमे कर्मरूपी जल भर रहा है। यदि उस जल को रोका न जाए तो कर्मों के भार से वह डूब जाएगी—ससार में परिभ्रमण करेगी और नरकादि अधोगति मे जाएगी। मगर विवेकरूपी नाविक कर्मागमन के कारणो को देखता है और उन्हे बद कर देता है, अर्थात् अहिंसा आदि के आचरण से हिंसादि आस्रवो को रोक देता है। जब आस्रव रुक जाते है, कर्मबन्ध के कारण समाप्त हो जाते है तो कर्मों का नवीन बन्ध रुक जाता है और आत्मारूपी नौका सही-सलामत ससार से पार पहुच जाती है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि नवीन पानी के आगमन को रोकने के साथ नौका मे जो जल पहले भर चुका है, उसे उलीच कर हटा देना पड़ता है। इसी प्रकार जो कर्म पहले बँध चुके हैं, उन्हे निर्जरा द्वारा नष्ट करना आवश्यक है। किन्तु यह क्रिया सवर का नही, निर्जरा का विषय है। यहाँ केवल सवर का ही प्रतिपादन है, जिसका विषय नये सिरे से कर्मों के आगमन को रोक देना है।

सवर की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा के साथ सूत्रकार ने प्रथम गाथा मे दो महत्त्वपूर्ण बातो का भी उल्लेख किया है। **'जह भणियाणि भगवया'** अर्थात् भगवान् ने सवर का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा ही मैं कहूँगा। इस कथन से सूत्रकार ने दो तथ्य प्रकट कर दिए है। प्रथम यह कि जो कथन किया जाने वाला है वह स्वमनीषिकाकल्पित नही है। सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा कथित है। इससे प्रस्तुत कथन की प्रामाणिकता द्योतित की है। साथ ही अपनी लघुता-नम्रता भी व्यक्त कर दी है।

'सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए' इस पद के द्वारा अपने कथन का उद्देश्य प्रकट किया है। ससार के समस्त प्राणी दु:ख से बचना चाहते हैं। जो भी कार्य किया जाता है, उसका लक्ष्य दु ख से मुक्ति पाना ही होता है। यह अलग बात है कि अधिकाश प्राणी अपने अविवेक के अतिरेक के कारण दु:ख से बचने के लिए ऐसे उपाय करते हैं, जिनके कारण दु.ख की अधिकाधिक वृद्धि होती है। फिर भी लक्ष्य तो दु:ख से बचाव करना ही होता है।

समस्त दु खो से छुटकारा पाने का अमोघ उपाय समस्त कर्मों से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है और प्राप्त करने के लिए सवर की आराधना करना अनिवार्य है। जब तक नवीन कर्मों के आगमन को रोका न जाए तब तक कर्म-प्रवाह आत्मा में आता ही रहता है। इस तथ्य को सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है कि सवरद्वारो का प्ररूपण करने का प्रयोजन सर्व दु खों से विमोक्षण है, क्योकि उन्हे यथार्थ रूप से जाने विना उनकी साधना नही की जा सकती।

प्रथम गाथा मे प्रयुक्त **'प्राणुपुव्वीए'** पद से यह प्रकट किया गया है कि सवरद्वारो की प्ररूपणा अनुक्रम से की जाएगी। अनुक्रम द्वितीय गाथा में स्पष्ट कर दिया गया है। प्रथम सवरद्वार अहिंसा है, दूसरा सत्य, तीसरा दत्त (अदत्तादानत्याग), चौथा ब्रह्मचर्य और पाँचवा अपरिग्रहत्व है। इनमें अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि अहिंसा प्रधान और मूल व्रत है। सत्यादि चारो व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं। निर्युक्तिकार ने कहा है—

निद्दिट्ठ एत्थ वय इक्क चिय जिणवरेहि सव्वेहि।
पाणाइवायवेरमणमवमेसा तस्स रक्खट्ठा ॥

अर्थात् समस्त तीर्थंकर भगवन्तो ने एक प्राणातिपातविरमणव्रत का ही कथन किया है। शेष (चार) व्रत उसी की रक्षा के लिए हैं।

असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह स्वहिसा और पर-हिसा के भी कारण होते है, अतएव सभी हिसास्वरूप हैं।

अहिंसा को **'तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी'** कह कर उसकी असाधारण महिमा प्रकाशित की है। अहिसा प्राणीमात्र के लिए मगलमयी है, सब का क्षेम करने वाली है। अहिंसा पर ही जगत् टिका है।

प्रथम अध्ययन : अहिंसा

संवरद्वारों की महिमा

१०६—ताणि उ इमाणि सुव्वय ! महव्वयाइं लोयहियसव्वयाइं सुयसागर-देसियाइं तवसंजममहव्वयाइं सीलगुणवरव्वयाइं सच्चज्जवव्वयाइं णरय-तिरिय-मणुय-देवगइ-विवज्जगाइं सव्वजिणसासणगाइं कम्मरयविदारगाइं भवसयविणासगाइं दुहसयविमोयणगाइं सुहसयपवत्तणगाइं कापुरिसदुरुत्तराइं सप्पुरिसणिसेवियाइं णिव्वाणगमणसग्गप्पयाणगाइं संवरदाराइं पंच कहियाणि उ भगवया ।

१०६—श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने अन्तेवासी जम्बू स्वामी से कहा—हे सुव्रत ! अर्थात् उत्तम व्रतो के धारक और पालक जम्बू ! जिनका पूर्व मे नामनिर्देश किया जा चुका है ऐसे ये महाव्रत समस्त लोक के लिए हितकारी हैं या लोक का सर्व हित करने वाले है (अथवा लोक मे धैर्य—आश्वासन प्रदान करने वाले हैं ।) श्रुतरूपी सागर मे इनका उपदेश किया गया है । ये तप और सयमरूप व्रत हैं या इनमें तप एव सयम का व्यय—क्षय नही होता है । इन महाव्रतो मे शील का और उत्तम गुणों का समूह सन्निहित है । सत्य और आर्जव—ऋजुता—सरलता—निष्कपटता इनमे प्रधान है । अथवा इनमे सत्य और आर्जव का व्यय नही होता है । ये महाव्रत नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति से बचाने वाले हैं—मुक्तिप्रदाता है । समस्त जिनो—तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट हैं—सभी ने इनका उपदेश दिया है । कर्मरूपी रज का विदारण करने वाले अर्थात् क्षय करने वाले है । सैकड़ों भवो—जन्ममरणो का अन्त करने वाले हैं । सैकडो दु:खो से बचाने वाले हैं और सैकडो सुखों मे प्रवृत्त करने वाले हैं । ये महाव्रत कायर पुरुषो के लिए दुस्तर है, अर्थात् जो पुरुष भीरु हैं, जिनमें धैर्य और दृढता नही है, वे इनका पूरी तरह निर्वाह नही कर सकते । सत्पुरुषो द्वारा सेवित हैं, अर्थात् धीर-वीर पुरुषो ने इनका सेवन किया है (सेवन करते हैं और करेंगे) । ये मोक्ष मे जाने के मार्ग हैं, स्वर्ग मे पहुँचाने वाले हैं । इस प्रकार के ये महाव्रत रूप पाँच सवरद्वार भगवान् महावीर ने कहे हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे सवरद्वारो का माहात्म्य प्रकट किया गया है, किन्तु यह माहात्म्य केवल स्तुतिरूप नही है । यह सवरद्वारो के स्वरूप और उनके सेवन करने के फल का वास्तविक निदर्शन कराने वाला है । सूत्र का अर्थ स्पष्ट है, तथापि किंचित् विवेचन करने से पाठको को सुविधा होगी ।

सवरद्वारो को महाव्रत कहा गया है । श्रावको के पालन करने योग्य व्रत अणुव्रत कहलाते हैं । अणुव्रतो की अपेक्षा महान् होने से इन्हे महाव्रत कहा गया है । अणुव्रतो मे हिसादि पापो का पूर्णतया त्याग नही होता—एक मर्यादा रहती है किन्तु महाव्रत कृत, कारित और अनुमोदना रूप तीनो करणो से तथा मन, वचन और काय रूप तीनो योगो से पालन किए जाते हैं । इनमें हिंसा आदि का पूर्ण त्याग किया जाता है, अतएव ये महाव्रत कहलाते हैं ।

सवर समस्त हितो के प्रदाता हैं और वीतरागप्ररूपित शास्त्रो मे इनका उपदेश किया गया है, अतएव सशय के लिए कोई अवकाश नही है।

ये महाव्रत तप और सयमरूप हैं। इस विशेषण द्वारा सूचित किया गया है कि इन महाव्रतो से सवर और निर्जरा—दोनो की सिद्धि होती है, अर्थात् नवीन कर्मो का आना भी रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है। सयम सवर का और तप निर्जरा का कारण है। मुक्तिप्राप्ति के लिए सवर और निर्जरा दोनो अपेक्षित हैं। इसी तथ्य को स्फुट करने के लिए इन्हे **कर्म-रजविदारक** अर्थात् कर्मरूपी रज को नष्ट करने वाले हैं, ऐसा कहा गया है।

महाव्रतो को भवशतविनाशक भी कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ सैकडो भवो को नष्ट करने वाला है। किन्तु 'शत' शब्द यहाँ सौ सख्या का वाचक न होकर विपुलसख्यक अर्थ का द्योतक समझना चाहिए अर्थात् इसकी आराधना से बहुत-से भवो—जन्ममरणो का अन्त आ जाता है।

इनकी आराधना से जीव सैकडो दु खो से बच जाता है और सैकडो प्रकार के सुखो को प्राप्त करने में समर्थ होता है, स्पष्ट है।

महाव्रतरूप सवर की आराधना कायर पुरुष नही कर सकते, सत्पुरुष ही कर सकते है। जिनका मनोबल बहुत हीन दशा मे है, जो इन्द्रियो के दास हैं, जो मन पर नियत्रण नही रख सकते और जो धैर्यहीन हैं, सहनशील नही हैं, वे प्रथम तो महाव्रतो को धारण ही नही कर सकते। कदाचित् भावनावश धारण कर ले तो उनका यथावत् निर्वाह नही कर पाते। थोडे से प्रलोभन से या कष्ट आने पर भ्रष्ट हो जाते है अथवा साधुवेष को धारण किए हुए ही असाधुजीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु जो सत्त्वशाली पुरुष दृढ मनोवृत्ति वाले, परीषह और उपसर्ग का वीरतापूर्वक सामना करने वाले एव मन तथा इन्द्रियो को अपने विवेक के अकुश मे रखते हैं, ऐसे सत्पुरुष इन्हे अगीकार करके निश्चल भाव से पालते हैं।

महाव्रतो या सवरो का वर्णन प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाओ सहित किया जाएगा। कारण यह है कि भावनाएँ एक प्रकार से व्रत का अग हैं और उनका अनुसरण करने से व्रतो के पालन मे सरलता होती है, सहायता मिलती है और व्रत मे पूर्णता आ जाती है। भावनाओ की उपेक्षा करने से व्रत-पालन मे बाधा आती है। अतएव व्रतधारी को व्रत की भावनाओ को भलीभाँति समझ कर उनका यथावत् पालन करना चाहिए। इस तथ्य को सूचित करने के लिए **'सभावणाओ'** पद का प्रयोग किया गया है।

अहिंसा भगवती के साठ नाम

१०७—तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स भवइ दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा १ णिव्वाणं २ णिव्वुई ३ समाही ४ सत्ती ५ कित्ती ६ कंती ७ रई य ८ विरई य ९ सुयंग १० तित्ती ११ दया १२ विमुत्ती १३ खंती १४ सम्मत्ताराहणा १५ महंती १६ बोही १७ बुद्धी १८ धिई १९ समिद्धी २० रिद्धी २१ विद्धी २२ ठिई २३ पुट्ठी २४ णंदा २५ भद्दा २६ विसुद्धी २७ लद्धी २८ विसिट्ठदिट्ठी २९ कल्लाणं ३० मंगलं ३१ पमोओ ३२ विभूई ३३ रक्खा ३४ सिद्धावासो ३५ अणासवो ३६ केवलीण ठाणं ३७ सिवं ३८ समिई ३९ सीलं ४० संजमो त्ति य ४१ सीलपरिघरो

४२ संवरो य ४३ गुत्ती ४४ ववसाओ ४५ उस्सओ ४६ जण्णो ४७ आययणं ४८ जयणं ४९ अप्पमाओ ५० अस्सासो ५१ वीसासो ५२ अभओ ५३ सव्वस्स वि अमाघाओ ५४ चोक्ख ५५ पवित्ता ५६ सूई ५७ पूया ५८ विमल ५९ पभासा य ६० णिम्मलयर त्ति एवमाईणि णियगुणणिम्मियाइं पज्जवणामाणि होंति अहिंसाए भगवईए।

१०७—उन (पूर्वोक्त) पाँच सवरद्वारो में प्रथम सवरद्वार अहिंसा है। अहिंसा के निम्नलिखित नाम हैं—

(१) **द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठा**—यह अहिंसा देवो, मनुष्यो और असुरो सहित समग्र लोक के लिए—द्वीप अथवा दीप (दीपक) के समान है—शरणदात्री है और हेयोपादेय का ज्ञान कराने वाली है। त्राण है—विविध प्रकार के जागतिक दु खो से पीडित जनो की रक्षा करने वाली है, उन्हे शरण देने वाली है, कल्याणकामी जनो के लिए गति—गम्य है—प्राप्त करने योग्य है तथा समस्त गुणो एव सुखो का आधार है।

(२) **निर्वाह**—मुक्ति का कारण, शान्तिस्वरूपा है।

(३) **निर्वृत्ति**—दुर्ध्यानरहित होने से मानसिक स्वस्थतारूप है।

(४) **समाधि**—समता का कारण है।

(५) **शक्ति**—आध्यात्मिक शक्ति या शक्ति का कारण है। कही-कही '**सत्ती**' के स्थान पर '**संती**' पद मिलता है, जिसका अर्थ है—शान्ति। अहिसा मे परद्रोह की भावना का अभाव होता है, अतएव वह शान्ति भी कहलाती है।

(६) **कीर्ति**—कीर्ति का कारण है।

(७) **कान्ति**—अहिंसा के आराधक मे कान्ति—तेजस्विता उत्पन्न हो जाती है, अत वह कान्ति है।

(८) **रति**—प्राणीमात्र के प्रति प्रीति, मैत्री, अनुरक्ति—आत्मीयता को उत्पन्न करने के कारण वह रति है।

(९) **विरति**—पापो से विरक्ति।

(१०) **श्रुताङ्ग**—समीचीन श्रुतज्ञान इसका कारण है, अर्थात् सत्-शास्त्रो के अध्ययन-मनन से अहिंसा उत्पन्न होती है, इस कारण इसे श्रुताग कहा गया है।

(११) **तृप्ति**—सन्तोषवृत्ति भी अहिंसा का एक अग है।

(१२) **दया**—कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दु खित प्राणियो की करुणाप्रेरित भाव से रक्षा करना, यथाशक्ति दूसरे के दु ख का निवारण करना।

(१३) **विमुक्ति**—बन्धनो से पूरी तरह छुडाने वाली।

(१४) **क्षान्ति**—क्षमा, यह भी अहिंसारूप है।

(१५) **सम्यक्त्वाराधना**—सम्यक्त्व की आराधना—सेवना का कारण।

(१६) **महती**—समस्त व्रतो में महान्—प्रधान—जिनमें समस्त व्रतो का समावेश हो जाय।

(१७) **बोधि**—धर्मप्राप्ति का कारण।

(१८) **बुद्धि**—बुद्धि को सार्थकता प्रदान करने वाली।

(१९) **धृति**—चित्त की धीरता—दृढता।

(२०) **समृद्धि**—सब प्रकार की सम्पन्नता से युक्त– जीवन को आनन्दित करने वाली।
(२१) **ऋद्धि** —लक्ष्मीप्राप्ति का कारण।
(२२) **वृद्धि**—पुण्य-धर्म की वृद्धि का कारण।
(२३) **स्थिति**—मुक्ति मे प्रतिष्ठित करने वाली।
(२४) **पुष्टि**—पुण्यवृद्धि से जीवन को पुष्ट बनाने वाली अथवा पाप का अपचय करके पुण्य का उपचय करने वाली।
(२५) **नन्दा**—स्व और पर को आनन्द-प्रदान करने वाली।
(२६) **भद्रा**—स्व का और पर का भद्र—कल्याण वाली।
(२७) **विशुद्धि**—आत्मा को विशिष्ट शुद्ध बनाने वाली।
(२८) **लब्धि**—केवलज्ञान आदि लब्धियो का कारण।
(२९) **विशिष्ट दृष्टि**—विचार और आचार मे अनेकान्तप्रधान दर्शन वाली।
(३०) **कल्याण**—कल्याण या शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ्य का कारण।
(३१) **मंगल**—पाप-विनाशिनी, सुख उत्पन्न करने वाली, भव-सागर से तारने वाली।
(३२) **प्रमोद** –स्व-पर को हर्ष उत्पन्न करने वाली।
(३३) **विभूति**—आध्यात्मिक ऐश्वर्य का कारण।
(३४) **रक्षा**—प्राणियो को दु.ख से बचाने की प्रकृतिरूप, आत्मा को सुरक्षित बनाने वाली।
(३५) **सिद्धावास**—सिद्धो मे निवास करने वाली, मुक्तिधाम मे पहुँचाने वाली, मोक्षहेतु।
(३६) **अनास्रव**—आते हुए कर्मो का निरोध करने वाली।
(३७) **केवलि-स्थानम्**—केवलियो के लिए स्थानरूप।
(३८) **शिव** —सुख स्वरूप, उपद्रवो का शमन करने वाली।
(३९) **समिति**—सम्यक् प्रवृत्ति।
(४०) **शील**—सदाचार स्वरूपा, समीचीन आचार।
(४१) **संयम** —मन और इन्द्रियो का निरोध तथा जीवरक्षा रूप।
(४२) **शीलपरिग्रह**—सदाचार अथवा ब्रह्मचर्य का घर—चारित्र का स्थान।
(४३) **संवर** - आस्रव का निरोध करने वाली।
(४४) **गुप्ति**— मन, वचन, काय की असत् प्रवृत्ति को रोकना।
(४५) **व्यवसाय**—विशिष्ट-उत्कृष्ट निश्चय रूप।
(४६) **उच्छ्रय**—प्रशस्त भावो की उन्नति—वृद्धि, समुदाय।
(४७) **यज्ञ** - भावदेवपूजा अथवा यत्न-जीवरक्षा मे सावधानतास्वरूप।
(४८) **आयतन**—समस्त गुणो का स्थान।
(४९) **अप्रमाद**—प्रमाद—लापरवाही आदि का त्याग।
(५०) **आश्वास**—प्राणियो के लिए आश्वासन—तसल्ली।
(५१) **विश्वास**—समस्त जीवो के विश्वास का कारण।
(५२) **अभय**—प्राणियो को निर्भयता प्रदान करने वाली, स्वयं आराधक को भी निर्भय बनाने वाली।
(५३) **सर्वस्य अमाघात**—प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध अथवा अमारी-घोषणास्वरूप।

(५४) **चोक्षा**—चोखी, शुद्ध, भली प्रतीत होने वाली ।
(५५) **पवित्रा**—अत्यन्त पावन—वज्र सरीखे घोर आघात से भी त्राण करने वाली ।
(५६) **सुचि**—भाव की अपेक्षा शुद्ध—हिसा आदि मलीन भावो से रहित, निष्कलक ।
(५७) **पूता**—पूजा, विशुद्ध या भाव से देवपूजारूप ।
(५८) **विमला**—स्वय निर्मल एव निर्मलता का कारण ।
(५९) **प्रभासा**—आत्मा को दीप्ति प्रदान करने वाली, प्रकाशमय ।
(६०) **निर्मलतरा**—अत्यन्त निर्मल अथवा आत्मा को अतीव निर्मल बनाने वाली ।

अहिंसा भगवती के इत्यादि (पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार के अन्य) स्वगुणनिष्पन्न—अपने गुणो से निष्पन्न हुए नाम हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अहिंसा को भगवती कह कर उसकी असाधारण महिमा प्रकट की गई है । साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि चाहे नर हो, सुर हो अथवा असुर हो, अर्थात् मनुष्य या चारो निकायो के देवो मे से कोई भी हो और उपलक्षण से इनसे भिन्न पशु-पक्षी आदि हो, सब के लिए अहिंसा ही शरणभूत है । अथाह सागर मे डूबते हुए मनुष्य को जैसे द्वीप मिल जाए तो उसकी रक्षा हो जाती है, उसी प्रकार ससार-सागर मे दु ख पा रहे हुए प्राणियो के लिए भगवती अहिंसा त्राणदायिनी है ।

अहिंसा के साठ नामो का साक्षात् उल्लेख करने के पश्चात् शास्त्रकार ने बतलाया है कि इसके इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी है और वे भी गुणनिष्पन्न ही हैं ।

मूल पाठ मे जिन नामो का उल्लेख किया गया है, उनसे अहिंसा के अत्यन्त व्यापक एव विराट् स्वरूप की सहज ही कल्पना आ सकती है । जो लोग अहिंसा का अत्यन्त सकीर्ण अर्थ करते हैं, उन्हे अहिंसा के इन साठ नामो से फलित होने वाले अर्थ पर गभीरता से विचार करना चाहिए । निर्वाण, निर्वृत्ति, समाधि, तृप्ति, क्षान्ति, बोधि, धृति, विशुद्धि आदि-आदि नाम साधक की आन्तरिक भावनाओ को प्रकट करते है, अर्थात् मानव की इस प्रकार की सात्त्विक भावनाएँ भी अहिंसा मे गर्भित है । ये भगवती अहिंसा के विराट् स्वरूप की अग है । रक्षा, समिति, दया, अमाघात आदि नाम पर के प्रति चरितार्थ होने वाले साधक के व्यवहार के द्योतक हैं । तात्पर्य यह कि इन नामो से प्रतीत होता है कि दु.खो से पीडित प्राणी को दु ख से बचाना भी अहिंसा है, पर-पीड़ाजनक कार्य न करते हुए यतनाचार-समिति का पालन करना भी अहिंसा का अग है और विश्व के समग्र जीवो पर दया-करुणा करना भी अहिंसा है । कीर्त्ति, कान्ति, रति, चोक्षा, पवित्रा, शुचि, पूता आदि नाम उसकी पवित्रता के प्रकाशक हैं । नन्दा, भद्रा, कल्याण, मगल, प्रमोदा आदि नाम प्रकट करते हैं कि अहिंसा की आराधना का फल क्या है ! इसकी आराधना से आराधक की चित्तवृत्ति किस प्रकार कल्याणमयी, मगलमयी बन जाती है ।

इस प्रकार अहिंसा के उल्लिखित नामो से उसके विविध रूपो का, उसकी आराधना से आराधक के जीवन मे प्रादुर्भूत होने वाली प्रशस्त वृत्तियों का एव उसके परिणाम—फल का स्पष्ट चित्र उभर आता है । अतएव जो लोग अहिंसा का अतिसकीर्ण अर्थ 'जीव के प्राणों का व्यपरोपण न करना' मात्र मानते है, उनकी मान्यता की भ्रान्तता स्पष्ट हो जाती है ।

यद्यपि अहिंसा शब्द का सामान्य अर्थ हिंसा का अभाव, ऐसा होता है, किन्तु हिंसा शब्द मे भी बहुत व्यापक अर्थ निहित है। अतएव उसके विरोधी 'अहिंसा' शब्द मे भी व्यापक अर्थ छिपा है। प्रमाद, कषाय आदि के वशीभूत होकर किसी प्राणी के प्राणो का व्यपरोपण करना हिंसा कहा गया है।[1] यह हिंसा दो प्रकार की है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। प्राणव्यपरोपण द्रव्यहिंसा है और प्राणव्यपरोपण का मानसिक विचार भावहिंसा है। हिंसा से बचने की सावधानी न रखना भी एक प्रकार की हिंसा है। इनमे से भावहिंसा एकान्त रूप से हिंसा है, किन्तु द्रव्यहिंसा तभी हिंसा होती है जब वह भावहिंसा के साथ हो। अतएव अहिंसा के आराधक को भावहिंसा से बचने के लिए निरन्तर जागृत रहना पडता है। यह समस्त विषय अहिंसा के नामो पर सम्यक् विचार करने से स्पष्ट हो जाता है।

अहिंसा का अन्तिम फल निर्वाण है, यह तथ्य भी प्रस्तुत पाठ से विदित हो जाता है।

अहिंसा की महिमा

१०८—एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं,
पक्खीणं विव गमणं,
तिसियाणं विव सलिलं,
खुहियाणं विव असणं,
समुद्दमज्झे व पोयवहणं,
चउप्पयाणं व आसमपयं,
दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं,
अडवीमज्झे व सत्थगमणं,

एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।

१०८ यह अहिंसा भगवती जो है सो
(ससार के समस्त) भयभीत प्राणियो के लिए शरणभूत है,
पक्षियो के लिए आकाश मे गमन करने—उडने के समान है,
यह अहिंसा प्यास से पीडित प्राणियों के लिए जल के समान है,
भूखो के लिए भोजन के समान है,
समुद्र के मध्य मे डूबते हुए जीवो के लिए जहाज समान है,
चतुष्पद -पशुओ के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
दु खो से पीडित—रोगी जनो के लिए औषध-बल के समान है,
भयानक जगल मे सार्थ—सघ के साथ गमन करने के समान है।

(क्या भगवती अहिंसा वास्तव मे जल, अन्न, औषध, यात्रा मे सार्थ (समूह) आदि के समान

---

१ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ६

हा है ? नहीं ।) भगवती श्रहिंसा इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, जो पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस और स्थावर सभी जीवो का क्षेम—कुशल-मगल करने वाली है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में अहिंसा की महिमा एव उपयोगिता का सुगम तथा भावपूर्ण चित्र उपमाओ द्वारा अभिव्यक्त किया गया है ।

जो प्राणी भय से ग्रस्त है, जिसके सिर पर चारो ओर से भय मडरा रहा हो, उसे यदि निर्भयता का स्थान– शरण मिल जाए तो कितनी प्रसन्नता होती है ! मानो उसका प्राण-सकट टला और नया जीवन मिला । अहिंसा समस्त प्राणियो के लिए इसी प्रकार शरणप्रदा है ।

व्योमविहारी पक्षी को पृथ्वी पर अनेक सकट आने की आशका रहती है और थोडी-सी भी आपत्ति की सभावना होते ही वह धरती छोड कर आकाश मे उडने लगता है । आकाश उसके लिए अभय का स्थल है । अहिसा भी अभय का स्थान है ।

प्यास से पोडित को पानी और भूखे को भोजन मिल जाए तो उसकी पीडा एव पीडाजनित व्याकुलता मिट जानी है, उसे शान्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार अहिसा परम शान्तिदायिनी है ।

जैसे जहाज समुद्र मे डूबते की प्राणरक्षा का हेतु होता है, उसी प्रकार ससार-समुद्र मे डूबने वाले प्राणियो की रक्षा करने वाली, उन्हे उबारने वाली अहिसा है ।

चौपाये जैसे अपने वाड़े मे पहुंच कर निर्भयता का अनुभव करते हैं –वह उनके लिए अभय का स्थान है, इसी प्रकार भगवती अहिसा भी अभय का स्थान है—अभय प्रदान करने वाली है ।

जहाँ आवागमन बहुत ही कम होता है, ऐसी सुनसान तथा हिंस्र जन्तुओ से व्याप्त अटवी मे एकाकी गमन करना सकटमय होता है । सार्थ (समूह) के साथ जाने पर भय नही रहता, इसी प्रकार जहाँ अहिसा है, वहाँ भय नही रहता ।

इन उपमाओ के निरूपण के पश्चात् सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि अहिसा आकाश, पानी, भोजन, औषध आदि के समान कही गई है किन्तु ये उपमाएँ पूर्णोपमाएँ नही है । भोजन, पानी, औषध आदि उपमाएँ न तो ऐकान्तिक हैं और न आत्यन्तिक । तात्पर्य यह है कि दु ख या भय का प्रतीकार करने वाली इन वस्तुओ से न तो सदा के लिए दु.ख दूर होता है और न परिपूर्ण रूप से होता है । यही नही, कभी-कभी तो भोजन, औषध आदि दु ख के कारण भी बन जाते हैं । किन्तु अहिंसा मे यह खतरा नही है । अहिंसा से प्राप्त आनन्द ऐकान्तिक है—उससे दु ख की लेशमात्र भी सभावना नही है । साथ ही वह आनन्द आत्यन्तिक भी है, अर्थात् अहिसा से निर्वाण की प्राप्ति होती है, अतएव वह आनन्द सदैव स्थायी रहता है । एक बार प्राप्त होने के पश्चात् उसका विनाश नही होता । इस आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—'**एत्तो विसिट्ठतरिगा अहिंसा**' अर्थात् अहिंसा इन सब उपमाभूत वस्तुओ से अत्यन्त विशिष्ट है ।

मूलपाठ मे वनस्पति का उल्लेख करने के साथ बीज, हरियकाय, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रीय का उल्लेख करने के साथ स्थावर का एव जलचर आदि के साथ त्रस का और अन्त मे 'सर्वभूत' शब्द का जो पृथक् ग्रहण किया गया है, इसका प्रयोजन अहिंसा-भगवती की महिमा के अतिशय

को प्रकट करना है। आशय यही है कि अहिंसा से प्राणीमात्र का क्षेम-कुशल ही होता है, किसी का अक्षेम नहीं होता।

अहिंसा के विशुद्ध दृष्टा और आराधक

१०९—एसा भगवई अहिंसा जा सा अपरिमिय-णाणदंसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव-संजम-णायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरेहिं (जिणचंदेहिं) सुट्ठुदिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमईहिं विदिट्ठा, विउलमईहिं विविइया, पुव्वधरेहिं अहीया, वेउव्वीहिं पतिण्णा, आभिणिबोहियणाणीहिं सुयणाणीहिं मणपज्जवणाणीहिं केवलणाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेलोसहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं बीयबुद्धीहिं कुट्ठबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिण्णसोएहिं सुयधरेहिं मणबलिएहिं वयबलिएहिं कायबलिएहिं णाणबलिएहिं दंसणबलिएहिं चरित्तबलिएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पियासवेहिं अक्खीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं।

चउत्थभत्तिएहिं एवं जाव छम्मासभत्तिएहिं उक्खित्तचरएहिं णिक्खित्तचरएहिं अंतचरएहिं पंतचरएहिं लूहचरएहिं समुयाणचरएहिं अण्णइलाएहिं मोणचरएहिं संसट्ठकप्पिएहिं तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं उवणिएहिं सुद्धेसणिएहिं संखादत्तिएहिं दिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं आयंबिलिएहिं पुरिमड्ढिएहिं एक्कासणिएहिं णिव्विइएहिं भिण्णपिंडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरसाहारेहिं लूहाहारेहिं तुच्छाहारेहिं अंतजीवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवीहिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पसंतजीवीहिं विवित्तजीवीहिं अखीरमहुसप्पिएहिं अमज्जमंसासिएहिं ठाणाइएहिं पडिमंठाईहिं ठाणुक्कडिएहिं वीरासणिएहिं णेसज्जिएहिं डंडाइएहिं लगंडसाईहिं एगपासगेहिं आयावएहिं अप्पावएहिं अणिट्ठुभएहिं अकंडूयएहिं धुयकेसमंसुलोमणएहिं सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणुचिण्णा, सुयहरविइयत्थकायबुद्धीहिं। धीरमइबुद्धिणो य जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमईया णिच्चं सज्झायज्झाणअणुबद्धधम्मज्झाणा पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता समिया समिइसु, समियपावा छव्विहजगवच्छला णिच्चमप्पमत्ता एएहिं अण्णेहि य जा सा अणुपालिया भगवई।

१०९—यह भगवती अहिंसा वह है जो अपरिमित—अनन्त केवलज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, शीलरूप गुण, विनय, तप और संयम के नायक—इन्हें चरम सीमा तक पहुँचाने वाले, तीर्थ की संस्थापना करने वाले—प्रवर्त्तक, जगत् के समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोकपूजित जिनवरों (जिनचन्द्रों) द्वारा अपने केवलज्ञान-दर्शन द्वारा सम्यक् रूप में स्वरूप, कारण और कार्य के दृष्टिकोण से निश्चित की गई है।

विशिष्ट अवधिज्ञानियों द्वारा विज्ञात की गई है—ज्ञपरिज्ञा से जानी गई और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सेवन की गई है। ऋजुमति-मन:पर्यवज्ञानियों द्वारा देखी-परखी गई है। विपुलमति-मन:पर्यायज्ञानियों द्वारा ज्ञात की गई है। चतुर्दश पूर्वश्रुत के धारक मुनियों ने इसका अध्ययन किया है। विक्रियालब्धि के धारकों ने इसका आजीवन पालन किया है। आभिनिबोधिक-मतिज्ञानियों ने, श्रुतज्ञानियों ने, अवधिज्ञानियों ने, मन:पर्यवज्ञानियों ने, केवलज्ञानियों ने, आमर्षौषधिलब्धि के धारक, श्लेष्मौषधिलब्धिधारक, जल्लौषधिलब्धिधारकों, विप्रुडौषधिलब्धिधारकों, सर्वौषधिलब्धिप्राप्त,

बीजबुद्धि-कोष्ठबुद्धि—पदानुसारिबुद्धि—लब्धि के धारको, सभिन्नश्रोतस्‌लब्धि के धारकों श्रुतधरों, मनोबली, वचनबली और कायबली मुनियो, ज्ञानबली, दर्शनबली तथा चारित्रबली महापुरुषों ने, मध्वास्रवलब्धिधारी, सर्पिरास्रवलब्धिधारी तथा अक्षीणमहानसलब्धि के धारको ने चारणों और विद्याधरो ने, चतुर्थभक्तिको—एक-एक उपवास करने वालो से लेकर दो, तीन, चार, पाँच दिनो, इसी प्रकार एक मास, दो मास, तीन मास, चार मास, पाँच मास एव छह मास तक का अनशन-उपवास करने वाले तपस्वियों ने, इसी प्रकार उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक, अन्तचरक, प्रान्तचरक, रूक्षचरक, समुदानचरक, अन्नग्लायक, मौनचरक, ससृष्टकल्पिक, तज्जातससृष्टकल्पिक, उपनिधिक, शुद्धैषणिक, सख्यादत्तिक, दृष्टलाभिक, अदृष्टलाभिक, पृष्ठलाभिक, आचाम्लक, पुरिमार्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक, भिन्नपिण्डपातिक, परिमितपिण्डपातिक, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, अरसाहारी, विरसाहारी, रूक्षाहारी तुच्छाहारी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी, तुच्छजीवी, उपशान्तजीवी, प्रशान्तजीवी, विविक्तजीवी तथा दूध, मधु और घृत का यावज्जीवन त्याग करने वालो ने, मद्य और माम से रहित आहार करने वालों ने कायोत्सर्ग करके एक स्थान पर स्थित रहने का अभिग्रह करने वालो ने, प्रतिमास्थायिकों ने स्थानोत्कटिको ने, वीरासनिको ने, नैषधिको ने, दण्डायतिको ने, लगण्डशायिको ने, एकपार्श्वकों ने, आतापको ने, अपावृतो ने, अनिष्ठीवको ने, अकडूयको ने, धूतकेश-श्मश्रु लोम-नख अर्थात् सिर के बाल, दाढी, मूछ और नखो का सस्कार करने का त्याग करने वालो ने, सम्पूर्ण शरीर के प्रक्षालन आदि सस्कार के त्यागियो ने, श्रुतधरो के द्वारा तत्त्वार्थ को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महापुरुषो ने (अहिंसा भगवती का) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (इनके अतिरिक्त आशीविष सर्प के समान उग्र तेज से सम्पन्न महापुरुषों ने, वस्तुतत्त्व का निश्चय और पुरुषार्थ – दोनो में पूर्ण कार्य करने वाली बुद्धि से सम्पन्न प्रज्ञापुरुषो ने, नित्य स्वाध्याय और चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यान करने वाले तथा धर्मध्यान मे निरन्तर चिन्ता को लगाये रखने वाले पुरुषो ने, पाँच महाव्रतस्वरूप चारित्र से युक्त तथा पाँच समितियो से सम्पन्न, पापो का शमन करने वाले, षट् जीवनिकायरूप जगत् के वत्सल, निरन्तर अप्रमादी रह कर विचरण करने वाले महात्माओ ने तथा अन्य विवेकविभूषित सत्पुरुषों ने अहिंसा भगवती की आराधना की है।

विवेचन—कतिपय लोगो की ऐसी धारणा होती है कि अहिसा एक आदर्श सिद्धान्त मात्र है। जीवन में उसका निर्वाह नही किया जा सकता, अर्थात् वह व्यवहार मे नही लाई जा सकती। इस धारणा को भ्रमपूर्ण सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने खूब विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि अहिसा मात्र सिद्धान्त नही, वह व्यवहार भी है और अनेकानेक महापुरुष अपने जीवन में उसका पूर्णरूपेण परिपालन करते रहे हैं। यही तथ्य स्फुट करने के उद्देश्य से यहाँ तीर्थकर भगवन्तो से लेकर विशिष्ट ज्ञानों ने धारको, अतिशय लोकोत्तर बुद्धि के धनियों, विविध लब्धियो से सम्पन्न महामुनियों, आहार-विहार में अतिशय सयमशील एव तपोनिरत तपस्वियों आदि-आदि का उल्लेख हुआ है।

इस विस्तृत उल्लेख से उन साधको के चित्त का समाधान भी किया गया है जो अहिसा के पथ पर अग्रसर होने मे शकाशील होते हैं। जिस पथ पर अनेकानेक पुरुष चल चुके है, उस पर निश्शंक भाव से मनुष्य चल पडता है। लोकोक्ति है—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

अर्थात् जिस मार्ग पर महाजन– विशिष्ट पुरुष चले है, वही हमारे लिए लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग है।

अहिंसा के पथ पर त्रिलोकपूजित, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, प्राणीमात्र के प्रति वत्सल तीर्थंकर देव चले और अन्य अतिशयज्ञानी महामानव चले, वह अहिंसा का मार्ग निस्सदेह गन्तव्य है, वही लक्ष्य तक पहुँचाने वाला है और उसके विषय मे किसी प्रकार की शका रखना योग्य नही है। इस मूल पाठ से साधक को इस प्रकार का आश्वासन मिलता है।

मूल पाठ मे अनेक पद ऐसे आए है, जिनकी व्याख्या करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

विशिष्ट प्रकार की तपश्चर्या करने से तपस्वियो को विस्मयकारी लब्धियाँ—शक्तियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती है। उनमे से कुछ लब्धियो के धारको का यहाँ उल्लेख किया गया है।

आमर्षौषधिलब्धिधारक- विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से किसी तपस्वी मे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि उसके शरीर का स्पर्श करते ही सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। वह तपस्वी आमर्षौषधिलब्धि का धारक कहलाता है।

श्लेष्मौषधिलब्धिधारी--जिनका श्लेष्म—कफ सुगधित और रोगनाशक हो।

जल्लौषधिलब्धिधारी—जिनके शरीर का मैल रोग-विनाशक हो।

विप्रुडौषधिलब्धिधारी -जिनका मल-मूत्र रोग-विनाशक हो।

सर्वौषधिलब्धिधारी —जिनका मल, मूत्र, कफ, मैल आदि सभी कुछ व्याधिविनाशक हो।

बीजबुद्धिधारी—बीज के समान बुद्धि वाले। जैसे छोटे बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार एक साधारण अर्थ के ज्ञान के सहारे अनेक अर्थों को विशद रूप से जान लेने वाली क्षयोपशमजनित बुद्धि के धारक।

कोष्ठबुद्धिधारी —जैसे कोठे मे भरा धान्य क्षीण नही होता, वैसे ही प्राप्त ज्ञान चिरकाल तक उतना ही बना रहे—कम न हो, ऐसी शक्ति से सम्पन्न।

पदानुसारीबुद्धिधारक—एक पद को सुन कर ही अनेक पदो को जान लेने की बुद्धि-शक्ति वाले।

संभिन्नश्रोतस्लब्धिधारी -एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियो के विषय को ग्रहण करने की शक्ति वाले।

श्रुतधर—आचाराग आदि आगमो के विशिष्ट ज्ञाता।

मनोबली -जिनका मनोबल अत्यन्त दृढ हो।

वचनबली—जिनके वचनो मे कुतर्क, कुहेतु का निरसन करने का विशिष्ट सामर्थ्य हो।

कायबली—भयानक परीषह और उपसर्ग आने पर भी अचल रहने की शारीरिक शक्ति के धारक।

ज्ञानबली—मतिज्ञान आदि ज्ञानो के बल वाले।

दर्शनबली—सुदृढ तत्त्वार्थश्रद्धा के बल से सम्पन्न ।
चारित्रबली—विशुद्ध चारित्र की शक्ति से युक्त ।
क्षीरास्रवी—जिनके वचन दूध के समान मधुर प्रतीत हों ।
मधुरास्रवी—जिनकी वाणी मधु-सी मीठी हो ।
सर्पिरास्रवी—जिनके वचन घृत जैसे स्निग्ध-स्नेहभरे हों ।

अक्षीणमहानसिक—समाप्त नहीं होने वाले भोजन की लब्धि वाले । इस लब्धि के धारक मुनि अकेले अपने लिए लाये भोजन में से लाखों को तृप्तिजनक भोजन करा सकते हैं । वह भोजन तभी समाप्त होता है जब लाने वाला स्वयं भोजन कर ले ।

चारण—आकाश में विशिष्ट गमन करने वाले ।
विद्याधर—विद्या के बल से आकाश में चलने की शक्ति वाले ।
उत्क्षिप्तचरक—पकाने के पात्र में से बाहर निकाले हुए भोजन में से ही आहार ग्रहण करने के अभिग्रह वाले ।

निक्षिप्तचरक—पकाने के पात्र में रक्खे हुए भोजन को ही लेने वाले ।
अन्तचरक—नीरस या चना आदि निम्न कोटि का ही आहार लेने वाले ।
प्रान्तचरक—बचा-खुचा ही आहार लेने की प्रतिज्ञा - अभिग्रह वाले ।
रूक्षचरक—रूखा-सूखा ही आहार लेने वाले ।
समुदानचरक—सधन, निर्धन एवं मध्यम श्रेणी के घरों से समभावपूर्वक भिक्षा ग्रहण करने वाले ।

अन्नग्लायक—ठंडी-वासी भिक्षा स्वीकार करने वाले ।
मौनचरक--मौन धारण करके भिक्षा के लिए जाने वाले ।
संसृष्टकल्पिक—भरे (लिप्त) हाथ या पात्र से आहार लेने की मर्यादा वाले ।
तज्जातसंसृष्टकल्पिक—जो पदार्थ ग्रहण करना है उसी से भरे हुए हाथ या पात्रादि से भिक्षा लेने के कल्प वाले ।

उपनिधिक—समीप में ही भिक्षार्थ जाने के अथवा समीप में रहे हुए पदार्थ को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वाले ।

शुद्धैषणिक—निर्दोष आहार की गवेषणा करने वाले ।
संख्यादत्तिक—दत्तियों की संख्या निश्चित करके आहार लेने वाले ।
दृष्टलाभिक—दृष्ट स्थान से दी जाने वाली या दृष्ट पदार्थ की भिक्षा ही स्वीकार करने वाले ।

अदृष्टलाभिक—अदृष्टपूर्व—पहले नहीं देखे दाता से भिक्षा लेने वाले ।
पृष्टलाभिक—'महाराज ! यह वस्तु लेंगे ?' इस प्रकार प्रश्नपूर्वक प्राप्त भिक्षा लेने वाले ।
आचाम्लिक—आयंबिल तप करने वाले ।
पुरिमार्धिक—दो पौरुषी दिन चढ़े बाद आहार लेने वाले ।

एकासनिक—एकाशन करने वाले।

निर्विकृतिक—घी, दूध, दही आदि रसो से रहित भिक्षा लेने वाले।

भिन्नपिण्डपातिक—फूटे बिखरे—पिण्ड—आहार को लेने वाले।

परिमितपिण्डपातिक—घर एव आहार के परिणाम का निश्चय करके आहार ग्रहण करने वाले।

अरसाहारी—रसहीन हीग आदि वघार से रहित आहार लेने वाले।

विरसाहारी- पुराना होने से नीरस हुए धान्य का आहार लेने वाले।

उपशान्तजीवी—भिक्षा के लाभ और अलाभ की स्थिति मे उद्विग्न न होकर शातभाव मे रहने वाले।

प्रतिमास्थायिक—एकमासिकी आदि भिक्षुप्रतिमाओ को स्वीकार करने वाले।

स्थानोत्कुटुक—उकडू आसन से एक जगह बैठने वाले।

वीरासनिक—वीरासन से बैठने वाले। (पैर धरती पर टेक कर कुर्सी पर बैठे हुए मनुष्य के नीचे से कुर्सी हटा लेने पर उसका जो आसन रहता है, वह वीरासन है)।

नैषधिक—दृढ आसन से बैठने वाले।

दण्डायतिक—डडे के समान लम्बे लेट कर रहने वाले।

लगण्डशायिक—सिर और पावो की एडियो को धरती पर टिका कर और शेष शरीर को अधर रख कर शयन करने वाले।

एकपार्श्विक—एक ही पसवाडे से सोने वाले।

आतापक—सर्दी-गर्मी मे आतापना लेने वाले।

अप्रावृत्तिक—प्रावरण— वस्त्ररहित होकर शीत, उष्ण, दश-मशक आदि परीषह सहन करने वाले।

अनिष्ठीवक—नही थूकने वाले।

अकण्डूयक शरीर को खुजली आने पर भी नही खुजलाने वाले।

शेप पद सुगम -सुबोध है और उनका आशय अर्थ मे ही आ चुका है।

इस प्रकार के महनीय पुरुषो द्वारा आचरित अहिसा प्रत्येक कल्याणकामी के लिए आचरणीय है।

आहार की निर्दोष विधि

११०- **इमं च पुढवि-दग-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावर-सव्वभूयसंजमदयट्ठयाए सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अकयमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठं अकीयकडं णवहि य कोडीहि सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धं ववगयचुयचावियचत्तदेहं च फासुयं च ण णिसज्जकहापओय-णक्खासुओवणीय ति ण तिगिच्छा-मंत-मूल-भेसज्जकज्जहेउं, ण लक्खणुप्पाय-सुमिण-जोइस-णिमित्त-कहकप्पउत्तं, ण वि डंभणाए, ण वि रक्खणाए, ण वि सासणाए, ण वि डंभण-रक्खण-सासणाए भिक्खं गवेसियव्वं ण वि वंदणाए, ण वि माणणाए, ण वि पूयणाए, ण वि वंदन-माणण-पूयणाए भिक्खं गवेसियव्वं।**

११०—अहिंसा का पालन करने के लिए उद्यत साधु को पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय— इन स्थावर और (द्वीन्द्रिय आदि) त्रस, इस प्रकार सभी प्राणियो के प्रति सयमरूप दया के लिए शुद्ध—निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। जो आहार साधु के लिए नही बनाया गया हो, दूसरे से नही बनवाया गया हो, जो अनाहूत हो अर्थात् गृहस्थ द्वारा निमन्त्रण देकर या पुनः बुलाकर न दिया गया हो, जो अनुद्दिष्ट हो—साधु के निमित्त तैयार न किया गया हो, साधु के उद्देश्य से खरीदा नही गया हो, जो नव कोटियो से विशुद्ध हो, शकित आदि दश दोषो से सर्वथा रहित हो, जो उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह और एषणा के दस दोषो से रहित हो, जिस देय वस्तु मे से आगन्तुक जीव-जन्तु स्वतः पृथक् हो गए हो, वनस्पतिकायिक आदि जीव स्वत या परत —किसी के द्वारा च्युत —मृत हो गए हो या दाता द्वारा दूर करा दिए गए हो अथवा दाता ने स्वय दूर कर दिए हो, इस प्रकार जो भिक्षा अचित्त हो, जो शुद्ध अर्थात् भिक्षा सम्बन्धी अन्य दोषो से रहित हो, ऐसी भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए।

भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर गए हुए साधु को आसन पर बैठ कर, धर्मोपदेश देकर या कथा-कहानी सुना कर प्राप्त किया हुआ आहार नही ग्रहण करना चाहिए। वह आहार चिकित्सा, मत्र, मूल—जडीबूटी, औषध आदि के हेतु नही होना चाहिए। स्त्री पुरुष आदि के शुभाशुभसूचक लक्षण, उत्पात—भूकम्प, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष आदि स्वप्न, ज्योतिष—ग्रहदशा, मुहूर्त्त आदि का प्रतिपादक शास्त्र, विस्मयजनक चामत्कारिक प्रयोग या जादू के प्रयोग के कारण दिया जाना आहार नही होना चाहिए, अर्थात् साधु को लक्षण, उत्पात, स्वप्नफल या कुतूहलजनक प्रयोग आदि बतला कर भिक्षा नही ग्रहण करना चाहिए। दम्भ अर्थात् माया का प्रयोग करके भिक्षा नही लेनी चाहिए। गृहस्वामी के घर की या पुत्र आदि की रखवाली करने के बदले प्राप्त होने वाली भिक्षा नही लेनी चाहिए—भिक्षाप्राप्ति के लिए रखवाली नही करनी चाहिए। गृहस्थ के पुत्रादि को शिक्षा देने या पढाने के निमित्त से भी भिक्षा ग्राह्य नही है। पूर्वोक्त दम्भ, रखवाली और शिक्षा—इन तीनो निमित्तो से भिक्षा नही स्वीकार करनी चाहिए। गृहस्थ का वन्दन—स्तवन—प्रशसा करके, सन्मान—सत्कार करके अथवा पूजा—सेवा करके और वन्दन, मानन एव पूजन—इन तीनो को करके भिक्षा की गवेषणा नही करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अहिंसा के आराधक साधु को किस प्रकार की निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिये, यह प्रतिपादित किया गया है। सूत्र मे जिन दोषो का उल्लेख हुआ है, उनसे बचते हुए ही भिक्षा ग्रहण करने वाला पूर्ण अहिंसा की आराधना कर सकता है। कतिपय विशिष्ट पदो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नवकोटिपरिशुद्ध— आहारशुद्धि की नौ कोटियाँ ये हैं—(१) आहारादि के लिए साधु हिंसा न करे (२) दूसरे के द्वारा हिंसा न कराए (३) ऐसी हिंसा करने वाले का अनुमोदन न करे (४) स्वय न पकाए (५) दूसरे से न पकवाए (६) पकाने वाले का अनुमोदन न करे (७) स्वय न खरीदे (८) दूसरे से न खरीदवाए और (९) खरीदने वाले का अनुमोदन न करे। ये नौ कोटियाँ मन, वचन और काय से समझना चाहिए।

शंकित आदि दस दोष

(१) **शंकित**—दोष की आशका होने पर भी भिक्षा ले लेना।

(२) **म्रक्षित** - देते समय हाथ, पात्र या आहार सचित्त पानी आदि से लिप्त होना।
(३) **निक्षिप्त**—सचित्त पर रक्खी अचित्त वस्तु ग्रहण करना।
(४) **पिहित**—सचित्त से ढंकी वस्तु लेना।
(५) **संहृत**—किसी पात्र मे से दोषयुक्त वस्तु पृथक् करके उसी पात्र से दी जाने वाली भिक्षा ग्रहण करना।
(६) **दायक**—बालक आदि अयोग्य दाता से भिक्षा लेना, किन्तु गृहस्वामी स्वय बालक से दिलाए तो दोष नही है।
(७) **उन्मिश्र**—सचित्त अथवा सचित्तमिश्रित से मिला हुआ लेना।
(८) **अपरिणत**—जिसमे शस्त्र पूर्ण रूप मे परिणत न हुआ हो—जो पूर्ण रूप से अचित्त न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।
(९) **लिप्त**—तत्काल लीपी हुई भूमि पर से भिक्षा लेना।
(१०) **छर्दित**—जो आशिक से नीचे गिर या टपक रहा हो, ऐसा आहार लेना।

(१) सोलह उद्‌गम-दोष

(१) **आधाकर्म**—किसी एक—अमुक साधु के निमित्त मे षट्काय के जीवो की विराधना करके किसी वस्तु को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है—(१) आधाकर्म दोष मे दूषित आहार का सेवन करना (२) आधाकर्मी आहार के लिए निमत्रण स्वीकार करना (३) आधाकर्मी आहार का सेवन करने वालो के साथ रहना (४) आधाकर्मी आहारसेवी की प्रशसा करना।

(२) **औद्देशिक** - साधारण रूप से भिक्षुओं के लिए तैयार किया हुआ आहारादि औद्देशिक कहलाता है। यह दो प्रकार से होता है—ओघ से और विभाग से। अपने लिए बनती हुई रसोई मे भिक्षुओ के लिए कुछ अधिक बनाना ओघ है और विवाह आदि के अवसर पर भिक्षुको के लिए कुछ भाग अलग निकाल रखना विभाग कहा जाता है। आधाकर्मी आहार किसी विशिष्ट—अमुक एक साधु के उद्देश्य से और औद्देशिक सामान्य रूप से किन्ही भी साधुओ के लिए बनाया गया होता है। यही इन दोनो मे अन्तर है।

(३) **पूतिकर्म**—निर्दोष आहार मे दूषित आहार का अश मिला हो तो वह पूतिकर्म दोष से दूषित होता है।
(४) **मिश्रजात**—अपने लिए और साधु के लिए तैयार किया गया आहार मिश्रजातदोषयुक्त कहलाता है।
(५) **स्थापना**—साधु के लिए अलग रखा हुआ आहार लेना स्थापनादोष है।
(६) **प्राभृतिका**—साधु को आहार देने के निमित्त से जीमनवार के समय को आगे-पीछे करना।
(७) **प्रादुष्करण**—अन्धेरे मे रक्खी हुई वस्तु को लाने के लिए उजाला करके या अन्धकार मे से प्रकाश मे लाया आहार लेना।

(८) **क्रीत**—साधु के निमित्त खरीद कर लाया आहार लेना।
(९) **प्रामित्य**—साधु के लिए उधार लिया हुआ आहार लेना।
(१०) **परिवर्तित**—साधु के लिए आहार मे अदल-बदल करना, दूसरे से अदलाबदली करना।
(११) **अभिहृत**—साधु के सामने—उपाश्रय आदि मे आहार लाना।
(१२) **उद्भिन्न**— साधु को देने के लिए किसी पात्र को खोलना—लाख आदि के लेप को हटाना।
(१३) **मालापहृत**—निसरणी आदि लगा कर, उस पर चढ कर, ऊपर से नीचे उतार कर दिया जाने वाला आहार।
(१४) **आच्छेद्य**—दुर्बलो से या आश्रित जनो से छीन कर साधु को आहार देना।
(१५) **अनिसृष्ट**— जिस वस्तु के अनेक स्वामी हो, उसे उन सब की अनुमति के विना देना।
(१६) **अध्यवपूर**—साधुओ का आगमन जान कर अपने लिए बनने वाले भोजन मे अधिक सामग्री मिला देना—अधिक रसोई तैयार करना।

उद्गम के इन सोलह दोषो का निमित्त दाता होता है, अर्थात् दाता के कारण ये दोष होते है।

(२) **सोलह उत्पादनादोष**

(१) **धात्री**—धायमाता जैसे कार्य —बच्चे को खेलना आदि करके आहार प्राप्त करना।
(२) **दूती**—गुप्त अथवा प्रकट सदेश पहुँचा कर आहार प्राप्त करना।
(३) **निमित्त**—शुभ-अशुभ निमित्त बतलाकर आहार प्राप्त करना।
(४) **आजीव**—प्रकट या अप्रकट रूप मे अपनी जाति या कुल का परिचय देकर भिक्षा प्राप्त करना।
(५) **वनीपक** —जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि मे जहा जिसका आदर हो वहाँ वैसा ही अपने को बतलाकर अथवा दीनता दिखलाकर आहार प्राप्त करना।
(६) **चिकित्सा**—वैद्यवृत्ति से आहार प्राप्त करना।
(७) **क्रोध** - क्रोध करके या गृहस्थ को शाप आदि का भय दिखाकर आहार प्राप्त करना।
(८) **मान**—अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी वगैरह बतला कर आहार प्राप्त करना।
(९) **माया**—छल करके आहार प्राप्त करना।
(१०) **लोभ**—आहार लोभ करना, आहार के लिए जाते समय लालचवश ऐसा निश्चय करके जाना कि आज तो अमुक वस्तु ही लाएँगे और उस वस्तु के न मिलने पर उसके लिए भटकना।
(११) **पूर्व-पश्चात् सस्तव**- आहार देने से पहले या पश्चात् दाता की प्रशसा करना, उसका गुणगान करना।
(१२) **विद्या**—देवी जिसकी अधिष्ठात्री हो और जप या हवन से जिसकी सिद्धि हो, उसे विद्या कहते है। ऐसी विद्या के प्रयोग से आहारलाभ करना।

(१३) **मन्त्र**—पुरुषप्रधान अक्षर-रचना को मत्र कहते है, जिसका जप करने मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाए। ऐसे मत्र के प्रयोग से आहार प्राप्त करना।

(१४) **चूर्ण**—अदृश्य करने वाले चूर्ण—सुरमा आदि का प्रयोग करके भिक्षालाभ करना।

(१५) **योग**—पैर मे लेप करने आदि द्वारा सिद्धियाँ बतला करके आहार प्राप्त करना।

(१६) **मूलकर्म**—गर्भाधान, गर्भपात आदि भवभ्रमण के हेतुभूत पापकृत्य मूल कहलाते हैं। ऐसे कृत्य बतला कर आहार प्राप्त करना।

ये सोलह उत्पादना दोष कहलाते है। ये दोष साधु के निमित्त से लगते है। निर्दोष भिक्षा प्राप्त करने के लिए इनसे भी बचना आवश्यक है।

१११—णवि हीलणाए, ण वि णिंदणाए, ण वि गरहणाए, ण वि हीलण-णिंदण-गरहणाए भिक्खं गवेसियव्वं। ण वि भेसणाए, ण वि तज्जणाए, ण वि तालणाए, ण वि भेसण-तज्जण-तालणाए भिक्खं गवेसियव्वं। ण वि गारवेणं, ण वि कुहणयाए, ण वि वणीमयाए, ण वि गारव-कुहण-वणीमयाए भिक्ख गवेसियव्वं। ण वि मित्तयाए, ण वि पत्थणाए, ण वि सेवणाए, ण वि मित्त-पत्थण-सेवणाए भिक्ख गवेसियव्वं। अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अविमणे अकलुणे अविसाई अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए णिरए।

१११—(पूर्वोक्त वन्दन, मानन एव पूजन से विपरीत) न तो गृहस्थ की हीलना करके—जाति आदि के आधार पर बदनामी करके, न निन्दना—देय आहार आदि अथवा दाता के दोष को प्रकट करके और न गर्हा करके—अन्य लोगो के समक्ष दाता के दोष प्रकट करके तथा हीलना, निन्दना एव गर्हा—तीनो न करके भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसी तरह साधु को भय दिखला कर, तर्जना करके—डाट कर या धमकी देकर और ताडना करके—थप्पड मुक्का मार कर भी भिक्षा नही ग्रहण करना चाहिए और यह तीनो—भय-तर्जना-ताडना करके भी भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए। ऋद्धि, रस और साता के गौरव-अभिमान से भी भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए, न अपनी दरिद्रता दिखा कर, मायाचार करके या क्रोध करके, न भिखारी की भाँति दीनता दिखा कर भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए और न यह तीनो—गौरव-क्रोध-दीनता दिखा कर भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। मित्रता प्रकट करके, प्रार्थना करके और सेवा करके भी अथवा यह तीनो करके भी भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए। किन्तु अज्ञात रूप से—अपने स्वजन, कुल, जाति आदि का परिचय न देते हुए, अगृद्ध—आहार मे आसक्ति—मूर्छा से रहित होकर, आहार और आहारदाता के प्रति द्वेष न करते हुए, अदीन—दैन्यभाव से मुक्त रह कर, भोजनादि न मिलने पर मन में उदासी न लाते हुए, अपने प्रति हीनता-करुणता का भाव न रखते हुए—दयनीय न होकर, अविषादी—विषाद-रहित वचन-चेष्टा रख कर, निरन्तर मन-वचन-काय को धर्मध्यान मे लगाते हुए, यत्न—प्राप्त सयमयोग मे उद्यम, अप्राप्त सयम योगो की प्राप्ति मे चेष्टा, विनय के आचरण और क्षमादि के गुणो के योग से युक्त होकर साधु को भिक्षा की गवेषणा में निरत—तत्पर होना चाहिए।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे भी साधु की भिक्षाशुद्धि की विधि का प्रतिपादन किया गया है। शरीर धर्मसाधना का प्रधान आधार है और आहार के अभाव मे शरीर टिक नही सकता। इस

उद्देश्य से साधु को आहार-पानी आदि सयम-साधनो की आवश्यकता होती है। किन्तु उन्हे किस प्रकार निर्दोष रूप में प्राप्त करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर आगमो मे यत्र-तत्र अत्यन्त विस्तार से दिया गया है। आहारादि-ग्रहण के साथ अनेकानेक विधिनिषेध जुडे हुए है। उन सब का अभिप्राय यही है कि साधु ने जिन महाव्रतो को अगीकार किया है, उनका भलीभाँति रक्षण एव पालन करते हुए ही उसे आहारादि प्राप्त करना चाहिए। आहारादि के लिए उसे सयमविरुद्ध कोई क्रिया नही करनी चाहिए। साथ ही पूर्ण समभाव की स्थिति मे रहना चाहिए। आहार का लाभ होने पर हर्ष और लाभ न होने पर विषाद को निकट भी न फटकने देना चाहिए। मन मे लेशमात्र दीनता-हीनता न आने देना चाहिए और दाता या देय वस्तु के अनिष्ट होने पर क्रोध या द्वेष की भावना नही लानी चाहिए। आहार के विषय मे गृद्धि नही उत्पन्न होने देना भी आवश्यक है। इस प्रकार शरीर, आहार आदि के प्रति ममत्वविहीन होकर सब दोषो से बच कर भिक्षा की गवेषणा करने वाला मुनि ही अहिंसा भगवती की यथावत् आराधना करने मे समर्थ होता है।

प्रवचन का उद्देश्य और फल

११२—इमं च णं सव्वजगजीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहियं अत्तहिय पेच्चा-भावियं आगमेसिभद्द सुद्धं णेयाउय अकुडिलं अणुत्तर सव्वदुक्खपावाणविउसमण।

११२—(अहिंसा की आराधना के लिए शुद्ध—निर्दोष भिक्षा आदि के ग्रहण का प्रतिपादक) यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर ने जगत् के समस्त जीवो की रक्षा—दया के लिए समीचीन रूप मे कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोक—आगामी जन्मो मे शुद्ध फल के रूप मे परिणत होने से भविक है तथा भविष्यत् काल मे भी कल्याणकर है। यह भगवत्प्रवचन शुद्ध—निर्दोष है और दोषो से मुक्त रखने वाला है, न्याययुक्त है—तर्कसगत है और किसी के प्रति अन्यायकारी नही है, अकुटिल है अर्थात् मुक्तिप्राप्ति का सरल—सीधा मार्ग है, यह अनुत्तर—सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखो और पापो को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—इस पाठ मे विनेय जनो की श्रद्धा को सुदृढ बनाने के लिए प्रवचन के उद्देश्य और महत्त्व का निरूपण किया गया है।

तीर्थंकर भगवान् जगत् के समस्त प्राणियो के प्रति परिपूर्ण समभाव के धारक होते हैं। पूर्ण वीतराग होने के कारण न किसी पर राग और न किसी पर द्वेष का भाव उनमे होता है। इस कारण भगवान् तीर्थंकर देव का प्रवचन सार्व—सर्वकल्याणकारी ही होता है।

चार घातिकर्मों से मुक्त और कृतकृत्य हो चुकने पर भी तीर्थंकर उपदेश क्यो—किसलिए करते है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर नामकर्म के उदय से भगवान् प्राणियो की रक्षा रूप करुणा से प्रेरित होकर उपदेश मे प्रवृत्त होते है। भव्य प्राणियो का प्रबल पुण्य भी उसमे बाह्य निमित्त बनता है।

साधारण पुरुष की उक्ति वचन कहलाती है और महान् पुरुष का वचन **प्रवचन** कहलाता है। प्रवचन शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरणशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार से की जा सकती है—

प्रकृष्टं वचनं यस्य असौ प्रवचन—अर्थात् जिनका वचन प्रकृष्ट—अत्यन्त उत्कृष्ट हो। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वीतराग देव प्रवचन है ।

प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्—अर्थात् श्रेष्ठ वचन ही प्रवचन है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शास्त्र प्रवचन कहलाता है।

प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनम् —अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष का वचन प्रवचन है। इस व्युत्पत्ति से गुरु को भी प्रवचन कहा जा सकता है।

इस प्रकार प्रवचन शब्द देव, शास्त्र और गुरु, इन तीनो का वाचक हो सकता है। प्रस्तुत मे 'पावयण' (प्रवचन) शब्द आगमवाचक है।

किसी वस्तु की प्रमाण से परीक्षा करना न्याय कहलाता है। भगवान् का प्रवचन न्याययुक्त है, इस विशेषण से यह ध्वनित किया गया है कि भगवत्प्रवचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से अबाधित है। बाधायुक्त वचन प्रवचन नही कहलाता।

यह वीतराग और सर्वज्ञ द्वारा कथित प्रवचन वर्त्तमान जीवन मे, आगामी भव मे और भविष्यत् काल मे भी कल्याणकारी है और मोक्ष का सरल—सीधा मार्ग है।

अहिंसा महाव्रत की प्रथम भावना : ईर्यासमिति

११३—तस्स इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स होंति –

पाणाइवायवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पढमं ठाण-गमण-गुणजोगजुंजणजुगंतरणिवाइयाए दिट्ठीए ईरियव्व कीड-पयंग-तस-थावर-दयावरेण णिच्चं पुप्फ-फल-तय-पवाल-कंद-मूल-दग-मट्टिय-बीय-हरिय-परिवज्जिएण सम्मं। एवं खलु सव्वपाणा ण हीलियव्वा, ण णिंदियव्वा, ण गरहियव्वा, ण हिंसियव्वा, ण छिंदियव्वा, ण भिंदियव्वा, ण वहेयव्वा, ण भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं, एवं ईरियासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

११३ पाँच महाव्रतो- सवरो मे से प्रथम महाव्रत की ये- -आगे कही जाने वाली—पाँच भावनाएँ प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए हैं।

खडे होने, ठहरने और गमन करने मे स्व-पर की पीडारहितता गुणयोग को जोडने वाली तथा गाडी के युग (जूवे) प्रमाण भूमि पर गिरने वाली दृष्टि से अर्थात् लगभग चार हाथ आगे की भूमि पर दृष्टि रख कर निरन्तर कीट, पतग, त्रस, स्थावर जीवो की दया में तत्पर होकर फूल, फल, छाल, प्रवाल—पत्ते—कोपल—कद, मूल, जल, मिट्टी, बीज एव हरितकाय- दूब आदि को (कुचलने से) बचाते हुए, सम्यक् प्रकार से -यतना के साथ चलना चाहिए। इस प्रकार चलने वाले साधु को निश्चय ही समस्त अर्थात् किसी भी प्राणी की हीलना—उपेक्षा नही करनी चाहिए, निन्दा नही करनी चाहिए, गर्हा नहीं करनी चाहिए। उनकी हिंसा नही करनी चाहिए, उनका छेदन नही करना चाहिए, भेदन नही करना चाहिए, उन्हे व्यथित नही करना चाहिए। इन पूर्वोक्त जीवो को लेश मात्र भी भय या दुःख नही पहुँचाना चाहिए। इस प्रकार (के आचरण) मे साधु ईर्यासमिति में मन, वचन, काय

की प्रवृत्ति से भावित होता है। तथा शबलता (मलीनता) से रहित, सक्लेश से रहित, ग्रक्षत—निरतिचार चारित्र की भावना ने युक्त, सयमशील एव ग्रहिसक सुसाधु कहलाता है- मोक्ष का साधक होता है।

द्वितीय भावना : मनःसमिति

११४—बिइयं च मणेण पावएणं पावग ग्रहम्मिय दारुणं णिस्संसं वह-बध-परिकिलेसबहुलं भय-मरण-परिकिलेससंकिलिट्ठं ण कयावि मणेण पावएणं पावग किंचि वि झायव्व। एव मणसमिइ-जोगेण भाविग्रो भवइ अतरप्पा ग्रसबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए ग्रहिसए संजए सुसाहू।

११४-- दूसरी भावना मन:समिति है। पापमय, ग्रधार्मिक—धर्मविरोधी, दारुण—भयानक, नृशस- निर्दयतापूर्ण, वध, बन्ध ग्रौर परिक्लेश की बहुलता वाले, भय, मृत्यु एव क्लेश से सक्लिष्ट—मलीन ऐसे पापयुक्त मन से लेशमात्र भी विचार नही करना चाहिए। इस प्रकार (के ग्राचरण) से--मन समिति की प्रवृत्ति से ग्रन्तरात्मा भावित—वासित होती है तथा निर्मल, सक्लेशरहित, ग्रखण्ड निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त, सयमशील एव ग्रहिंसक सुसाधु कहलाता है।

तृतीय भावना : वचनसमिति

११५- तइयं च वईए पावियाए पावग ण किंचि वि भासियव्वं। एव वइ-समिति-जोगेण भाविग्रो भवइ अतरप्पा ग्रसबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए ग्रहिंसए सजए सुसाहू।

११५- ग्रहिसा महाव्रत की तीसरी भावना वचनसमिति है। पापमय वाणी से तनिक भी पापयुक्त—सावद्य वचन का प्रयोग नही करना चाहिए। इस प्रकार की वाक्समिति (भाषासमिति) के योग से युक्त ग्रन्तरात्मा वाला निर्मल, सक्लेशरहित ग्रौर ग्रखण्ड चारित्र की भावना वाला ग्रहिसक साधु सुसाधु होता है---मोक्ष का साधक होता है।

चतुर्थ भावना : आहारैषणासमिति

११६—चउत्थं ग्राहारएसणाय सुद्ध उछ गवेसियव्वं ग्रण्णाए ग्रगढिए ग्रदुट्ठे ग्रदीणे ग्रकलुणे ग्रविसाई ग्रपरितंतजोगी जयण-घडण-करण-चरिय-विणय-गुण-जोग-संपग्रोगजुत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए जुत्ते समुदाणेऊण भिक्खचरियं उंछं घेत्तूण ग्रागग्रो गुरुजणस्स पासं गमणागमणाइयारे पडिक्कमण-पडिक्कंते ग्रालोयणदायणं य दाऊण गुरुजणस्स गुरुसंदिट्ठस्स वा जहोवएसं णिरइयार च ग्रप्पमत्तो पुणरवि ग्रणेसणाए पयग्रो पडिक्कमित्ता पसंते ग्रासीणसुहणिसण्णे मुहुत्तमित्तं च झाणसुहजोगणाण-सज्झायगोवियमणे धम्ममणे ग्रविमणे सुहमणे ग्रविग्गहमणे समाहियमणे सद्धासंवेगणिज्जरमणे पवयणवच्छलभावियमणे उट्ठिऊण य पहट्ठतुट्ठे जहारायणियं णिमंतइत्ता य साहवे भावग्रो य विइण्णे य गुरुजणेणं उपविट्ठे।

संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करयलं, ग्रमुच्छिए ग्रगिद्धे ग्रगढिए ग्रगरहिए ग्रणज्झोववण्णे ग्रणाइले ग्रलुद्धे ग्रणत्तट्ठिए ग्रसुरसुरं ग्रचवचवं ग्रदुयमविलंबियं ग्रपरिसाडियं ग्रालोयभायणे जयं पयत्तेण ववगय-संजोग-मणिगालं च विगयधूमं ग्रक्खोवंजणाणुलेवणभूयं संजमजायामायाणिमित्तं संजम-

भारवहणट्टयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्टयाए संजएण समियं एवं आहारसमिइजोगेणं भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ।

११६—आहार की एषणा से शुद्ध -एषणासम्बन्धी समस्त दोषो से रहित, मधुकरी वृत्ति से—अनेक घरों से भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। भिक्षा लेने वाला साधु अज्ञात रहे—अज्ञात सम्बन्ध वाला रहे, अगृद्ध—गृद्ध -आसक्ति से रहित हो, अदुष्ट—द्वेष से रहित हो, अर्थात् भिक्षा न देने वाले, अपर्याप्त भिक्षा देने वाले या नीरस भिक्षा देने वाले दाता पर द्वेष न करे। करुण—दयनीय—दयापात्र न बने। अलाभ की स्थिति मे विषाद न करे। मन-वचन-काय की सम्यक् प्रवृत्ति मे निरन्तर निरत रहे। प्राप्त सयमयोगो की रक्षा के लिए यतनाशील एव अप्राप्त सयमयोगो की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान्, विनय का आचरण करने वाला तथा क्षमा आदि गुणो की प्रवृत्ति से युक्त ऐसा भिक्षाचर्या मे तत्पर भिक्षु अनेक घरो मे भ्रमण करके थोडी-थोडी भिक्षा ग्रहण करे। भिक्षा ग्रहण करके अपने स्थान पर गुरुजन के समक्ष जाने-आने मे लगे हुए अतिचारो—दोषो का प्रतिक्रमण करे। गृहीत आहार-पानी की आलोचना करे, आहार-पानी उन्हे दिखला दे, फिर गुरुजन के अथवा गुरुजन द्वारा निर्दिष्ट किसी अग्रगण्य साधु के आदेश के अनुसार, सब अतिचारो—दोषो से रहित एव अप्रमत्त होकर विधिपूर्वक अनेषणाजनित दोषो की निवृत्ति के लिए पुन प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे। तत्पश्चात् शान्त भाव से सुखपूर्वक आसीन होकर, मुहूर्त्त भर धर्मध्यान, गुरु की सेवा आदि शुभ योग, तत्त्वचिन्तन अथवा स्वाध्याय के द्वारा अपने मन का गोपन करके—चित्त स्थिर करके श्रुत-चारित्ररूप धर्म मे सलग्न मन वाला होकर, चित्तशून्यता से रहित होकर, सक्लेश से मुक्त रह कर, कलह अथवा दुराग्रह से रहित मन वाला होकर, समाहितमना—समाधियुक्त मन वाला—अपने चित्त को उपशम मे स्थापित करने वाला, श्रद्धा, सवेग—मोक्ष की अभिलाषा और कर्मनिर्जरा मे चित्त को सलग्न करने वाला, प्रवचन मे वत्सलतामय मन वाला होकर साधु अपने आसन से उठे और हृष्ट-तुष्ट होकर यथारात्निक -दीक्षा मे छोटे-बडे के क्रमानुसार अन्य साधुओ को आहार के लिए निमन्त्रित करे। गुरुजनो द्वारा लाये हुए आहार को वितरण कर देने के बाद उचित आसन पर बैठे। फिर मस्तक सहित शरीर को तथा हथेली को भलीभाँति प्रमार्जित करके—पूंज करके आहार मे अनासक्त होकर, स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित होकर तथा रसो मे अनुराग-रहित होकर, दाता या भोजन की निन्दा नही करता हुआ, सरस वस्तुओ मे आसक्ति न रखता हुआ, अकलुषित भावपूर्वक, लोलुपता से रहित होकर, परमार्थ बुद्धि का धारक साधु (भोजन करते समय)'सुड्-सुड्' ध्वनि न करता हुआ, 'चप-चप' आवाज न करता हुआ, न बहुत जल्दी-जल्दी और न बहुत देर से, भोजन को भूमि पर न गिराता हुआ, चौडे प्रकाशयुक्त पात्र मे (भोजन करे।) यतना-पूर्वक, आदरपूर्वक एव सयोजनादि सम्बन्धी दोषो से रहित, अगार तथा धूम दोष से रहित, गाडी की धुरी मे तेल देने अथवा घाव पर मल्हम लगाने के समान, केवल सयमयात्रा के निर्वाह के लिए एव सयम के भार को वहन करने के लिए प्राणो को धारण करने के उद्देश्य से साधु को सम्यक् प्रकार से—यतना के साथ भोजन करना चाहिए।

इस प्रकार आहारसमिति (एषणासमिति) मे समीचीन रूप से प्रवृत्ति के योग से अन्तरात्मा भावित करने वाला साधु, निर्मल, सक्लेशरहित तथा अखण्डित चारित्र की भावना वाला अहिंसक सयमी होता है—मोक्षसाधक होता है।

पंचमी भावना : आदान-निक्षेपणसमिति

११७ -पंचमं आयाणणिक्खेवणसमिई—पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पत्त-कंबल-दंडग-रय-हरण-चोलपट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाई एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायातव-दंसमसग सीयपरि-रक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजमेणं णिच्चं पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणयाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं णिक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं एवं आयाणभंडणिक्खेवणासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ।

११७—अहिंसा महाव्रत की पांचवी भावना आदान-निक्षेपणसमिति है। इस का स्वरूप इस प्रकार है—सयम के उपकरण पीठ—पीढा, चौकी, फलक पाट, शय्या—सोने का आसन, सस्तारक—घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका, पादप्रोछन --पैर-पोछने का वस्त्रखण्ड, ये अथवा इनके अतिरिक्त उपकरण सयम की रक्षा या वृद्धि के उद्देश्य से तथा पवन, धूप, डास, मच्छर और शीत आदि से शरीर की रक्षा के लिए धारण-ग्रहण करना चाहिए। (शोभावृद्धि आदि किसी अन्य प्रयोजन से नही)। साधु सदैव इन उपकरणो के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन– झटकारने और प्रमार्जन करने मे, दिन मे और रात्रि मे सतत अप्रमत्त रहे और भाजन– पात्र, भाण्ड—मिट्टी के बरतन, उपधि—वस्त्र तथा अन्य उपकरणो को यतनापूर्वक रक्खे या उठाए।

इस प्रकार आदान-निक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा—अन्त करण वाला साधु निर्मल, असक्लिष्ट तथा अखण्ड- निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त अहिसक सयमशील सुसाधु होता है अथवा ऐसा सुसाधु ही अहिसक होता है।

विवेचन—उल्लिखित पचभावना सम्बन्धी पाठ मे अहिसा महाव्रत के परिपूर्ण पालन के लिए आवश्यक पांच भावनाओ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है और यह स्पष्ट किया है कि इन भावनाओ के अनुसार आचरण करने वाला ही पूर्ण अहिंसक हो सकता है. वही सुसाधु कहलाने योग्य है, वही चारित्र को निर्मल-निरतिचार रूप से पालन कर सकता है।

मूल पाठ मे साधु की भिक्षाचर्या का विशद वर्णन किया गया है। उसका आशय सरलता पूर्वक समझा जा सकता है, अतएव उसके लिए अधिक विवेचन की आवश्यकता नही। अहिसाव्रत की पाँच भावनाएँ पाँच समितियो के नाम से कही गई प्रसिद्ध है।

प्रथम भावना ईर्यासमिति है। साधु को अनेक प्रयोजनो से गमनागमन करना पडता है। किन्तु उसका गमनागमन विशिष्ट विधि के अनुसार होना चाहिए। गमन करते समय उसे अपने महाव्रत को ध्यान में रखना चाहिए और पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एव वनस्पतिकायिक स्थावर जीवो को तथा कीडा-मकोडा आदि छोटे-मोटे त्रस जीवो को किंचिन्मात्र भी आघात न लगे, उनकी विराधना न हो जाए, इस ओर सतत सावधान रहना चाहिए। ऐसी सावधानी रखने वाला साधु पर-विराधना से बच जाता है, साथ ही आत्मविराधना से भी बचता है। असावधानी से चलने वाला साधु आत्मविराधक भी हो सकता है। कण्टक, ककर आदि के चुभने से, गड्हे में गिर जाने से,

पाषाण या ठूंठ से टकरा जाने से चोट लग सकती है, गिर पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में आर्त्त-ध्यान उत्पन्न हो सकता है। उसका समाधिभाव नष्ट हो सकता है। यह आत्मविराधना है। अतएव स्व-परविराधना से बचने के लिए इधर-उधर दृष्टि न डालते हुए, वार्तालाप में चित्त न लगाते हुए गन्तव्य मार्ग पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। आगे की चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए एकाग्र भाव से चलना चाहिए।

दूसरी भावना मन.समिति है। अहिंसा भगवती की पूरी तरह आराधना करने के लिए मन के अप्रशस्त व्यापारों से निरन्तर बचते रहना चाहिए। मन आत्मा का सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त शक्ति-शाली साधन है। वह कर्मबन्ध का भी और कर्मनिर्जरा का भी प्रधान कारण है। उस पर नियन्त्रण रखने के लिए निरन्तर उसकी चौकसी रखनी पड़ती है। जरा-सी सावधानी हटी और वह कहीं का कहीं दौड जाता है। अत सावधान रहकर उसकी देख-भाल करते रहने की आवश्यकता है। किसी भी प्रकार का पापमय, अधार्मिक या अप्रशस्त विचार उत्पन्न न हो, इसके लिए सदा धर्ममय विचार मे सलग्न रखना चाहिए।

तीसरी वचन-भावना मे वाणी-प्रयोग सम्बन्धी विवेक को जगाए रखने की मुख्यता है। वध-बन्धकारी, क्लेशोत्पादक, पीडाजनक अथवा कठोर वचनों का प्रयोग नही करना चाहिए। साधु के लिए मौन सर्वोत्तम है किन्तु वचनप्रयोग आवश्यक होने पर हित-मित-पथ्य वचनों का ही प्रयोग करना चाहिए।

चौथी भावना आहार-एषणा है। आहार की प्राप्ति साधु को भिक्षा द्वारा ही होती है। अतएव जैनागमो मे भिक्षा सम्बन्धी विधि-निषेध बहुत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किए गए है। भिक्षा सम्बन्धी दोषो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आहार पकाने मे हिंसा अवश्यभावी है। किन्तु इस हिंसा से पूरी तरह बचाव भी हो और भिक्षा भी प्राप्त हो जाए, ऐसा मार्ग भगवान् ने बतलाया है। इसी प्रयोजन से आहार सम्बन्धी उद्गमदोष, उत्पादनादोष आदि का निरूपण किया गया है। उन सब दोषो से रहित भिक्षा ग्रहण करना मुख्यत परविराधना से बचने के लिए आवश्यक है।

साधु को कभी सरस या नीरस आहार भी मिलता है। कदाचित् अनेक घरो मे भ्रमण करने पर भी आहार का लाभ नही होता। ऐसे प्रसगो मे मन मे रागभाव अथवा द्वेषभाव का उदय हो सकता है। दीनता की भावना भी आ सकती है। मूलपाठ मे स्पष्ट किया गया है कि भिक्षा के लाभ, अलाभ अथवा अल्पलाभ आदि का प्रसग उपस्थित होने पर साधु को अपना समभाव कायम रखना चाहिए।

'हम परान्नजीवी है, दूसरो के दिये आहार पर हमारी जीविका निर्भर है' इस प्रकार के विचार को निकट भी नही फटकने देना चाहिए। दीनता-हीनता का यह भाव साधु का तेजोवध करता है और तेजोविहीन साधु प्रवचन की प्रभावना नही कर सकता, श्रोताओ को प्रभावित नही कर सकता। जिस प्रकार गृहस्थो से भिक्षा ग्रहण करके साधु उपकृत होता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी भिक्षा देकर उपकृत होता है। वह सुपात्रदान के महान् इहलोक और परलोक सबधी सुफल से अनुगृहीत होता है। वह उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करता है। शालिभद्र और सुबाहुकुमार जैसे पुण्यशाली महापुरुषो ने सुपात्रदान के फलस्वरूप ही लौकिक एव लोकोत्तर ऋद्धि–विभूति प्राप्त की थी। अतएव साधु, गृहस्थो से भिक्षा लेकर उनका भी महान् उपकार करता है। ऐसी स्थिति मे साधु

के मन में दीनता या हीनता का विचार नही आना चाहिए। यह तथ्य प्रकट करने के लिए मूलपाठ मे **'अदीणो'** पद का प्रयोग किया गया है।

पांचवीं भावना आदान-निक्षेपणसमिति है। साधु अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते, किन्तु **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** उक्ति के अनुसार सयम-साधना का निमित्त मान कर उसकी रक्षा के लिए अनेक उपकरणो को स्वीकार करते हैं। इन उपकरणो को उठाते समय एव रखते समय यतना रखनी चाहिए। यथासमय यथाविधि उनका प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन भी अप्रमत्त रूप से करते रहना चाहिए।

इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की इन भावनाओ के यथावत् परिपालन से व्रत निर्मल, निरतिचार बनता है। निरतिचार व्रत का पालक साधु ही सुसाधु है, वही मोक्ष की साधना मे सफलता प्राप्त करता है।

११८—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं मण-वयण-कायपरिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

११८—इस प्रकार मन, वचन और काय से सुरक्षित इन पाँच भावना रूप उपायो से यह अहिंसा-सवरद्वार पालित-सुप्रणिहित होता है। अतएव धैर्यशाली और मतिमान् पुरुष को सदा जीवनपर्यन्त सम्यक् प्रकार से इसका पालन करना चाहिए। यह अनास्रव है, अर्थात् नवीन कर्मों के आस्रव को रोकने वाला है, दीनता से रहित, कलुष-मलीनता से रहित और अच्छिद्र-अनास्रवरूप है, अपरिस्रावी —कर्मरूपी जल के आगमन को अवरुद्ध करने वाला है, मानसिक सक्लेश से रहित है, शुद्ध है और सभी तीर्थंकरो द्वारा अनुज्ञात-अभिमत है।

विवेचन—हिसा आस्रव का कारण है तो उसकी विरोधी अहिसा आस्रव को रोकने वाली हो, यह स्वाभाविक ही है।

अहिसा के पालन मे दो गुणो की अपेक्षा रहती है—धैर्य की और मति —विवेक की। विवेक के अभाव मे अहिसा के वास्तविक आशय को समझा नही जा सकता और वास्तविक आशय को समझे विना उसका आचरण नही किया जा सकता है। विवेक विद्यमान हो और अहिसा के स्वरूप को वास्तविक रूप मे समझ भी लिया जाए, मगर साधक मे यदि धैर्य न हो तो भी उसका पालन होना कठिन है। अहिसा के उपासक को व्यवहार में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, सकट भी झेलने पडते हैं, ऐसे प्रसगो पर धीरज ही उसे अपने व्रत मे अडिग रख सकता है। अतएव पाठ मे **'धिइमया मइमया'** इन दो पदो का प्रयोग किया गया है।

११९—एवं पढमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवइ। एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं।

॥ पढमं संवरदारं समत्तं। त्तिबेमि ॥

१११—पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम सवरद्वार स्पृष्ट होता है, पालित होता है, शोधित होता है, तीर्ण—पूर्ण रूप से पालित होता है, कीर्त्तित, आराधित और (जिनेन्द्र भगवान् की) आज्ञा के अनुसार पालित होता है। ऐसा भगवान् ज्ञातमुनि—महावीर ने प्रज्ञापित किया है एव प्ररूपित किया है। यह सिद्धवरशासन प्रसिद्ध है, सिद्ध है, बहुमूल्य है, सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट है और प्रशस्त है।

विवेचन—यहाँ प्रथम अहिंसा-सवरद्वार का उपसहार किया गया है। इस संवरद्वार मे जो-जो कथन किया गया है, उसी प्रकार से इसका समग्र रूप मे परिपालन किया जाता है। पाठ मे आए कतिपय विशिष्ट पदों का स्पष्टीकरण इस भाँति है—

फासिय—यथासमय विधिपूर्वक स्वीकार किया गया।

पालित—निरन्तर उपयोग के साथ आचरण किया गया।

सोहिय—इस पद के सस्कृत रूप दो होते है—शोभित और शोधित। व्रत के योग्य दूसरे पात्रो को दिया गया शोभित कहलाता है और अतिचार-रहित पालन करने से शोधित कहा जाता है।

तीरिय—किनारे तक पहुँचाया हुआ।

किट्टिय—दूसरो को उपदिष्ट किया हुआ।

आराहिय—पूर्वोक्त रूप से सम्पूर्णता को प्राप्त।[1]

॥ प्रथम संवरद्वार समाप्त ॥

१—अभयदेवटीका. पृ. ११३.

द्वितीय अध्ययन : सत्य

प्रथम संवरद्वार अहिंसा के विशद विवेचन के अनन्तर द्वितीय संवरद्वार सत्य का निरूपण किया जा रहा है। अहिंसा की समीचीन एवं परिपूर्ण साधना के लिए असत्य से विरत होकर सत्य की समाराधना आवश्यक है। सत्य की समाराधना के बिना अहिंसा की आराधना नहीं हो सकती। वस्तुतः सत्य अहिंसा को पूर्णता प्रदान करता है। वह अहिंसा को अलंकृत करता है। अतएव अहिंसा के पश्चात् सत्य का निरूपण किया जाता है।

सत्य की महिमा

१२०—जंबू ! बिइयं य सच्चावयणं सुद्धं सुचियं सिवं सुजायं सुभासियं सुव्वयं सुकहियं सुदिट्ठं सुपइट्ठियं सुपइट्ठियजसं सुसंजमिय-वयण-बुइयं सुरवर-णरवसभ-पवरबलवग-सुविहियजणबहुमयं, परमसाहुधम्मचरणं, तव-णियमपरिग्गहियं सुगइपहदेसगं य लोगुत्तमं वयमिणं।

विज्जाहरगगणगमणविज्जाण साहकं सग्गमग्ग-सिद्धिपहदेसगं अवितहं, तं सच्चं उज्जुयं अकुडिलं भूयत्थं अत्थओ विसुद्धं उज्जोयकरं पभासगं भवइ सव्वभावाण जीवलोए, अविसंवाइ जहत्थमहुरं।

पच्चक्खं दयिवयं व जं तं अच्छेरकारगं अवत्थतरेसु बहुएसु मणुसाणं सच्चेण महासमुद्दमज्झे वि मूढाणिया वि पोया। सच्चेण य उदगसंभमम्मि वि ण वुज्झइ ण य मरंति थाहं ते लहंति।

सच्चेण य अगणिसंभमम्मि वि ण डज्झंति उज्जुगा मणुस्सा।

सच्चेण य तत्ततेल्ल-तउलोहसीसगाइं छिवंति धरेंति ण य डज्झंति मणुस्सा।

पव्वयकडकाहिं मुच्चंते ण य मरंति।

सच्चेण य परिग्गहिया, असिपंजरगया समराओ णिइंति अणहा य सच्चवाई।

वहबंधभियोगवेर-घोरेहिं पमुच्चंति य अमित्तमज्झाहिं णिइंति अणहा य सच्चवाई। सादेव्वाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रत्ताणं।

तं सच्चं भगवं तित्थयरसुभासियं दसविहं, चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविइयं, महरिसीण य समयप्पइण्णं, देविंदणरिंदभासियत्थं, वेमाणियसाहियं, महत्थं, मंतोसहिविज्जासाहणत्थं, चारणगण-समणसिद्धविज्जं, मणुयगणाणं वंदणिज्जं, अमरगणाणं अच्चणिज्जं, असुरगणाण य पूयणिज्जं, अणेग, पासंडिपरिग्गहियं जं तं लोगम्मि सारभूयं, गंभीरयरं महासमुद्दाओ, थिरयरगं मेरुपव्वयाओ, सोमयरगं चंदमंडलाओ, दित्तयरं सूरमंडलाओ, विमलयरं सरयणहयलाओ, सुरभियरं गंधमादणाओ, जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा मंतजोगा जवा य विज्जा य जंभगा य अत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाइं पि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।

सदोष सत्य का त्याग

सच्चं वि य संजमस्स उवरोहकारगं किंचि ण वत्तव्वं, हिंसासावज्जसंपउत्तं भेयविकहकारगं अणत्थवायकलहकारगं अणज्ज अववाय-विवायसंपउत्तं वेलंबं ओजधेज्जबहुलं णिल्लज्जं लोयगरहणिज्जं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं, अप्पणो थवणा परेसु णिंदा; ण तंसि मेहावी, ण तंसि धण्णो, ण तंसि पियधम्मो, ण तंसि कुलीणो, ण तंसि दाणवई, ण तंसि सूरो, ण तंसि पडिरूवो, ण तंसि लट्ठो, ण पंडिओ, ण बहुस्सुओ, ण वि य तंसि तवस्सी, ण यावि परलोयणिच्छयमई असि, सव्वकालं जाइ-कुल-रूव-वाहि-रोगेण वावि जं होई वज्जणिज्जं दुहओ उवयारमइक्कंतं एवं विहं सच्चं वि ण वत्तव्वं ।

बोलने योग्य वचन

अह केरिसगं पुणाई सच्चं तु भासियव्वं ?

जं तं दव्वेहिं पज्जवेहि य गुणेहि कम्मेहिं बहुविहेहिं सिप्पेहिं आगमेहि य णामक्खायणिवाय-उवसग्ग-तद्धिय-समास-संधि-पद-हेउ-जोगिय-उणाइ-किरियाविहाणधाउ-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं पि सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ । दुवालसविहा होइ भासा, वयणं वि य होइ सोलसविह । एवं अरहंतमणुण्णाय समिक्खियं संजएण कालम्मि य वत्तव्वं ।

१२०—श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा - हे जम्बू ! द्वितीय सवर सत्यवचन है। सत्य शुद्ध—निर्दोष, शुचि--पवित्र, शिव--समस्त प्रकार के उपद्रवो से रहित, सुजात-प्रशस्त-विचारो से उत्पन्न होने के कारण सुभाषित समीचीन रूप से भाषित—कथित होता है। यह उत्तम व्रतरूप है और सम्यक् विचारपूर्वक कहा गया है। इसे ज्ञानी जनो ने कल्याण के समाधान के रूप मे देखा है, अर्थात् ज्ञानियो की दृष्टि मे सत्य कल्याण का कारण है। यह सुप्रतिष्ठित है—सुस्थिर कीर्ति वाला है, समीचीन रूप मे सयमयुक्त वाणी से कहा गया है। सत्य सुरवरो--उत्तम कोटि के देवो, नरवृषभो—श्रेष्ठ मानवो, अतिशय बलधारियो एव सुविहित जनो द्वारा बहुमत—अतीव मान्य किया गया है। श्रेष्ठ—नैष्ठिक मुनियो का धार्मिक अनुष्ठान है। तप एव नियम से स्वीकृत किया गया है। सद्गति के पथ का प्रदर्शक है और यह सत्यव्रत लोक मे उत्तम है।

सत्य विद्याधरो की आकाशगामिनी विद्याओ को सिद्ध करने वाला है। स्वर्ग के मार्ग का तथा मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शक है। यथातथ्य अर्थात् मिथ्याभाव से रहित है, ऋजुक—सरल भाव से युक्त है, कुटिलता से रहित है। प्रयोजनवश यथार्थ पदार्थ का ही प्रतिपादक है, सर्व प्रकार से शुद्ध है—असत्य या अर्द्धसत्य की मिलावट से रहित है, अर्थात् असत्य का सम्मिश्रण जिसमे नही होता वही विशुद्ध सत्य कहलाता है अथवा निर्दोष होता है। इस जीवलोक मे समस्त पदार्थों का विसवाद-रहित—यथार्थ प्ररूपक है। यह यथार्थ होने के कारण मधुर है और मनुष्यो का बहुत-सी विभिन्न प्रकार की अवस्थाओ मे आश्चर्यजनक कार्य करने वाले देवता के समान है, अर्थात् मनुष्यो पर आ पड़े घोर सकट की स्थिति मे वह देवता की तरह सहायक बन कर सकट से उबारने वाला है।

किसी महासमुद्र मे, जिस मे बैठे सैनिक मूढधी हो गए हो, दिशाभ्रम से ग्रस्त हो जाने के कारण जिनकी बुद्धि काम न कर रही हो, उनके जहाज भी सत्य के प्रभाव मे ठहर जाते हैं, डूबते

नही हैं। सत्य का ऐसा प्रभाव है कि भवरो से युक्त जल के प्रवाह मे भी मनुष्य बहते नही हैं, मरते नही हैं, किन्तु थाह पा लेते हैं।

सत्य के प्रभाव से जलती हुई अग्नि के भयकर घेरे मे पड़े हुए मानव जलते नही है।

सत्यनिष्ठ सरलहृदय वाले सत्य के प्रभाव से तपे– उबलते हुए तेल, रागे, लोहे और सीसे को छू लेते हैं, हथेली पर रख लेते हैं, फिर भी जलते नही हैं।

मनुष्य पर्वत के शिखर से गिरा दिये जाते हैं—नीचे फेंक दिये जाते हैं, फिर भी (सत्य के प्रभाव से) मरते नही हैं।

सत्य के (सुरक्षा-कवच को) धारण करने वाले मनुष्य चारो ओर से तलवारो के घेरे मे—तलवार-धारको के पीजरे मे पडे हुए भी अक्षत-शरीर सग्राम से (सकुशल) बाहर निकल आते हैं।

सत्यवादी मानव वध, बन्धन सबल प्रहार और घोर वैर-विरोधियो के बीच मे से मुक्त हो जाते हैं—बच निकलते है।

सत्यवादी शत्रुओ के घेरे मे से विना किसी क्षति के सकुशल बाहर आ जाते है।

सत्य वचन मे अनुरागी जनो का देवता भी सान्निध्य करते हैं—उसके साथ रह कर उनकी सेवा-सहायता करते है।

तीर्थंकरो द्वारा भाषित सत्य भगवान् दस प्रकार का है। इसे चौदह पूर्वो के ज्ञाता महामुनियो ने प्राभृतो (पूर्वगत विभागो) से जाना है एव महर्षियो को सिद्धान्त रूप मे दिया गया है– साधुओ के द्वितीय महाव्रत मे सिद्धान्त द्वारा स्वीकार किया गया है। देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने इसका अर्थ कहा है अथवा देवेन्द्रो एव नरेन्द्रो को इसका अर्थ तत्त्वरूप से कहा गया है। यह सत्य वैमानिक देवों द्वारा समर्थित एव आसेवित है। महान् प्रयोजन वाला है। यह मत्र औषधि और विद्याओ की सिद्धि का कारण है—सत्य के प्रभाव से मत्र और विद्याओ की सिद्धि होती है। यह चारण (विद्याचारण, जघाचारण) आदि मुनिगणो की विद्याओ को सिद्ध करने वाला है। मानवगणो द्वारा वदनीय है—स्तवनीय है, अर्थात् स्वय सत्य तथा सत्यनिष्ठ पुरुष मनुष्यो की प्रशसा-स्तुति का पात्र बनता है। इतना ही नही, सत्यसेवी मनुष्य अमरगणो– देवसमूहो के लिए भी अर्चनीय तथा असुरकुमार आदि भवनपति देवो द्वारा भी पूजनीय होता है। अनेक प्रकार के पाषडी-व्रतधारी इसे धारण करते हैं।

इस प्रकार की महिमा से मण्डित यह सत्य लोक में सारभूत है। महासागर से भी गम्भीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर-अटल है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य—आह्लादक है। सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्ति से देदीप्यमान है। शरत्-काल के आकाश तल से भी अधिक विमल है। गन्धमादन (गजदन्त गिरिविशेष) से भी अधिक सुरभिसम्पन्न है।

लोक मे जो भी समस्त मत्र हैं, वशीकरण आदि योग हैं, जप हैं, प्रज्ञप्ति प्रभृति विद्याएँ हैं, दस प्रकार के जृंभक देव हैं, धनुष आदि अस्त्र हैं, जो भी सत्य—तलवार आदि शस्त्र अथवा शास्त्र है, कलाएँ हैं, आगम हैं, वे सभी सत्य में प्रतिष्ठित हैं—सत्य के ही आश्रित हैं।

किन्तु जो सत्य सयम मे बाधक हो—रुकावट पैदा करता हो, वैसा सत्य तनिक भी नही

बोलना चाहिए (क्योंकि जो वचन तथ्य होते हुए भी हितकर नही, प्रशस्त नही, हिंसकारी है, वह सत्य मे परिगणित नही होता)। जो वचन (तथ्य होते हुए भी) हिंसा रूप पाप से अथवा हिंसा एव पाप से युक्त हो, जो भेद—फूट उत्पन्न करने वाला हो, जो विकथाकारक हो—स्त्री आदि से सम्बन्धित चारित्रनाशक या अन्य प्रकार से अनर्थ का हेतु हो, जो निरर्थक वाद या कलहकारक हो अर्थात् जो वचन निरर्थक वाद-विवाद रूप हो और जिसमे कलह उत्पन्न हो, जो वचन अनार्य हो—अनाडी लोगो के योग्य हो—आर्य पुरुषो के बोलने योग्य न हो अथवा अन्याययुक्त हो, जो अन्य के दोषों को प्रकाशित करने वाला हो, विवादयुक्त हो, दूसरो की विडम्बना—फजीहत करने वाला हो, जो विवेकशून्य जोश और धृष्टता से परिपूर्ण हो, जो निर्लज्जता से भरा हो, जो लोक—जनसाधारण या सत्पुरुषो द्वारा निन्दनीय हो, ऐसा वचन नही बोलना चाहिए।

जो घटना भलीभाँति स्वय न देखी हो, जो बात सम्यक् प्रकार से सुनी न हो, जिसे ठीक तरह—यथार्थ रूप मे जान नही लिया हो, उसे या उसके विषय मे बोलना नही चाहिए।

इसी प्रकार अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा भी (नही करनी चाहिए), यथा—तू बुद्धिमान् नही है—बुद्धिहीन है, तू धन्य—धनवान् नही— दरिद्र है, तू धर्मप्रिय नही है, तू कुलीन नही है, तू दानपति —दानेश्वरी नही है, तू शूरवीर नही है, तू सुन्दर नही है, तू भाग्यवान् नही है, तू पण्डित नही है, तू बहुश्रुत—अनेक शास्त्रों का ज्ञाता नही है, तू तपस्वी भी नही है, तुझमे परलोक सबधो निश्चय करने की बुद्धि भी नही है, आदि। अथवा जो वचन सदा-सर्वदा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप (सौन्दर्य), व्याधि (कोढ आदि बीमारी), रोग (ज्वरादि) से सम्बन्धित हो, जो पीडाकारी या निन्दनीय होने के कारण वर्जनीय हो—न बोलने योग्य हो, अथवा जो वचन द्रोह-कारक अथवा द्रव्य-भाव से आदर एव उपचार से रहित हो—शिष्टाचार के अनुकूल न हो अथवा उपकार का उल्लघन करने वाला हो, इस प्रकार का तथ्य—सद्भूतार्थ वचन भी नही बोलना चाहिए।

(यदि पूर्वोक्त प्रकार के तथ्य—वास्तविक वचन भी बोलने योग्य नही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि) फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए ?

प्रश्न का उत्तर यह है—जो वचन द्रव्यो—त्रिकालवर्त्ती पुद्गलादि द्रव्यो से, पर्यायों से—नवीनता, पुरातनता आदि क्रमवर्त्ती अवस्थाओ से तथा गुणो से अर्थात् सहभावी वर्ण आदि विशेषो से युक्त हो अर्थात् द्रव्यो, पर्यायो या गुणो के प्रतिपादक हो तथा कृषि आदि कर्मों से अथवा धरने-उठाने आदि क्रियाओ से, अनेक प्रकार की चित्रकला, वास्तुकला आदि शिल्पो से और आगमों अर्थात् सिद्धान्तसम्मत अर्थों से युक्त हो और जो नाम देवदत्त आदि सज्ञापद, आख्यात—त्रिकाल सम्बन्धी 'भवति' आदि क्रियापद, निपात—'वा, च' आदि अव्यय, प्र, परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद—जिनके अन्त मे तद्धित प्रत्यय लगा हो, जैसे 'नाभेय' आदि पद, समास—अनेक पदो को मिला कर एक पद बना देना, जैसे 'राजपुरुष' आदि, सन्धि—समीपता के कारण अनेक पदो का जोड़, जैसे विद्या+आलय= विद्यालय आदि, हेतु—अनुमान का वह अग जिससे साध्य को जाना जाए, जैसे धूम से अग्नि का किसी विशिष्ट स्थल पर अस्तित्व जाना जाता है, यौगिक—दो आदि के सयोग वाला पद अथवा जिस पद के अवयवार्थ से समुदायार्थ जाना जाए, जैसे 'उपकरोति' आदि, उणादि—उणादिगण के प्रत्यय जिन पदो के अन्त मे हों, जैसे 'साधु' आदि, क्रियाविधान—क्रिया को सूचित करने वाला

पद, जैसे 'पाचक' (पकाने की क्रिया करने वाला), धातु—क्रियावाचक 'भू—हो' आदि, स्वर—'अ, आ' इत्यादि अथवा सगीतशास्त्र सम्बन्धी षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि सात स्वर, विभक्ति– प्रथमा आदि, वर्ण—'क, ख' आदि व्यजनयुक्त अक्षर, इन से युक्त हो (ऐसा वचन बोलना चाहिए।)

त्रिकालविषयक सत्य दस प्रकार का होता है। जैसा मुख से कहा जाता है, उसी प्रकार कर्म से अर्थात् लेखन क्रिया से तथा हाथ, पैर, आँख आदि की चेष्टा से, मुँह बनाना आदि आकृति से अथवा जैसा कहा जाए वैसी ही क्रिया करके बतलाने से अर्थात् कथन के अनुसार अमल करने से सत्य होता है।

बारह प्रकार की भाषा होती है। वचन सोलह प्रकार का होता है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट तथा सम्यक् प्रकार से विचारित सत्य-वचन यथावसर पर ही साधु को बोलना चाहिए।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे सत्य की महिमा का विस्तारपूर्वक एव प्रभावशाली शब्दो मे वर्णन किया गया है, जो वचन सत्य—तथ्य होने पर भी किसी को पीडा उत्पन्न करने वाला अथवा अनर्थकारी होने से सदोष हो, वैसा वचन भी बोलने योग्य नही है। यह कथन अनेक उदाहरणो सहित प्रतिपादित किया गया है तथा किस प्रकार का सत्य भाषण करने योग्य है, इसका भी उल्लेख किया गया है। सत्य भाषा और वचन के भेद भी बतलाए गए है।

इस सम्पूर्ण कथन से साधक के समक्ष सत्य का सुस्पष्ट चित्र उभर आता है। सत्य की महिमा का प्रतिपादन करने वाला अश सरल—सुबोध है। उस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नही है। तथापि सक्षेप मे वह महिमा इस प्रकार है—

सत्य की महिमा—सत्य सभी के लिए हितकर है, व्रतरूप है, सर्वज्ञो द्वारा दृष्ट और परीक्षित है, अतएव उसके विषय मे किंचित् भी शका के लिए स्थान नही है। उत्तम देवो तथा चक्रवर्त्ती आदि उत्तम मनुष्यो, सत्पुरुषो और महापुरुषो द्वारा स्वीकृत है। सत्यसेवी ही सच्चा तपस्वी और नियम-निष्ठ हो सकता है। वह स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग है। यथार्थता - वास्तविकता के ही साथ उसका सम्बन्ध है। जब मनुष्य घोर सकट मे पड जाता है तब सत्य देवता की तरह उसकी रक्षा करता है। सत्य के लोकोत्तर प्रभाव से महासागर मे पडा प्राणी सकुशल किनारा पा लेता है। सत्य चारो ओर भयकर धू-धू करती आग की लपटो से बचाने मे समर्थ है -सत्यनिष्ठ को आग जला नही सकती। उबलता हुआ लोहा, रागा आदि सरलात्मा सत्यसेवी की हथेली पर रख दिया जाए तो उसका बाल बाका नही होता। उसे ऊँचे गिरिशिखर से पटक दिया जाए तो भी वह सुरक्षित रहता है। विकराल सग्राम मे, तलवारो के घेरे से वह सकुशल बाहर आ जाता है। अभिप्राय यह है कि सत्य की समग्र-भाव से आराधना करने वाले भीषण से भीषण विपत्ति मे आश्चर्यजनक रूप से सहज ही छुटकारा पा जाते हैं।

सत्य के प्रभाव से विद्याएँ और मत्र सिद्ध होते है। श्रमणगण, चारणगण, सुर और असुर—सभी के लिए वह अर्चनीय है, पूजनीय है, आराधनीय है। सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है, क्योंकि वह सर्वथा क्षोभरहित है। अटलता के लिहाज से वह मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। आह्लादजनक और सन्तापहारक होने से चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य से भी अधिक

प्रकाशमान है,क्योंकि वह मूर्त्त-अमूर्त्त आदि समस्त पदार्थों को अविकल रूप से प्रकाशित करता है। शरत्कालीन व्योम से भी अधिक निर्मल है, क्योकि वह कालुष्यरहित है और गन्धमादन पर्वतों से भी अधिक सौरभमय है।

ऐसा सत्य भी वर्जनीय

जो वचन तथ्य—वास्तविक होने पर भी किसी प्रकार अनर्थकर या हानिकर हो, वह वर्जनीय है। यथा—

१ जो सयम का विघातक हो।
२ जिसमे हिंसा या पाप का मिश्रण हो।
३ जो फूट डालने वाला, वृथा बकवास हो, आर्यजनोचित न हो।
४. अन्याय का पोषक हो, मिथ्यादोषारोपणरूप हो।
५. जो विवाद या विडम्बनाजनक हो, धृष्टतापूर्ण हो।
६ जो लोकनिन्दनीय हो।
७ जो भलिभाति देखा, सुना या जाना हुआ न हो।
८. जो आत्मप्रशसा और परनिन्दारूप हो।
९ जो द्रोहयुक्त, द्विधापूर्ण हो।
१० जिससे शिष्टाचार का उल्लघन होता हो।
११ जिससे किसी को पीडा उत्पन्न हो।

ऐसे और इसी कोटि के अन्य वचन तथ्य होने पर भी बोलने योग्य नही है।

सत्य के दस प्रकार

मूल पाठ मे निर्दिष्ट दस प्रकार के सत्य का स्वरूप इस प्रकार है—

जणवय-सम्मय-ठवणा नामे-रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार-भाव-जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य॥[1]

१. जनपदसत्य जिस देश-प्रदेश मे जिस वस्तु के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता हो, वहाँ उस वस्तु के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे माता को 'आई' कहना, नाई को 'राजा' कहना।

२. सम्मतसत्य--बहुत लोगो ने जिस शब्द को जिस वस्तु का वाचक मान लिया हो, जैसे 'देवी' शब्द पटरानी का वाचक मान लिया गया है। अत. पटरानी को 'देवी' कहना सम्मतसत्य है।

३. स्थापनासत्य—जिनकी मूर्ति हो उसे उसी के नाम से कहना, जैसे—इन्द्रमूर्ति को इन्द्र कहना या शतरज की गोटो को हाथी, घोड़ा आदि कहना।

४. नामसत्य—जिसका जो नाम हो उसे गुण न होने पर भी उस शब्द से कहना, जैसे कुल की वृद्धि न करने वाले को भी 'कुलवर्द्धन' कहना।

५. रूपसत्य—साधु के गुण न होने पर भी वेषमात्र से असाधु को साधु कहना।

---

१. दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति

६. प्रतीत्यसत्य—अपेक्षाविशेष से कोई वचन बोलना जैसे दूसरी उगली की अपेक्षा मे किसा उगली को छोटी या बड़ी कहना, द्रव्य की अपेक्षा सब पदार्थों को नित्य कहना या पर्याय की अपेक्षा से सब को क्षणिक कहना।

७. व्यवहारसत्य—जो वचन लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्य हो, जैसे—रास्ता तो कहीं जाता नही, किन्तु कहा जाता है कि यह रास्ता अमुक नगर को जाता है, गाँव आ गया आदि।

८. भावसत्य—अनेक गुणो की विद्यमानता होने पर भी किसी प्रधान गुण की विवक्षा करके कहना, जैसे तोते मे लाल वर्ण होने पर भी उसे हरा कहना।

९. योगसत्य—सयोग के कारण किसी वस्तु को किसी शब्द से कहना, जैसे—दण्ड धारण करने के कारण किसी को दण्डी कहना।

१०. उपमासत्य—समानता के आधार पर किसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे—मुख,चन्द्र आदि।

भाषा के बारह प्रकार

आगामो मे भाषा के विविध दृष्टियो से अनेक भेद-प्रभेद प्रतिपादित किए गए हैं। उन्हे विस्तार से समझने के लिए दशवैकालिक तथा प्रज्ञापनासूत्र का भाषापद देखना चाहिए। प्रस्तुत पाठ मे बारह प्रकार की भाषाएँ बतलाई गई हैं, वे तत्काल मे प्रचलित भाषाएँ है, जिनके नाम ये है-- (१) प्राकृत (२) सस्कृत (३) मागधी (४) पैशाची (५) शौरसेनी और (६) अपभ्रंश। ये छह गद्यमय और छह पद्यमय होने से बारह प्रकार की है।

सोलह प्रकार के वचन

टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने सोलह प्रकार के वचन निम्नलिखित गाथा उद्धृत करके गिनाए हैं—

> वयणतिय लिगतिय कालतिय तह परोक्ख पच्चक्ख।
> उवणीयाइ चउक्क अज्झत्थ चेव सोलसम॥

अर्थात् वचनत्रिक, लिगत्रिक, कालत्रिक, परोक्ष, प्रत्यक्ष, उपनीत आदि चतुष्क और सोलहवाँ अध्यात्मवचन, ये सब मिलकर सोलह वचन है।

वचनत्रिक—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।

लिंगत्रिक—स्त्रीलिग, पु लिंग, नपु सकलिग।

कालत्रिक—भूतकाल, वर्त्तमानकाल, भविस्यत्काल।

प्रत्यक्षवचन—यथा यह पुरुष है।

परोक्षवचन—यथा वह मुनिराज।

उपनीतादिचतुष्क—(१) उपनीतवचन अर्थात् प्रशसा का प्रतिपादक वचन, जैसे यह रूपवान् है। (२) अपनीत वचन—दोष प्रकट करने वाला वचन, जैसे यह दुराचारी है। (३)उपनीतापनीत—प्रशसा के साथ निन्दावाचक वचन, जैसे यह रूपवान् है किन्तु दुराचारी है।(४) अपनीतोपनीत-वचन—निन्दा के साथ प्रशसा प्रकट करने वाला वचन, जैसे यह दुराचारी है किन्तु रूपवान् है।

अध्यात्मवचन—जिस अभिप्राय को कोई छिपाना चाहता है, फिर भी अकस्मात् उस अभिप्राय को प्रकट कर देने वाला वचन।

इस दस प्रकार के सत्य का, बारह प्रकार की भाषा का और सोलह प्रकार के वचनो का सयमी पुरुष को तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार, अवसर के अनुकूल प्रयोग करना चाहिए। जिससे किसी को पीड़ा उत्पन्न न हो— जो हिंसा का कारण न बने।

सत्यमहाव्रत का सुफल

१२१—इमं च अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं।

१२१—अलीक—असत्य, पिशुन—चुगली, परुष—कठोर, कटु—कटुक और चपल—चचलतायुक्त वचनो से (जो असत्य के रूप हैं) बचाव के लिए तीर्थंकर भगवान् ने यह प्रवचन समीचीन रूप से प्रतिपादित किया है। यह भगवत्प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर मे शुभ भावना से युक्त है, भविष्य मे श्रेयस्कर है, शुद्ध—निर्दोष है, न्यायसगत है, मुक्ति का सीधा मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है तथा समस्त दु खो और पापो को पूरी तरह उपशान्त—नष्ट करने वाला है।

सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावनाः अनुवीचिभाषण

१२२—तस्स इमा पंच भावणाओ बिइयस्स वयस्स अलियवयणस्स वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

पढमं—सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं सुट्ठु जाणिऊणं ण वेगियं ण तुरियं ण चवलं ण कडुयं ण फरुसं ण साहसं ण य परस्स पीडाकरं सावज्जं, सच्चं च हियं च मियं च गाहगं च सुद्धं संगयमकाहलं च समिक्खियं संजएण कालम्मि य वत्तव्वं।

एवं अणुवीइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपुण्णो।

१२२—दूसरे व्रत अर्थात् सत्यमहाव्रत की ये—आगे कही जा रही पाँच भावनाएँ है, जो असत्य वचन के विरमण की रक्षा के लिए हैं अर्थात् इन पाँच भावनाओ का विचारपूर्वक पालन करने से असत्य-विरमणरूप सत्य महाव्रत की पूरी तरह रक्षा होती है। इन पाँच भावनाओ मे प्रथम अनुवीचिभाषण है। सद्गुरु के निकट सत्यव्रत रूप सवर के अर्थ—आशय को सुन कर एव उसके शुद्ध परमार्थ—रहस्य को सम्यक् प्रकार से जानकर जल्दी-जल्दी—सोच-विचार किए विना नही बोलना चाहिए, अर्थात् कटुक वचन नही बोलना चाहिए, शब्द से कठोर वचन नही बोलना चाहिए, चपलतापूर्वक नही बोलना चाहिए, विचारे विना सहसा नही बोलना चाहिए, पर को पीडा पैदा करने वाला एव सावद्य—पापयुक्त वचन भी नही बोलना चाहिए। किन्तु सत्य, हितकारी, परिमित, ग्राहक—विवक्षित अर्थ का बोध कराने वाला, शुद्ध—निर्दोष, सगत—युक्तियुक्त एव पूर्वापर-अविरोधी,

स्पष्ट तथा पहले बुद्धि द्वारा सम्यक् प्रकार से विचारित ही साधु को अवसर के अनुसार बोलना चाहिए ।।

इस प्रकार अनुवीचिसमिति के—निरवद्य वचन बोलने की यतना के योग से भावित अन्तरात्मा—प्राणी हाथो, पैरो, नेत्रों और मुख पर सयम रखने वाला, शूर तथा सत्य और आर्जव धर्म सम्पन्न होता है ।

दूसरी भावना: अक्रोध

१२३—बिइयं—कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिक्किओ मणूसो अलिय भणेज्ज, पिसुणं भणेज्ज, फरुसं भणेज्ज, अलियं-पिसुणं-फरुसं भणेज्ज, कलहं करिज्जा, वेर करिज्जा, विकहं करिज्जा, कलहं-वेरं-विकहं करिज्जा, सच्चं हणेज्ज, सीलं हणेज्ज, विणयं हणेज्ज, सच्चं-सीलं-विणयं हणेज्ज, वेसो हवेज्ज, वत्थुं हवेज्ज, गम्मो हवेज्ज, वेसो-वत्थुं-गम्मो हवेज्ज, एय अण्णं च एवमाइयं भणेज्ज कोहग्गि-संपलित्तो तम्हा कोहो ण सेवियव्वो । एवं खंतीइ भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो ।

१२३—दूसरी भावना क्रोधनिग्रह—क्षमाशीलता है । (सत्य के आराधक को) क्रोध का सेवन नही करना चाहिए । क्रोधी मनुष्य रौद्रभाव वाला हो जाता है और (ऐसी अवस्था मे) असत्य भाषण कर सकता है (या करता है) । वह पिशुन—चुगली के वचन बोलता है, कठोर वचन बोलता है । मिथ्या, पिशुन और कठोर तीनो प्रकार के वचन बोलता है । कलह करता है, वैर-विरोध करता है, विकथा करता है तथा कलह-वैर-विकथा—ये तीनो करता है । वह सत्य का घात करता है, शील—सदाचार का घात करता है, विनय का विघात करता है और सत्य, शील तथा विनय—इन तीनो का घात करता है । असत्यवादी लोक मे द्वेष का पात्र बनता है, दोषो का घर बन जाता है और अनादर का पात्र बनता है तथा द्वेष, दोष और अनादर—इन तीनो का पात्र बनता है ।

क्रोधाग्नि से प्रज्वलितहृदय मनुष्य ऐसे और इसी प्रकार के अन्य सावद्य वचन बोलता है । अतएव क्रोध का सेवन नही करना चाहिए । इस प्रकार क्षमा से भावित अन्तरात्मा—अन्त:करण वाला हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख के सयम से युक्त, शूर साधु सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है ।

तीसरी भावना: निर्लोभता

१२४—तइयं—लोभो ण सेवियव्वो, १ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय खेत्तस्य व वत्थुस्स व कएण, २ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, कित्तीए लोभस्स व कएण, ३ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, इड्ढीए व सोक्खस्स व कएण, ४ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं भत्तस्स व पाणस्स व कएण, ५ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, पीढस्स व फलगस्स व कएण, ६ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं सेज्जाए व संथारगस्स व कएण, ७ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, वत्थस्स व पत्तस्स व काएण, ८ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, कंबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण, ९ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, सीसस्स व सिस्सिणीए व कएण, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसएसु लुद्धो लोलो भणेज्ज अलीयं, तम्हा

लोभो ण सेवियव्वो, एवं मुत्तीए भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जव-संपण्णो ।

१२४—तीसरी भावना लोभनिग्रह है । लोभ का सेवन नही करना चाहिए ।

(१) लोभी मनुष्य लोलुप होकर क्षेत्र—खेत—खुली भूमि और वास्तु—मकान आदि के लिए असत्य भाषण करता है ।

(२) लोभी-लालची मनुष्य कीर्ति और लोभ—धनप्राप्ति के लिए असत्य भाषण करता है ।

(३) लोभी-लालची मनुष्य ऋद्धि—वैभव और सुख के लिए असत्य भाषण करता है ।

(४) लोभी-लालची भोजन के लिए, पानी (पेय) के लिए असत्य भाषण करता है ।

(५) लोभी-लालची मनुष्य पीठ-पीढा और फलक—पाट प्राप्त करने के लिए असत्य भाषण करता है ।

(६) लोभी-लालची मनुष्य शय्या और सस्तारक—छोटे बिछौने के लिए असत्य भाषण करता है ।

(७) लोभी-लालची मनुष्य वस्त्र और पात्र के लिए असत्य भाषण करता है ।

(८) लोभी-लालची मनुष्य कम्बल और पादप्रोछन के लिए असत्य भाषण करता है ।

(९) लोभी-लालची मनुष्य शिष्य और शिष्या के लिए असत्य भाषण करता है ।

(१०) लोभी-लालची मनुष्य इस प्रकार के सैकडो कारणो-प्रयोजनो से असत्य भाषण करता है ।

लोभी व्यक्ति मिथ्या भाषण करता है, अर्थात् लोभ भी असत्य भाषण का एक कारण है, अतएव (सत्य के आराधक को) लोभ का सेवन नही करना चाहिए । इस प्रकार मुक्ति—निर्लोभता से भावित अन्त करण वाला साधु हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख से सयत, शूर और सत्य तथा आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है ।

चौथी भावना : निर्भयता

१२५—चउत्थं—ण भाइयव्वं, भीयं खु भया अइंति लहुयं भीओ अबितिज्जओ मणूसो, भीओ भूएहिं घिप्पइ, भीओ अण्णं वि हु भेसेज्जा, भीओ तवसंजमं वि हु मुएज्जा, भीओ य भरं ण णित्थरेज्जा, सप्पुरिसणिसेवियं च मग्गं भीओ ण समत्थो अणुचरिउं, तम्हा ण भाइयव्वं । भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा अण्णस्स वा एवमाइयस्स । एवं धेज्जेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो ।

१२५—चौथी भावना निर्भयता—भय का अभाव है । भयभीत नही होना चाहिए । भीरु मनुष्य को अनेक भय शीघ्र ही जकड लेते हैं—भयग्रस्त बना देते हैं । भीरु मनुष्य अद्वितीय-असहाय रहता है । भयभीत मनुष्य भूत-प्रेतो द्वारा आक्रान्त कर लिया जाता है । भीरु मनुष्य (स्वय तो डरता ही है) दूसरो को भी डरा देता है । भयभीत हुआ पुरुष निश्चय ही तप और सयम को भी छोड बैठता है । भीरु साधक भार का विस्तार नही कर सकता अर्थात् स्वीकृत कार्यभार अथवा संयम-भार का भलीभांति निर्वाह नही कर सकता है । भीरु पुरुष सत्पुरुषो द्वारा सेवित मार्ग का अनुसरण

करने मे समर्थ नही होता । अतएव (किसी मनुष्य, पशु-पक्षी या देवादि अन्य निमित्त के द्वारा जनित अथवा आत्मा द्वारा जनित) भय से, व्याधि-कुष्ठ आदि से, ज्वर आदि रोगो से, वृद्धावस्था से, मृत्यु से या इसी प्रकार के अन्य इष्टवियोग, अनिष्टसयोग आदि के भय से डरना नही चाहिए। इस प्रकार विचार करके धैर्य—चित्त की स्थिरता अथवा निर्भयता से भावित अन्त.करण वाला साधु हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख से सयत, शूर एव सत्य तथा आर्जवधर्म से सम्पन्न होता है ।

पाँचवीं भावना : हास्य-त्याग

१२६ -पंचमगं—हासं ण सेवियव्वं अलियाइं असंतगाइं जपंति हासइत्ता । परपरिभवकारणं च हासं, परपरिवायप्पियं च हासं, परपीलाकारग च हास, भेयविमुत्तिकारग च हासं, अण्णोण्णजणियं च होज्ज हासं, अण्णोण्णगमणं च होज्ज मम्मं, अण्णोण्णगमणं च होज्ज कम्मं, कंदप्पाभियोगगमण च होज्ज हासं, आसुरियं किव्विसत्तणं च जणेज्ज हासं, तम्हा हासं ण सेवियव्वं । एवं मोणेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो ।

१२६—पाँचवी भावना परिहासपरिवर्जन है । हास्य का सेवन नही करना चाहिए । हँसोड व्यक्ति अलीक—दूसरे में विद्यमान गुणो को छिपाने रूप और असत् -अविद्यमान को प्रकाशित करने वाले या अशोभनीय और अशान्तिजनक वचनो का प्रयोग करते है । परिहास दूसरो के परिभव - अपमान-तिरस्कार का कारण होता है । हँसी मे परकीय निन्दा-तिरस्कार ही प्रिय लगता है । हास्य परपीडाकारक होता है । हास्य चारित्र का विनाशक, शरीर की आकृति को विकृत करने वाला है और मोक्षमार्ग का भेदन करने वाला है । हास्य अन्योन्य एक दूसरे का परस्पर मे किया हुआ होता है, फिर परस्पर मे परदारगमन आदि कुचेष्टा - मर्म का कारण होता है । एक दूसरे के मर्म— गुप्त चेष्टाओ को प्रकाशित करने वाला बन जाता है, हँसी-हँसी मे लोग एक दूसरे की गुप्त चेष्टाओ को प्रकट करके फजीहत करते है । हास्य कन्दर्प-हास्यकारी अथवा आभियोगिक—आज्ञाकारी सेवक जैसे देवो मे जन्म का कारण होता है । हास्य असुरता एव किल्विषता उत्पन्न करना है, अर्थात् साधु तप और सयम के प्रभाव से कदाचित् देवगति मे उत्पन्न हो तो भी अपने हँसोडपन के कारण निम्न कोटि के देवो में उत्पन्न होना है । वैमानिक आदि उच्च कोटि के देवो मे नही उत्पन्न होता । इस कारण हँसी का सेवन नही करना चाहिए । इस प्रकार मौन मे भावित अन्त करण वाला साधु हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख से सयत होकर शूर तथा सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है ।

विवेचन—उल्लिखित पाँच (१२२ से १२६) सूत्रो मे अहिंसामहाव्रत के समान सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाओ का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है—(१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोध का त्याग—अक्रोध (३) लोभत्याग या निर्लोभता (४) भयत्याग या निर्भयता और (५) परिहास-परिहार या हँसी-मजाक का त्याग ।

वाणीव्यवहार मानव की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है । पशु-पक्षी भी अपनी-अपनी वाणी से बोलते हैं किन्तु मानव की वाणी की अर्थपरकता या सोद्देश्यता उनकी वाणी मे नही होती । अतएव व्यक्त वाणी मनुष्य की एक अनमोल विभूति है ।

वाणी की यह विभूति मनुष्य को अनायास प्राप्त नही होती । एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक आदि

स्थावर जीव जिह्वा से सर्वथा वंचित होते है । वे बोल ही नही सकते । द्वीन्द्रियादि जीव जिह्वा वाले होते हुए भी व्यक्त वाणी नही बोल सकते । व्यक्त और सार्थक वाणी मनुष्य को ही प्राप्त है । किन्तु क्या यह वाणीवैभव यो ही प्राप्त हो गया ? नही, इसे प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी पुण्यराशि खरचनी पड़ी है । विपुल पुण्य की पू जी के बदले इसकी उपलब्धि हुई है । अतएव मनुष्य की वाणी बहुमूल्य है । धन देकर प्राप्त न की जा सकने के कारण वह अनमोल भी है ।

विचारणीय है कि जो वस्तु अनमोल है, जो प्रबलतर पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई है, उसका उपयोग किस प्रकार करना उचित है ? यदि कोई मनुष्य अपनी वाणी का प्रयोग पाप के उपार्जन मे करता है तो वह निश्चय ही अभागा है, विवेकविहीन है । इस वाणी की सार्थकता और सदुपयोग यही हो सकता है कि इसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति मे व्यय किया जाए । यह तभी सम्भव है जब इसे पापोपार्जन का निमित्त न बनाया जाए ।

इसी उद्देश्य से सत्य को महाव्रत के रूप मे स्थापित किया गया है और इससे पूर्व सत्य की महिमा का प्रतिपादन किया गया है ।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि असत्य के पाप से बच कर सत्य भगवान् की आराधना किस प्रकार की जा सकती है ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए पांच भावनाओ की प्ररूपणा की गई है । सत्य की आराधना के लिए पूर्ण रूप से असत्य से बचना आवश्यक है और असत्य से बचने के लिए असत्य के कारणो से दूर रहना चाहिए । असत्य के कारणो की विद्यमानता मे उससे बचना अत्यन्त कठिन है, प्रायः असंभव है । किन्तु जब असत्य का कोई कारण न हो तो उसका अभाव अवश्य हो जाता है, क्योकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नही होती । इन भावनाओ में असत्य के कारणो के परिहार का ही प्रतिपादन किया गया है । न होगा वास, न बजेगी वासुरी । असत्य का कारण न होगा तो असत्य भी नही होगा ।

असत्य के प्रधान कारण पॉच है । उनके त्याग की यहाँ प्रेरणा की गई है ।

असत्य का एक कारण है--सोच-विचार किये विना, जल्दबाजी मे, जो मन में आए, बोल देना । इस प्रकार बोल देने से अनेको वार घोर अनर्थ उत्पन्न हो जाते है । 'अन्धे की सन्तान अन्धी होती है' द्रौपदी के इस अविचारित वचन ने कितने भीषण अनर्थ उत्पन्न नही किए ? स्वय द्रौपदी को अपमानित होना पडा, पाण्डवो की दुर्दशा हुई और महाभारत जैसा दुर्भाग्यपूर्ण सग्राम हुआ, जिसमे करोडो को प्राण गंवाने पडे । अतएव जिस विषय की जानकारी न हो, जिसके विषय मे सम्यक् प्रकार से विचार न कर लिया गया हो, जिसके परिणाम के सम्बन्ध में पूरी तरह सावधानी न रक्खी गई हो, उस विषय मे वाणी का प्रयोग करना उचित नही है । तात्पर्य यह है कि जो भी बोला जाए, सुविचारित एव सुज्ञात ही बोला जाए । भलीभाति विचार करके बोलने वाले को पश्चात्ताप करने का अवसर नही आता, उसे लाञ्छित नही होना पडता और उसका सत्यव्रत अखडित रहता है ।

प्रथम भावना का नाम 'अनुवीचिसमिति' कहा गया है । तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धिटीका मे इसका अर्थ किया गया है—'**अनुवीचिभाषणम्—निरवद्यानुभाषणम्**'[१] अर्थात् निरवद्य भाषा

१. सर्वार्थसिद्धि अ. ७

का प्रयोग करना अनुवीचिभाषण कहलाता है। तत्त्वार्थभाष्य मे भी सत्यव्रत की प्रथम भावना के लिए 'अनुवीचि' भाषण शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[१] अतएव भलीभाँति विचार कर बोलने के साथ-साथ भाषा सम्बन्धी अन्य दोषो से बचना भी इस भावना के अन्तर्गत है।

सत्यव्रत का निरतिचार रूप से पालन करने के लिए क्रोधवृत्ति पर विजय प्राप्त करना भी आवश्यक है। क्रोध ऐसी वृत्ति है जो मानवीय विवेक को विलुप्त कर देती है और कुछ काल के लिए पागल बना देती है। क्रोध का उद्रेक होने पर सत्-असत् का भान नही रहता और असत्य बोला जाता है। कहना चाहिए कि क्रोध के अतिशय आवेश मे जो बोला जाता है, वह असत्य ही होता है। अतएव सत्यमहाव्रत की सुरक्षा के लिए क्रोधप्रत्याख्यान अथवा अक्रोधवृत्ति परमावश्यक है।

तीसरी भावना लोभत्याग या निर्लोभता है। लोभ से होने वाली हानियो का मूल पाठ मे ही विस्तार से कथन कर दिया गया है। शास्त्र मे लोभ को समस्त सद्‌गुणो का विनाशक कहा है।[२] जब मनुष्य लोभ की जकड मे फँस जाता है तो कोई भी दुष्कर्म करना उसके लिए कठिन नही होता। अतएव सत्यव्रत की सुरक्षा चाहने वाले को निर्लोभवृत्ति धारण करनी चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति लालच उत्पन्न नही होने देना चाहिए।

चौथी भावना भय-प्रत्याख्यान है। भय मनुष्य की बडी से बडी दुर्बलता है। भय मनुष्य के मस्तिष्क मे छिपा हुआ विषाणु है जो उसे कातर, भीरु, निर्बल, सामर्थ्यशून्य और निष्प्राण बना देता है। भय वह पिशाच है जो मनुष्य की वीर्यशक्ति को पूरी तरह सोख जाता है। भय वह वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य अपने को निकम्मा, नालायक और नाचीज समझने लगता है। शास्त्रकार ने कहा है कि भयभीत पुरुष को भूत-प्रेत ग्रस्त कर लेते हैं। बहुत बार तो भय स्वय ही भूत बन जाता है और उस मनोविनिर्मित भूत के आगे मनुष्य घुटने टेक देता है। भय के भूत के प्रताप मे कइयो को जीवन से हाथ धोना पडता है और अनेको का जीवन बेकार बन जाता है।

भीरु मनुष्य स्वय भीत होता है, साथ ही दूसरो के मस्तक मे भी भय का भूत उत्पन्न कर देता है। भीरु पुरुष स्वय सन्मार्ग पर नही चल सकता और दूसरो के चलने मे भी बाधक बनता है।

मनुष्य के मन मे व्याधि, रोग, वृद्धावस्था, मरण आदि के अनेक प्रकार के भय विद्यमान रहते हैं। मूल पाठ मे निर्देश किया गया है कि रोगादि के भय से डरना नही चाहिए। भय कोई औषध तो है नही कि उसके सेवन से रोगादि उत्पन्न न हो ! क्या बुढापे का भय पालने से बुढापा आने से रुक जाएगा ? मरणभय के सेवन से मरण टल जाएगा ? ऐसा कदापि नही हो सकता। यही नही, प्रत्युत भय के कारण न आने वाला रोग भी आ सकता है, न होने वाली व्याधि हो सकती है, विलम्ब से आने वाले वार्धक्य और मरण को भय आमत्रण देकर शीघ्र ही निकट ला सकता है। ऐसी स्थिति मे भयभीत होने से हानि के अतिरिक्त लाभ क्या है।

साराश यह है कि भय की भावना आत्मिक शक्ति के परिबोध मे बाधक है, साहस को तहस-नहस करने वाली है, समाधि की विनाशक है और सक्लेश को उत्पन्न करने वाली है। वह सत्य पर स्थिर नही रहने देती। अतएव सत्य भगवान् के आराधक को निर्भय होना चाहिए।

---

१. तत्त्वार्थभाष्य, अ. ७

२. लोहो सव्वविणासणो—दशवैकालिकसूत्र

पाँचवी भावना है परिहास-परिहार या हास्यप्रत्याख्यान। सरलभाव से यथातथ्य वचनो के प्रयोग से हँसी-मजाक का रूप नही बनता। हास्य के लिए सत्य को विकृत करना पड़ता है। नमक-मिर्च लगाकर बोलना होता है। किसी के सद्‌गुणो को छिपा कर दुर्गुणो को उघाड़ा करना होता है। अभिप्राय यह है कि सर्वांश या अधिकाश मे सत्य को छिपा कर असत्य का आश्रय लिए विना हँसी-मजाक नही होता। इससे सत्यव्रत का विघात होता है और अन्य को पीड़ा होती है। अतएव सत्यव्रत के सरक्षण के लिए हास्यवृत्ति का परिहार करना आवश्यक है।

जो साधक हास्यशील होता है, साथ ही तपस्या भी करता है, वह तप के फलस्वरूप यदि देवगति पाता है तो भी किल्विष या आभियगिक जैसे निम्नकोटि के देवो में जन्म पाता है। वह देवगणो मे अस्पृश्य चाण्डाल जैसी अथवा दास जैसी स्थिति मे रहता है। उसे उच्च श्रेणी का देवत्व प्राप्त नही होता। इस प्रकार हास्यवृत्ति महान् फल को भी तुच्छ बना देती है।

सयमी के लिए मौनवृत्ति का अवलम्बन करना सर्वोत्तम है। जो इस वृत्ति का निर्वाह भावपूर्वक कर सकते है, उनके लिए मौन रह कर सयम की साधना करना हितकर है। किन्तु आजीवन इस उत्सर्ग मार्ग पर चलना प्रत्येक के लिए सम्भव नही है। सघ और तीर्थ के अभ्युदय एव हित की दृष्टि से यह वाछनीय भी नही है। फिर भी भाषा का प्रयोग करते समय आगम मे उल्लिखित निर्देशो का ध्यान रख कर समितिपूर्वक जो वचनप्रयोग करते हैं, उनका सत्यमहाव्रत अखण्डित रहता है। उनके चित्त मे किसी प्रकार का सक्लेशभाव उत्पन्न नही होता। वे अपनी आराधना मे सफलता प्राप्त करते है। उनके लिए मुक्ति का द्वार उद्‌घाटित रहता है।

उपसंहार

१२७—एवमिण संवरस्स दारं सम्मं संवरिय होइ सुप्पणिहियं, इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं मण-वयण-काय-परिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

१२७—इस प्रकार मन, वचन और काय से पूर्ण रूप से सुरक्षित-सुसेवित इन पाच भावनाओ से सवर का यह द्वार सत्यमहाव्रत सम्यक् प्रकार से सवृत- आचरित और सुप्रणिहित—स्थापित हो जाता है। अतएव धैर्यवान् तथा मतिमान् साधक को चाहिए कि वह आस्रव का निरोध करने वाले, निर्मल (अकलुष), निश्छिद्र—कर्म-जल के प्रवेश को रोकने वाले, कर्मबन्ध के प्रवाह से रहित, सक्लेश का अभाव करने वाले एव समस्त तीर्थंकरो द्वारा अनुज्ञात इस योग को निरन्तर जीवनपर्यन्त आचरण मे उतारे।

१२८—एवं बिइयं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवइ। एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं।

॥ बिइयं संवरदारं समत्तं ॥ त्तिबेमि ॥

१२८—इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) सत्य नामक सवरद्वार यथासमय अगीकृत, पालित, शोधित—निरतिचार आचरित या शोभाप्रदायक, तीरित—अन्त तक पार पहुँचाया हुआ, कीर्त्तित—दूसरो के समक्ष आदरपूर्वक कथित, अनुपालित—निरन्तर सेवित और भगवान् की आज्ञा के अनुसार आराधित होता है। इस प्रकार भगवान् ज्ञातमुनि – महावीर स्वामी ने इस सिद्धवरशासन का कथन किया है, विशेष प्रकार से विवेचन किया है। यह तर्क और प्रमाण से सिद्ध है, सुप्रतिष्ठित किया गया है, भव्य जीवो के लिए इसका उपदेश किया गया है, यह प्रशस्त-कल्याणकारी—मगलमय है।

विवेचन—उल्लिखित पाठो मे प्रस्तुत प्रकरण मे कथित अर्थ का उपसहार किया गया है। सुगम होने से इनके विवेचन की आवश्यकता नही है।

।। द्वितीय संवरद्वार समाप्त ।।

तृतीय अध्ययन : दत्तानुज्ञात

द्वितीय सवरद्वार के निरूपण के पश्चात् अचौर्य नामक तृतीय सवरद्वार का निरूपण प्रस्तुत है। सत्य के पश्चात् अचौर्य के विवेचन के टीकाकार ने दो कारण बतलाए हैं—प्रथम यह कि सूत्रक्रम के अनुसार अब अस्तेय का निरूपण ही सगत है, दूसरा असत्य का त्यागी वही हो सकता है जो अदत्तादान का त्यागी हो। अदत्तादान करने वाले सत्य का निर्वाह नही कर सकते। अतएव सत्यसवर के अनन्तर अस्तेयसवर का निरूपण करना उचित है।

अस्तेय का स्वरूप

१२९—**जंबू ! दत्तमणुण्णाय-संवरो णाम होई तइय सुव्वया ! महव्वयं गुणव्वयं परदव्व-हरणपडिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणततण्हाणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुणिग्गहियं सुसज-मिय-मण-हत्थ-पायणिहुय णिग्गंथं णिट्ठिय णिरुत्तं णिरासवं णिब्भय विमुत्तं उत्तमणरवसभपवरबलवग-सुविहियजणसम्मतं परमसाहुधम्मचरणं।**

१२९—हे शोभन व्रतो के धारक जम्बू ! तीसरा सवरद्वार '**दत्तानुज्ञात**' नामक है। यह महान् व्रत है तथा यह गुणव्रत—इहलोक और परलोक सबधी उपकारो का कारणभूत भी है। यह परकीय द्रव्य-पदार्थों के हरण से निवृत्तिरूप क्रिया से युक्त है, अर्थात् इस व्रत मे परायी वस्तुओ के अपहरण का त्याग किया जाता है। यह व्रत अपरिमित- सीमातीन और अनन्त तृष्णा से अनुगत महा-अभिलाषा से युक्त मन एव वचन द्वारा पापमय परद्रव्यहरण का भलिभाँति निग्रह करता है। इस व्रत के प्रभाव से मन इतना सयमशील बन जाता है कि हाथ और पैर परधन को ग्रहण करने से विरत हो जाते है। यह बाह्य और अभ्यन्तर ग्रन्थियो से रहित है, सब धर्मों के प्रकर्ष के पर्यन्त-वर्त्ती है। सर्वज्ञ भगवन्तो ने इसे उपादेय कहा है। यह आस्रव का निरोध करने वाला है। निर्भय है—इसका पालन करने वाले को राजा या शासन आदि का भय नही रहता और लोभ उसका स्पर्श भी नही करता। यह प्रधान बलशालियो तथा सुविहित साधुजनो द्वारा सम्मत है, श्रेष्ठ साधुओ का धर्माचरण है।

विवेचन—तृतीय सवरद्वार के प्रारम्भ मे सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी को 'सुव्रत' कहकर सम्बोधित किया है। अपने सदाचरण की गुरुजन द्वारा प्रशसा सुनकर शिष्य के हृदय मे उल्लास होता है और वह सदाचरण मे अधिक उत्साह के साथ अग्रसर होता है। इस प्रकार यह सम्बोधन शिष्य के उत्साहवर्द्धन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अस्तेय महाव्रत है। जीवन पर्यन्त तृण जैसे अत्यन्त तुच्छ पदार्थ को भी अदत्त या अननुज्ञात ग्रहण न करना अपने आप मे एक महान् साधना है। इसका निर्वाह करने मे आने वाली बडी-बडी कठिनाइयो को समभाव से, मन मे तनिक भी मलीनता लाये विना, सहन कर लेना और वह भी स्वेच्छा से, कितना कठिन है ! अतएव इसे महाव्रत कहना सर्वथा समुचित ही है।

यह व्रत अनेकानेक गुणो का जनक है। इसके धारण और पालन से इस लोक मे भी उपकार होता है और परलोक में भी, अतएव इसे गुणव्रत भी कहा गया है।

अस्तेयव्रत की आराधना से अपरिमित तृष्णा और अभिलाषा के कारण कलुषित मन का निग्रह होता है। जो द्रव्य प्राप्त है, उसका व्यय न हो जाए, इस प्रकार की इच्छा को यहाँ तृष्णा कहा गया है और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की बलवती लालसा को महेच्छा कहा गया है।

'सुसजमिय-मण-हत्थ-पायनिहुय' इस विशेषण के द्वारा शास्त्रकार ने यह सूचित किया है कि मन पर यदि सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण कर लिया जाए, मन पूरी तरह काबू मे रहे तो हाथो और पैरों की प्रवृत्ति स्वतः रुक जाती है। जिस ओर मन नही जाता उस ओर हाथ-पैर भी नही हिलते। यह सूचना साधको के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। साधको को सर्वप्रथम अपने मन को सयत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर वचन और काय अनायास ही सयत हो जाते हैं।

शेष पदो का अर्थ सुगम है।

१३०—जत्थ य गामागर-णगर-णिगम-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-सबाह-पट्टणासमगय च किंचि दव्वं मणि-मुत्त-सिलप्पवाल-कंस-दूस-रयय-वरकणग-रयणमाइं पडियं पम्हुट्ठं विपणट्ठं, ण कप्पइ कस्सइ कहेउं वा गिण्हिउं वा अहिरण्णसुवण्णियेण समलेट्ठुकंचणेणं अपरिग्गहसंवुडेणं लोगम्मि विहरियव्वं।

१३०—इस अदत्तादानविरमण व्रत मे ग्राम, आकर, नगर, निगम, खेट, कर्बट, मडब, द्रोणमुख, सबाध, पट्टन अथवा आश्रम (अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य स्थान) मे पडी हुई, उत्तम मणि, मोती, शिला, प्रवाल, कासा, वस्त्र, चादी, सोना, रत्न आदि कोई भी वस्तु पड़ी हो—गिरी हो, कोई उसे भूल गया हो, गुमी हुई हो तो (उसके विषय में) किसी को कहना अथवा स्वय उठा लेना नही कल्पता है। क्योकि साधु को हिरण्य—सुवर्ण का त्यागी हो कर, पाषाण और स्वर्ण मे समभाव रख कर, परिग्रह से सर्वथा रहित और सभी इन्द्रियो से सवृत-सयत होकर ही लोक मे विचरना चाहिए।

विवेचन—ग्राम, आकर आदि विभिन्न प्रकार की वस्तियां है, जिनका अर्थ पूर्व मे लिखा जा चुका है। इन वस्तियो में से किसी भी वस्ती मे और उपलक्षण से वन में या मार्ग आदि मे कही कोई मूल्यवान् या अल्पमूल्य वस्तु साधु को दिखाई दे जाए तो उसके विषय मे दूसरे किसी को कहना अथवा स्वय उठा लेना योग्य नही है। साधु की दृष्टि ऐसी परमार्थदर्शिनी बन जाए कि वह पत्थर और सोने को समदृष्टि से देखे। उसे पूर्णरूप से अपरिग्रही होकर विचरण करना चाहिए और अपनी सब इन्द्रियो को सदा संयममय रखना चाहिए।

१३०—जं वि य हुज्जाहि दव्वजायं खलगयं खेत्तगयं रण्णमंतरगयं वा किंचि पुप्फ-फल-तयप्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ अप्पं च बहुं च अणुं च थूलगं वा ण कप्पइ उग्गहम्मि अदिण्णंम्मि गिण्हिउं जे, हणि हणि उग्गहं अणुण्णविय गिण्हियव्वं, वज्जेयव्वो सव्वकालं अचियत्तघरप्पवेसो

अवियत्तभत्तपाणं अवियत्तपीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पत्त-कबल-दंडग-रयहरण-णिसिज्ज-चोल-पट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाइ भायण-भंडोवहि-उवगरणं परपरिवाओ परस्स दोसो परववएसेणं जं च गिण्हइ, परस्स णासेइ जं च सुकयं, दाणस्स य अंतराइयं दाणविप्पणासो पिसुण्णं चेव मच्छरियं च।

ये अस्तेय के आराधक नहीं

जे वि य पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पाय-कंबल-मुहपोत्तिय-पाय-पुंछणाइ-भायण-भंडो-वहिउवगरणं असंविभागी, असंगहरुई, तवतेणे य वइतेणे य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य, सद्दकरे झंझकरे कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकरे सया अप्पमाणभोई सययं अणुबद्धवेरे य णिच्चरोसी से तारिसए णाराहए वयमिणं।

१३१—कोई भी वस्तु, जो खलिहान मे पडी हो, या खेत मे पडी हो, या जगल में पडी हो, जैसे कि फूल हो, फल हो, छाल हो, प्रवाल हो, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ या ककर आदि हो, वह थोडी हो या बहुत हो, छोटी हो या मोटी हो, स्वामी के दिये विना या उसकी आज्ञा प्राप्त किये विना ग्रहण करना नही कल्पता। घर और स्थंडिलभूमि भी आज्ञा प्राप्त किये विना ग्रहण करना उचित नही है।

तो फिर साधु को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? यह विधान किया जाता है कि प्रति-दिन अवग्रह की आज्ञा लेकर ही उसे लेना चाहिए। तथा अप्रीतिकारक घर मे प्रवेश वर्जित करना चाहिए अर्थात् जिस घर के लोगो मे साधु के प्रति अप्रीति हो, ऐसे घरो मे किसी वस्तु के लिए प्रवेश करना योग्य नही है। अप्रीतिकारक के घर से आहार-पानी तथा पीठ, फलक—पाट, शय्या, सस्तारक, वस्त्र, पात्र, कबल, दण्ड—विशिष्ट कारण से लेने योग्य लाठी और पादप्रोछन—पैर साफ करने का वस्त्रखण्ड आदि एव भाजन—पात्र, भाण्ड—मिट्टी के पात्र तथा उपधि—वस्त्रादि उपकरण भी ग्रहण नही करना चाहिए। साधु को दूसरे की निन्दा नही करनी चाहिए, दूसरे को दोष नही देना चाहिए या किसी पर द्वेष नही करना चाहिए। (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, रुग्ण अथवा शैक्ष आदि) दूसरे के नाम से जो कोई वस्तु ग्रहण करता है तथा जो उपकार को या किसी के सुकृत को छिपाता है—नष्ट करता है, जो दान में अन्तराय करता है, अर्थात् दिये जाने वाले दान मे किसी प्रकार से विघ्न डालता है, जो दान का विप्रणाश करता अर्थात् दाता के नाम को छिपाता है, जो पैशुन्य करता—चुगली खाता है और मात्सर्य—ईर्षा-द्वेष करता है, (वह सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा मे विरुद्ध करता है, अतएव इनसे बचना चाहिए।)

जो भी पीठ—पीढा, पाट, शय्या, सस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका और पादप्रोञ्छन आदि, पात्र, मिट्टी के पात्र—भाण्ड और अन्य उपकरणो का जो आचार्य आदि साधर्मिको मे सविभाग (उचित रूप से विभाग) नही करता, वह अस्तेयव्रत का आराधक नही होता। जो असग्रहरुचि है अर्थात् एषणीय पीठ, फलक आदि गच्छ के लिए आव-श्यक या उपयोगी उपकरणो का जो स्वार्थी (आत्मभरी) होने के कारण सग्रह करने मे रुचि नही रखता, जो तपस्तेन है अर्थात् तपस्वी न होने पर भी तपस्वी के रूप मे अपना परिचय देता है, वचनस्तेन—वचन का चोर है, जो रूपस्तेन है अर्थात् सुविहित साधु न होने पर भी जो सुविहित साधु का वेष धारण करता है, जो आचार का चोर है अर्थात् आचार मे दूसरो को धोखा देता है और जो

भावस्तेन है अर्थात् दूसरे के ज्ञानादि गुण के आधार पर अपने आपको ज्ञानी प्रकट करता है, जो शब्दकर है अर्थात् रात्रि मे उच्चस्वर से स्वाध्याय करता या बोलता है अथवा गृहस्थो जैसी भाषा बोलता है, जो गच्छ में भेद उत्पन्न करने वाले कार्य करता है, जो कलहकारी, वैरकारी और असमाधिकारी है, जो शास्त्रोक्त प्रमाण से सदा अधिक भोजन करता है, जो सदा वैर बाँध रखने वाला है, सदा क्रोध करता रहता है, ऐसा पुरुष इस अस्तेयव्रत का आराधक नही होता है।

विवेचन—अस्तेयव्रत की आराधना की विधि विस्तारपूर्वक यहाँ बतलाई गई है। प्रारभ में कहा गया है कि अस्तेयव्रत के आराधक को कोई भी वस्तु, चाहे वह मूल्यवान् हो या मूल्यहीन हो, बहुत हो या थोडी हो, छोटी हो या मोटी हो, यहाँ तक कि धूल या ककर जैसी तुच्छतर ही क्यो न हो, बिना दी हुई या अननुज्ञात ग्रहण नही करना चाहिए। ग्राह्य वस्तु का दाता अथवा अनुज्ञाता भी वही होना चाहिए जो उसका स्वामी हो। व्रत की पूर्ण आराधना के लिए यह नियम सर्वथा उपयुक्त ही है। मगर प्रश्न हो सकता है कि साधु जब मार्ग मे चल रहा हो, ग्राम, नगर आदि से दूर जगल मे हो और अचानक तिनका जैसी किसी वस्तु की आवश्यकता हो जाए तो वह क्या करे ?

उत्तर यह है कि शास्त्र में अनुज्ञा देने वाले पाच बतलाए गए है—(१) देवेन्द्र (२) राजा (३) गृहपति—मण्डलेश, जागीरदार या ठाकुर (४) सागारी (गृहस्थ) और (५) साधर्मिक। पूर्वोक्त परिस्थिति मे तृण, ककर आदि तुच्छ—मूल्यहीन वस्तु की यदि आवश्यकता हो तो साधु देवेन्द्र की अनुज्ञा से उसे ग्रहण कर सकते हैं।

इस आशय को व्यक्त करने के लिए मूल पाठ मे इस व्रत या सवर के लिए **दत्तमणुण्णायसवरो** (दत्त—अनुज्ञातसवर) शब्द का प्रयोग किया गया है, केवल 'दत्तसवर' नही कहा गया। इसका तात्पर्य यही है कि जो पीठ, फलक आदि वस्तु किसी गृहस्थ के स्वामित्व की हो उसे स्वामी के देने पर ग्रहण करना चाहिए और जो धूलि या तिनका जैसी तुच्छ वस्तुओ का कोई स्वामी नही होता—जो सर्व साधारण के लिए मुक्त हैं, उन्हे देवेन्द्र की अनुज्ञा मे ग्रहण किया जाए तो वे अनुज्ञात हैं। उनके ग्रहण से व्रतभग नही होता।[1]

अदत्तादान के विषय मे कुछ अन्य शकाए भी उठाई जाती है, यथा—

शका—साधु कर्म और नोकर्म का जो ग्रहण करता है, वह अदत्त है। फिर व्रतभग क्यो नही होता ?

समाधान—जिसका देना और लेना सभव होता है, उसी वस्तुत मे स्तेय—चौर्य-चोरी का व्यवहार होता है। कर्म—नोकर्म के विषय मे ऐसा व्यवहार नही हो सकता, अत· उनका ग्रहण अदत्तादान नही है।

शका—साधु रास्ते मे या नगरादि के द्वार मे प्रवेश करता है, वह अदत्तादान क्यो नही है ?

समाधान—रास्ता और नगरद्वार आदि सामान्य रूप से सभी के लिए मुक्त हैं, साधु के लिए

१. भगवती—श १६ उ. २

भी उसी प्रकार अनुज्ञात हैं जैसे दूसरो के लिए। अतएव यहाँ भी अदत्तादान नही समझना चाहिए। अथवा जहाँ प्रमादभाव है वही अदत्तादान का दोष होता है। रास्ते आदि मे प्रवेश करने वाले साधु में प्रमत्तयोग नही होता, अतएव वह अदत्तादानी नही है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सक्लेशभावपूर्वक प्रवृत्ति होती है वही अदत्तादान होता है, भले ही वह बाह्य वस्तु को ग्रहण करे अथवा न करे।[1]

अभिप्राय यह है कि जिन वस्तुओ मे देने और लेने का व्यवहार सभव हो और जहाँ सक्लिष्ट परिणाम के साथ बाह्य वस्तु को ग्रहण किया जाए, वही अदत्तादान का दोष लागू होता है। जो अस्वामिक या सस्वामिक वस्तु सभी के लिए मुक्त है या जिसके लिए देवेन्द्र आदि की अनुज्ञा ले ली गई है, उसे ग्रहण करने अथवा उसका उपयोग करने से अदत्तादान नही होता। साधु को दत्त और अनुज्ञात वस्तु ही ग्राह्य होती है।

सूत्र में असविभागी और असग्रहरुचि पदो द्वारा व्यक्त किया है कि गच्छवासी साधु को गच्छवर्त्ती साधुओ की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिए। उसे स्वार्थी नही होना चाहिए। आहारादि शास्त्रानुसार जो भी प्राप्त हो उसका उदारतापूर्वक यथोचित सविभाग करना चाहिए। किसी दूसरे साधु को किसी उपकरण की या अमुक प्रकार के आहार की आवश्यकता हो और वह निर्दोष रूप मे प्राप्त भी हो रहा हो तो केवल स्वार्थीपन के कारण उसे ग्रहण में अरुचि नही करनी चाहिए। गच्छवासी साधुओ को एक दूसरे के उपकार और अनुग्रह मे प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये।

उल्लिखित पाठ मे तपस्तेन अर्थात् 'तप का चोर' आदि पदो का प्रयोग किया गया है, उनका उल्लेख दशवैकालिक सूत्र में भी आया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तपःस्तेन—किसी स्वभावत कृशकाय साधु को देखकर किसी ने पूछा—महाराज, अमुक गच्छ मे मासखमण की तपस्या करने वाले सुने है, क्या आप वही मासक्षपक हैं?

यह सुनकर वह कृशकाय साधु मासक्षपक न होते हुए भी यदि अपने को मासक्षपक कह देता है तो वह तप का चोर है। अथवा धूर्ततापूर्वक उत्तर देता है—'भई, साधु तो तपस्वी होते हैं, उनका जोवन ही तपोमय है।'

इस प्रकार गोलमोल उत्तर देकर वह तपस्वी न होकर भी यह धारणा उत्पन्न कर देता है कि यही मासक्षपक तपस्वो है, किन्तु निरहकार होने के कारण स्पष्ट नही कह रहे है। ऐसा साधु तप.स्तेन कहलाता है।

वचःस्तेन—इसी प्रकार किसी वाग्मी—कुशल व्याख्याता साधु का यश छल के द्वारा अपने ऊपर ओढ लेना—धूर्तता से अपने को वाग्मी प्रकट करने या कहने वाला वचःस्तेन साधु कहलाता है।

रूपस्तेन—किसी सुन्दर रूपवान् साधु का नाम किसी ने सुना है। वह किसी दूसरे रूपवान् साधु को देख कर पूछता है—क्या अमुक रूपवान् साधु आप ही हैं? वही साधु न होने पर भी वह साधु यदि हाँ कह देता है अथवा छलपूर्वक गोलमोल उत्तर देता है, जिससे प्रश्नकर्त्ता की धारणा बन जाए कि यह वही प्रसिद्ध रूपवान् साधु है, तो ऐसा कहने वाला साधु रूप का चोर है।

१ सर्वार्थसिद्धिटीका अ ७, सूत्र १५

रूप दो प्रकार का है—शरीर की सुन्दरता और सुविहित साधु का वेष। जो साधु सुविहित तो न हो किन्तु लोगो को अपने प्रति आकर्षित करने के लिए, अन्य साधुओ की अपेक्षा अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए सुविहित साधु का वेष धारण कर ले—मैला चोलपट्ट, मैल से भरा शरीर, सिर्फ दो पात्र आदि रख कर विचरे तो वह रूप का चोर कहलाता है।

इसी प्रकार आचारस्तेन और भावस्तेन भी समझ लेने चाहिए। शेष पदो की सुबोध होने से व्याख्या करना अनावश्यक है।

अस्तेय के आराधक कौन ?

१३२—अह केरिसए पुणाइं आराहए वयमिण ? जे से उवहि-भत्त-पाण-संगहण-दाण-कुसले अच्चंतबाल-दुब्बल-गिलाण-वुड्ढ-खवग-पवत्ति-आयरिय-उवज्झाए सेहे साहम्मिए तवस्सी-कुल-गण-संघ-चेइयट्ठे य णिज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं दसविहं बहुविहं करेइ, ण य अचियत्तस्स गिहं पविसइ, ण य अचियत्तस्स गिण्हइ भत्तपाणं, ण य अचियत्तस्स सेवइ पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पाय-कंबल-दंडग-रयहरण-णिसिज्ज-चोलपट्टय-मुहपोत्तियं पायपुंछणाइ-भायण-भंडोवहिउवगरणं ण य परिवायं परस्स जंपइ, ण यावि दोसे परस्स गिण्हइ, परववएसेण वि ण किंचि गिण्हइ, ण य विपरिणामेइ किंचि जणं, ण यावि णासेइ दिण्णसुकयं दाऊणं य ण होइ पच्छातावीए संभागसीले संग्गहोवग्गहकुसले से तारिसए आराहए वयमिणं।

१३२—प्रश्न—(यदि पूर्वोक्त प्रकार के मनुष्य इस व्रत की आराधना नही कर सकते) तो फिर किस प्रकार के मनुष्य इस व्रत के आराधक हो सकते है ?

उत्तर—इस अस्तेयव्रत का आराधक वही पुरुष हो सकता है जो—वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरण, आहार-पानी आदि का सग्रहण और सविभाग करने मे कुशल हो।

जो अत्यन्त बाल, दुर्बल, रुग्ण, वृद्ध और मासक्षपक आदि तपस्वी साधु की, प्रवर्त्तक, आचार्य, उपाध्याय की, नवदीक्षित साधु की तथा साधर्मिक—लिंग एव प्रवचन से समानधर्मा साधु की, तपस्वी, कुल, गण, सघ के चित्त की प्रसन्नता के लिए सेवा करने वाला हो।

जो निर्जरा का अभिलाषी हो—कर्मक्षय करने का इच्छुक हो, जो अनिश्रित हो अर्थात् यश-कीर्त्ति आदि की कामना न करते हुए पर पर निर्भर न रहता हो, वही दस प्रकार का वैयावृत्य, अन्न-पान आदि अनेक प्रकार से करता है। वह अप्रीतिकारक गृहस्थ के कुल मे प्रवेश नही करता और न अप्रीतिकारक के घर का आहार-पानी ग्रहण करता है। अप्रीतिकारक से पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, आसन, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका एव पादप्रोञ्छन भी नही लेता है। वह दूसरो की निन्दा (परपरिवाद) नही करता और न दूसरे के दोषो को ग्रहण करता है। जो दूसरे के नाम से (अपने लिए) कुछ भी ग्रहण नही करता और न किसी को दानादि धर्म से विमुख करता है, दूसरे के दान आदि सुकृत का अथवा धर्माचरण का अपलाप नही करता है, जो दानादि देकर और वैयावृत्य आदि करके पश्चात्ताप नही करता है, ऐसा आचार्य, उपाध्याय आदि के लिए सविभाग करने वाला, सग्रह एव उपकार करने मे कुशल साधक ही इस अस्तेयव्रत का आराधक होता है।

विवेचन— प्रस्तुत पाठ मे बतलाया गया है कि अस्तेयव्रत का आराधना के लिए किन-किन योग्यताओ की आवश्यकता है ? जिस साधक मे मूल पाठ मे उल्लिखित गुण विद्यमान होते हैं, वही वास्तव मे इस व्रत का पालन करने मे समर्थ होता है। वैयावृत्य (सेवा) के दस भेद बतलाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

वेयावच्च वावडभावो इह धम्मसाहणनिमित्त ।
अन्नाइयाण विहिणा, सपायणमेस भावत्थो ।।
आयरिय-उवज्झाए थेर-तपस्वी-गिलाण-सेहाण ।
साहम्मिय-कुल-गण-सघ-सगय तमिह कायव्व ।।[1]

अर्थात्—धर्म की साधना के लिए विधिपूर्वक आचार्य आदि के लिए अन्न आदि उपयोगी वस्तुओ का सपादन करना—प्राप्त करना वैयावृत्य कहलाता है।

वैयावृत्य के पात्र दस है—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शैक्ष (७) सार्धमिक (८) कुल (९) गण और (१०) सघ। साधु को इन दस की सेवा करनी चाहिए, अतएव वैयावृत्य के भी दस प्रकार होते हैं।

१. **आचार्य**—सघ के नायक, पचविध आचार का पालन करने-कराने वाले।
२. **उपाध्याय**—विशिष्ट श्रुतसम्पन्न, साधुओ को सूत्रशिक्षा देने वाले।
३. **स्थविर**—श्रुत, वय अथवा दीक्षा की अपेक्षा वृद्ध साधु, अर्थात् स्थानाग-समवायाग आदि आगमो के विज्ञाता, साठ वर्ष से अधिक वय वाले अथवा कम से कम बीस वर्ष की दीक्षा वाले।
४. **तपस्वी**—मासखमण आदि विशिष्ट तपश्चर्या करने वाले।
५. **ग्लान**—रुग्ण मुनि।
६. **शैक्ष**—नवदीक्षित।
७. **साधर्मिक**—सदृश समाचार वाले तथा समान वेष वाले।
८. **कुल**—एक गुरु के शिष्यो का समुदाय अथवा एक वाचनाचार्य मे ज्ञानाध्ययन करने वाले।
९. **गण**—अनेक कुलो का समूह।
१०. **सघ**—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओ का समूह।

इन सब का वैयावृत्य निर्जरा के हेतु करना चाहिए, यश-कीर्त्ति आदि के लिए नही। भगवान् ने वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप के रूप मे प्रतिपादित किया है। इसका सेवन दोहरे लाभ का कारण है—वैयावृत्यकर्त्ता कर्मनिर्जरा का लाभ करता है और जिनका वैयावृत्य किया जाता है, उनके चित्त में समाधि, सुख-शान्ति उत्पन्न होती है।

सार्धमिक बारह प्रकार के है। उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. नामसार्धमिक—दो या अधिक व्यक्तियो में नाम की समानता होना। जैसे देवदत्त नामक दो व्यक्तियो मे नाम की समानता है।

---

१. अभयदेवटीका से उद्धृत

२. स्थापनासाधर्मिक—साधर्मिक के चित्र आदि में उसकी स्थापना करना।
३. द्रव्यसाधर्मिक—जो भूतकाल मे साधर्मिक था या भविष्यत् में होगा, वर्त्तमान में नही है।
४. क्षेत्रसाधर्मिक—एक ही क्षेत्र—देश या नगर आदि के निवासी।
५. कालसाधर्मिक—जो समकालीन हो या एककालोत्पन्न हो।
६. प्रवचनसाधर्मिक—एक सिद्धान्त को मानने वाले, समान श्रद्धा वाले।
७. लिंगसाधर्मिक—एक ही प्रकार के वेष वाले।
८. दर्शनसाधर्मिक—जिनका सम्यग्दर्शन समान हो।
९. ज्ञानसाधर्मिक—मति आदि ज्ञानो की समानता वाले।
१०. चारित्रसाधर्मिक—समान चारित्र-आचार वाले।
११. अभिग्रहसाधर्मिक—एक-से अभिग्रह वाले, आहारादि के विषय में जिन्होने एक-सी प्रतिज्ञा अगीकार की हो।
१२. भावनासाधर्मिक—समान भावना वाले—अनित्यादि भावनाओ मे समान रूप से विचरने वाले।

प्रस्तुत मे प्रवचन, लिग और चारित्र की अपेक्षा साधर्मिक समझना चाहिए, अन्य अपेक्षाओ से नही।

एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि परनिन्दा और पर को दोष देना दोष तो है किन्तु अदत्तादान के साथ उनका सम्बन्ध जोडना कैसे उपयुक्त हो सकता है? अर्थात् जो परनिन्दा करता है और पर के साथ द्वेष करता है, वह अदत्तादानविरमण व्रत का पालन नही कर सकता और जो यह नही करता वही पालन कर सकता है, ऐसा क्यो कहा गया है?

इस प्रश्न का समाधान आचार्य अभयदेव ने इस प्रकार किया है—

सामीजीवादत्ततित्थयरेण तहेव य गुरूहिं।

अर्थात् अदत्त चार प्रकार का है स्वामि-अदत्त अर्थात् स्वामी के द्वारा विना दिया, जीव-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त और गुरु-अदत्त।

निन्दा निन्दनीय व्यक्ति द्वारा तथा तीर्थंकर और गुरु द्वारा अननुज्ञात (अदत्त) है, इसी प्रकार दोष देना भी दूषणीय जीव एव तीर्थंकर-गुरु द्वारा अननुज्ञात है, अतएव इनका सेवन अननुज्ञात—अदत्त का सेवन करना है। इस प्रकार अदत्तादान-त्यागी को परनिन्दा और दूसरे को दोष लगाना या किसी पर द्वेष करना भी त्याज्य है।

शेष सुगम है।

आराधना का फल

१३३—इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउवसमणं।

१३३—परकीय द्रव्य के हरण से विरमण (निवृत्ति) रूप इस अस्तेयव्रत की परिरक्षा

के लिए भगवान् तीर्थंकर देव ने यह प्रवचन समीचीन रूप से कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भव में शुभ फल प्रदान करने वाला और भविष्यत् मे कल्याणकारी है। यह प्रवचन शुद्ध है, न्याय-युक्ति-तर्क से सगत है, अकुटिल-मुक्ति का सरल मार्ग है, सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों और पापो को निश्शेष रूप से शान्त कर देने वाला है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अस्तेयव्रत सबधी भगवत्प्रवचन की महिमा बतलाई गई है। साथ ही व्रत के पालनकर्त्ता को प्राप्त होने वाले फल का भी निर्देश किया गया है। आशय स्पष्ट है।

अस्तेय व्रत की पाँच भावनाएँ

१३४—तस्स इमा पंच भावणाओ होंति परदव्व-हरण-वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

१३४—परद्रव्यहरणविरमण (अदत्तादानत्याग) व्रत की पूरी तरह रक्षा करने के लिए पाँच भावनाएँ है, जो आगे कही जा रही हैं।

प्रथम भावना : निर्दोष उपाश्रय

१३५—पढमं—देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कंदरागर-गिरि-गुहा-कम्मंतउज्जाण-जाणसाला-कुवियसाला-मंडव-सुण्णघर-सुसाण-लेण-आवणे अण्णम्मि य एवमाइयम्मि दग-मट्टिय-बीज-हरिय-तसपाणअसंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं।

आहाकम्मबहुले य जे से आसित्त-सम्मज्जिय-उवलित्त-सोहिय-छायण-दूमण-लिंपण-अणुलिंपण-जलण-भंडचालणं अंतो बहिं च असंजमो जत्थ वड्ढइ संजयाण अट्ठा वज्जियव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे।

एवं विवित्तवासवसहिसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं-अहिगरणकरणकारावण-पावकम्मविरओ दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३५—पांच भावनाओ मे से प्रथम भावना (विविक्त एव निर्दोष वसति का सेवन करना) है। वह इस प्रकार है—देवकुल—देवालय, सभा—विचार-विमर्श का स्थान अथवा व्याख्यानस्थान, प्रपा—प्याऊ, आवसथ—परिव्राजको के ठहरने का स्थान, वृक्षमूल, आराम—लतामण्डप आदि से युक्त, दम्पतियों के रमण करने योग्य बगीचा, कन्दरा-गुफा, आकर—खान, गिरिगुहा—पर्वत की गुफा, कर्म—जिसके अन्दर सुधा (चूना) आदि तैयार किया जाता है, उद्यान—फूल वाले वृक्षो से युक्त बाग, यानशाला—रथ आदि रखने की जगह, कुप्यशाला—घर का सामान रखने का स्थान, मण्डप—विवाह आदि के लिए या यज्ञादि के लिए बनाया गया मण्डप, शून्य घर, श्मशान, लयन—पहाड़ में बना गृह तथा दुकान मे और इसी प्रकार के अन्य स्थानो में जो भी सचित्त जल, मृत्तिका, बीज, दूब आदि हरित और चींटी-मकोड़े आदि त्रस जीवो से रहित हो, जिसे गृहस्थ ने अपने लिए बनवाया हो, प्रासुक—निर्जीव हो, जो स्त्री, पशु एव नपुंसक के ससर्ग से रहित हो और इस कारण जो प्रशस्त हो, ऐसे उपाश्रय मे साधु को विहरना चाहिए—ठहरना चाहिए।

(किस प्रकार के उपाश्रय—स्थान मे नही ठहरना चाहिए ? इसका उत्तर यह है—) साधुओं

के निमित्त जिसके लिए हिंसा की जाए, ऐसे आधाकर्म की बहुलता वाले, आसिक्त– जल के छिड़काव वाले, समार्जित—बुहारी से साफ किए हुए, उत्सिक्त—पानी से खूब सीचे हुए, शोभित—सजाए हुए, छादन—डाभ आदि से छाये हुए, दूमन--कलई आदि से पोते हुए, लिम्पन—गोबर आदि से लीपे हुए, अनुलिपन—लीपे को फिर लीपा हो, ज्वलन—अग्नि जलाकर गर्म किये हुए या प्रकाशित किए हुए, भाण्डो—सामान को इधर-उधर हटाए हुए अर्थात् जिस साधु के लिए कोई सामान इधर-उधर किया गया हो और जिस स्थान के अन्दर या बाहर (समीप मे) जीवविराधना होती हो, ये सब जहाँ साधुओ के निमित्त से हो, वह स्थान—उपाश्रय साधुओ के लिए वर्जनीय है। ऐसा स्थान शास्त्र द्वारा निषिद्ध है।

इस प्रकार विविक्त—निर्दोष वास—स्थान मे वसतिरूप समिति के योग से भावित अन्त करण वाला मुनि सदैव दुर्गति के कारण पापकर्म के करने और करवाने से निवृत्त होता—बचता है तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह मे रुचि वाला होता है।

द्वितीय भावना : निर्दोष संस्तारक

१३६—बिइयं—आराम-उज्जाण-काणण-वणप्पदेसभागे जं किंचि इक्कडं च कठिणगं च जतुगं च परामेरकुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ गिण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा ण कप्पए उग्गहे अदिण्णम्मि गिण्हिउं जे हणि हणि उग्गहं अणुण्णवियं गिण्हियव्वं।

एवं उग्गहसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३६—दूसरी भावना निर्दोष सस्तारकग्रहण सबधी है। आराम, उद्यान, कानन—नगरसमीपवर्ती वन और वन—नगर से दूर का वनप्रदेश आदि स्थानो मे जो कुछ भी (अचित्त) इक्कड जाति का घास तथा कठिन—घास की एक जाति, जन्तुक—पानी में उत्पन्न होने वाला घास, परा नामक घास, मेरा—मू ज के तन्तु, कूर्च—कू ची बनाने योग्य घास, कुश, डाभ, पलाल, मूयक नामक घास, वल्वज घास, पुष्प, फल, त्वचा, प्रवाल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ और शर्करा आदि द्रव्य सस्तारक रूप उपधि के लिए अथवा सस्तारक एव उपधि के लिए ग्रहण करता है तो इन उपाश्रय के भीतर की ग्राह्य वस्तुओ को दाता द्वारा दिये विना ग्रहण करना नही कल्पता। तात्पर्य यह है कि उपाश्रय की अनुज्ञा ले लेने पर भी उपाश्रय के भीतर की घास आदि लेना हो तो उनके लिए पृथक् रूप से अनुज्ञा प्राप्त करना चाहिए। उपाश्रय की अनुज्ञा प्राप्त कर लेने मात्र से उसमें रखी अन्य तृण आदि वस्तुओ के लेने की अनुज्ञा ले ली, ऐसा नही मानना चाहिए।

इस प्रकार अवग्रहसमिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म के करने और कराने से निवृत्त होता—बचता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

तृतीय भावना : शय्या-परिकर्म वर्जन

१३७—तइयं—पीढफलगसिज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खा ण छिंदियव्वा, ण छेयणेण भेयणेण सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्जं तत्थेव गवेसिज्जा, ण य विसमं समं करेज्जा, ण णिवाय-

पव्वायउस्सुगत्तं, ण डंसमसगेसु खुभियव्वं, अग्गी धूमो ण कायव्वो, एवं संजमबहुले संवरबहुले संवुडबहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयंतो सयय सज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरिज्ज धम्मं।

एवं सेज्जासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरण-करणकारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३७--तीसरी भावना शय्या-परिकर्मवर्जन है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए वृक्षो का छेदन नही करना चाहिए। वृक्षो के छेदन या भेदन से शय्या तैयार नही करवानी चाहिए। साधु जिसके उपाश्रय मे निवास करे—ठहरे, वही शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि यदि विषम (ऊँची-नीची) हो तो उसे सम न करे। पवनहीन स्थान को अधिक पवन वाला अथवा अधिक पवन वाले स्थान को पवनरहित—कम पवन वाला बनाने के लिए उत्सुक न हो--ऐसा करने की अभिलाषा भी न करे, डॉस—मच्छर आदि के विषय मे क्षुब्ध नही होना चाहिए और उन्हे हटाने के लिए धूम आदि नही करना चाहिए। इस प्रकार सयम की बहुलता—प्रधानता वाला, सवर की प्रधानता वाला, कषाय एव इन्द्रियो के निग्रह की प्रधानता वाला, अतएव समाधि की प्रधानता वाला धैर्यवान् मुनि काय से इस व्रत का पालन करता हुआ निरन्तर आत्मा के ध्यान मे निरत रहकर, समितियुक्त रह कर और एकाकी -रागद्वेष से रहित होकर धर्म का आचरण करे।

इस प्रकार शय्यासमिति के योग से भावित अन्तरात्मा वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म से विरत होता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

चतुर्थ भावना : अनुज्ञात भक्तादि

१३८--**चउत्थं -साहारण-पिंडपायलाभे सति भोत्तव्वं संजएणं समियं, ण सायसूपाहियं, ण खद्धं, ण वेगियं, ण तुरियं, ण चवलं,, ण साहसं, ण य परस्स पीलाकरसावज्जं तह भोत्तव्वं जह से तइयवयं ण सीयइ। साहारणपिंडपायलाभे सुहुमं अदिण्णादाणवयणियमविरमणं।**

एवं साहारणपिंडपायलाभे समिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३८ -चौथी भावना अनुज्ञातभक्तादि है। वह इस प्रकार है— सब साधुओ के लिए साधारण सम्मिलित आहार-पानी आदि मिलने पर साधु को सम्यक् प्रकार से—यतनापूर्वक खाना चाहिए। शाक और सूप की अधिकता वाला भोजन— सरस-स्वादिष्ट भोजन अधिक (या शीघ्रतापूर्वक) नही खाना चाहिए (क्योंकि ऐसा करने से अन्य साधुओ को अप्रीति उत्पन्न होती है और वह भोजन अदत्त हो जाता है)। तथा वेगपूर्वक— जल्दी-जल्दी कवल निगलते हुए भी नही खाना चाहिए। त्वरा के साथ नही खाना चाहिए। चञ्चलतापूर्वक नही खाना चाहिए और न विचारविहीन होकर खाना चाहिए। जो दूसरो को पीडाजनक हो ऐसा एव सदोष नही खाना चाहिए। साधु को इस रीति से भोजन करना चाहिए जिससे उसके तीसरे व्रत मे बाधा उपस्थित न हो। यह अदत्तादानविरमणव्रत का सूक्ष्म—अत्यन्त रक्षा करने योग्य नियम है।

इस प्रकार सम्मिलत भोजन के लाभ मे समिति के योग से भावित अन्त करण वाला साधु सदा दुर्गतिहेतु पापकर्म से विरत होता है और दत्त एव अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

पंचमी भावना : साधर्मिक-विनय

१३९—पंचमगं—साहम्मिए विणओ पउंजियव्वो, उवगरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, णिक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियव्वो। विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो गुरुसु साहुसु तवस्सीसु य।

एवं विणएण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिगरणं करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३९—पाँचवी भावना साधर्मिक-विनय है। साधर्मिक के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। (रुग्णता आदि की स्थिति मे) उपकार और तपस्या की पारणा—पूर्त्ति मे विनय का प्रयोग करना चाहिए। वाचना अर्थात् सूत्रग्रहण मे और परिवर्त्तना अर्थात् गृहीत सूत्र की पुनरावृत्ति में विनय का प्रयोग करना चाहिए। भिक्षा मे प्राप्त अन्न आदि अन्य साधुओ को देने मे तथा उनसे लेने मे और विस्मृत अथवा शकित सूत्रार्थ सम्बन्धी पृच्छा करने मे विनय का प्रयोग करना चाहिए। उपाश्रय से बाहर निकलते और उसमें प्रवेश करते समय विनय का प्रयोग करना चाहिए। इनके अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य सैकड़ो कारणो मे (कार्यों के प्रसग मे) विनय का प्रयोग करना चाहिए। क्योकि विनय भी अपने आप मे तप है और तप भी धर्म है। अतएव विनय का आचरण करना चाहिए।

विनय किनका करना चाहिए ?

गुरुजनो का, साधुओ का और (तेला आदि) तप करने वाले तपस्वियो का।

इस प्रकार विनय से युक्त अन्त करण वाला साधु अधिकरण—पाप के करने और करवाने से विरत तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह मे रुचिवाला होता है। शेष पाठ का अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

विवेचन—तृतीय व्रत की पाँच भावनाएँ (सूत्राङ्क १३५ से १३९ तक) प्रतिपादित की गई है। प्रथम भावना मे निर्दोष उपाश्रय को ग्रहण करने का विधान किया गया है। आधुनिक काल में उपाश्रय शब्द से एक विशिष्ट प्रकार के स्थान का बोध होता है और सर्वसाधरण मे वही अर्थ अधिक प्रचलित है। किन्तु वस्तुतः जिस स्थान मे साधुजन ठहर जाते हैं, वही स्थान उपाश्रय कहलाता है। यहाँ ऐसे कतिपय स्थानो का उल्लेख किया गया है जिनमे साधु ठहरते थे। वे स्थान है—देवकुल—देवालय, सभाभवन, प्याऊ, मठ, वृक्षमूल, बाग-बगीचे, गुफा, खान, गिरिगुहा, कारखाने, उद्यान, यानशाला (रथादि रखने के स्थान), कुप्यशाला—घरगृहस्थी का सामान रखने की जगह, मण्डप, शून्यगृह, श्मशान, पर्वतगृह, दुकान आदि।

इन या इस प्रकार मे अन्य जिन स्थानो मे साधु निवास करे वह निर्दोष होना चाहिए। साधु के निमित्त से उसमें किसी प्रकार का झाडना-पौंछना, लीपना-पोतना आदि आरम्भ-समारम्भ न किया जाए।

द्वितीय भावना का आशय यह है कि निर्दोष उपाश्रय को अनुमति प्राप्त हो जाने पर भी उसमें रखे हुए घास, पयाल, आदि की साधु को आवश्यकता हो तो उसके लिए पृथक् रूप से उसके स्वामी की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा नही मानना चाहिए कि उपाश्रय की अनुमति ले लेने मे उसके भीतर की वस्तुओ की भी अनुमति प्राप्त कर ली। जो भी वस्तु ग्रहण करनी हो वह निर्दोष और दत्त ही होनी चाहिए।

तीसरी भावना शय्यापरिकर्मवर्जन है। इसका अभिप्राय है कि साधु के निमित्त से पीठ, फलक आदि बनवाने के लिए वृक्षो का छेदन-भेदन नही होना चाहिए। उपाश्रय मे ही शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि विषम हो तो उसे समतल नही करना चाहिए। वायु अधिक आए या कम आए, इसके लिए उत्कठित होना नही चाहिए। उपाश्रय मे डास—मच्छर सताएँ तो चित्त मे क्षोभ उत्पन्न नही होने देना चाहिए—उस समय मे समभाव रहना चाहिए। डास—मच्छर भगाने के लिए आग या धूम का प्रयोग करना नही चाहिए आदि।

चौथी भावना का सम्बन्ध प्राप्त आहारादि के उपभोग के साथ है। साधु जब अन्य साधुओ के साथ आहार करने बैठे तो सरस आहार जल्दी-जल्दी न खाए, अन्य साधुओ को ठेस पहुँचे, इस प्रकार न खाए। साधारण अर्थात् अनेक साधुओ के लिए सम्मिलित भोजन का उपभोग समभाव-पूर्वक, अनासक्त रूप से करे।

पाँचवी भावना साधर्मिक विनय है। समान आचार-विचार वाले साधु, साधु के लिए साधर्मिक कहलाते हैं बीमारी आदि की अवस्था मे अन्य के द्वारा जो उपकार किया जाता है, वह उपकरण है। उपकरण एव तपश्चर्या की पारणा के समय विनय का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इच्छाकारादि देकर, जबर्दस्ती न करते हुए एकत्र या अनेकत्र गुरु की आज्ञा से भोजन करना चाहिए। वाचना, परिवर्तन एव पृच्छा के समय विनय-प्रयोग का आशय है वन्दनादि विधि करना। आहार के देते-लेते समय विनयप्रयोग का अर्थ है—गुरु की आज्ञा प्राप्त करके देना-लेना। उपाश्रय से बाहर निकलते और उपाश्रय मे प्रवेश करते समय विनयप्रयोग का अर्थ आवश्यकी और नैषेधिकी करना आदि है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक क्रिया आगमादेश के अनुसार करना ही यहाँ विनयप्रयोग कहा गया है।

उपसंहार

१४०--एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ, सुप्पणिहियं, एवं जाव पंचहि वि कारणेहि मण-वयण काय-परिरक्खिएहि णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अछिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एवं तइयं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवइ।

एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं ।

।। तइयं संवरदारं समत्तं ।। त्तिबेमि ।।

१४०--इस प्रकार (आचरण करने) से यह तीसरा संवरद्वार समीचीन रूप से पालित और सुरक्षित होता है । इस प्रकार यावत् तीर्थंकर भगवान् द्वारा कथित है, सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट है और प्रशस्त है । शेष शब्दों का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए ।

।। तृतीय संवरद्वार समाप्त ।।

चतुर्थ अध्ययन : ब्रह्मचर्य

तृतीय संवरद्वार मे श्रदत्तादानविरमणव्रत का निरूपण किया गया है। उसका सम्यक् प्रकार से परिपालन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण श्रौर पालन करने पर ही हो सकता है। श्रतएव श्रदत्ता-दानविरमण के श्रनन्तर ब्रह्मचर्य का निरूपण किया जा रहा है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

१४१--जंबू ! इत्तो य बंभचेरं उत्तम-तव-णियम-णाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणय-मूलं, यम-नियम-गुणप्पहाणजुत्तं, हिमवंतमहंततेयमंतं, पसत्थगंभीरथिमियमज्झं, श्रज्जवसाहुजणाचरियं, मोक्खमग्गं, विसुद्धसिद्धिगइणिलयं, सासयमव्वाबाहमपुणब्भवं, पसत्थं, सोमं, सुभं, सिवमयलमक्खय-करं जइवरसारक्खियं, सुचरियं, सुभासियं,[1] णवरि मुणिवरेहिं महापुरिसधीरसूरधम्मियधिइमंताण य सया विसुद्धं, सव्वं भव्वजणाणुचिण्णं, णिस्संकियं णिब्भयं णित्तुसं, णिरायासं णिरुवलेवं णिव्वुइघरं णियमणिप्पकंपं तवसंजममूलदलियणेम्मं पंचमहव्वयसुरक्खियं समिइगुत्तिगुत्तं।

झाणवरकवाडसुकयं[2] श्रज्झप्पदिण्णफलिहं सण्णद्धो[3] च्छइयदुग्गइपहं सुगइपहदेसगं च लोगु-त्तमं च।

वयमिणं पउमसरतलागपालिभूयं महासगडश्ररगतुंबभूयं महाविडिमरुक्खखंधभूयं महाणगर-पागारकवाडफलिहभूयं रज्जुपिणिद्धो व इंदकेऊ विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं, जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं संभग्गमथियचुण्णियकुसल्लिय-पल्लट्ट-पडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं विणयसीलतवणियम-गुणसमूहं। तं बंभं भगवंतं।

१४१--हे जम्बू ! श्रदत्तादानविरमण के श्रनन्तर ब्रह्मचर्य व्रत है। यह ब्रह्मचर्य श्रनशन श्रादि तपों का, नियमों—उत्तरगुणों का, ज्ञान का, दर्शन का, चारित्र का, सम्यक्त्व का श्रौर विनय का मूल है। यह श्रहिंसा श्रादि यमों श्रौर गुणों मे प्रधान नियमों से युक्त है। यह हिमवान् पर्वत से भी महान् श्रौर तेजोवान् है। प्रशस्य है, गम्भीर है। इसकी विद्यमानता मे मनुष्य का श्रन्तःकरण स्थिर हो जाता है। यह सरलात्मा साधुजनों द्वारा श्रासेवित है श्रौर मोक्ष का मार्ग है। विशुद्ध—रागादिरहित निर्मल—सिद्धिगतिरूपी गृह वाला है—सिद्धि के गृह के समान है। शाश्वत एवं श्रव्याबाध तथा पुनर्भव से रहित बनाने वाला है। यह प्रशस्त—उत्तम गुणों वाला, सौम्य—शुभ या सुखरूप है। शिव—सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित, श्रचल श्रौर श्रक्षय—कभी क्षीण न होने वाले पद (पर्याय—मोक्ष) को

१ पाठान्तर—'सुसाहियं'।

२. पाठान्तर—'सुकय रक्खण' है।

३. पाठान्तर—'सण्णद्धो' के स्थान 'सण्णद्धबद्धो' भी है।

प्रदान करने वाला है। उत्तम मुनियो द्वारा सुरक्षित है, सम्यक् प्रकार से आचरित है और उपदिष्ट है। श्रेष्ठ मुनियों—महापुरुषो द्वारा जो धीर, शूरवीर और धार्मिक धैर्यशाली हैं, सदा अर्थात् कुमार आदि अवस्थाओ मे भी विशुद्ध रूप से पाला गया है। यह कल्याण का कारण है। भव्यजनो द्वारा इसका आराधन—पालन किया गया है। यह शकारहित है अर्थात् ब्रह्मचारी पुरुष विषयी के प्रति निस्पृह होने से लोगो के लिए शकनीय नही होते—उन पर कोई शका नही करना। अशकनीय होने से ब्रह्मचारी निर्भीक रहता है—उसे किसी से भय नही होता है। यह व्रत निस्सारता से रहित—शुद्ध तदुल के समान है। यह खेद से रहित और रागादि के लेप से रहित है। चित्त की शान्ति का स्थल है और नियमत: अविचल है। यह तप और सयम का मूलाधार—नीव है। पाँच महाव्रतो में विशेष रूप से सुरक्षित, पाँच समितियो और तीन गुप्तियो से गुप्त (रक्षित) है। रक्षा के लिए उत्तम ध्यान रूप सुनिर्मित कपाट वाला तथा अध्यात्म—सद्भावनामय चित्त ही (ध्यान—कपाट को दृढ करने के लिए) लगी हुई अर्गला—आगल वाला है। यह व्रत दुर्गति के मार्ग को रुद्ध एव आच्छादित कर देने वाला अर्थात् रोक देने वाला है और सद्गति के पथ को प्रदर्शित करने वाला है। यह ब्रह्मचर्यव्रत लोक मे उत्तम है।

यह व्रत कमलो से सुशोभित सर (स्वत. बना तालाब) और तडाग (पुरुषो द्वारा निर्मित तालाब) के समान (मनोहर) धर्म की पाल के समान है, अर्थात् धर्म की रक्षा करने वाला है। किसी महाशकट के पहियो के आरों के लिए नाभि के समान है, अर्थात् धर्म-चारित्र का आधार है—ब्रह्मचर्य के सहारे ही क्षमा आदि धर्म टिके हुए हैं। यह किसी विशाल वृक्ष के स्कन्ध के समान है, अर्थात् जैसे विशाल वृक्ष की शाखाएँ, प्रशाखाएँ, टहनियाँ, पत्ते, पुष्प, फल आदि का आधार स्कन्ध होता है, उसी प्रकार समस्त प्रकार के धर्मों का आधार ब्रह्मचर्य है। यह महानगर के प्राकार परकोटा के कपाट की अर्गला के समान है। डोरी से बँधे इन्द्रध्वज के सदृश है। अनेक निर्मल गुणो से व्याप्त है। (यह ऐसा आधारभूत व्रत है) जिसके भग्न होने पर सहसा—एकदम सब विनय, शील, तप और गुणो का समूह फूटे घडे की तरह सभग्न हो जाता है, दही की तरह मथित हो जाता है, आटे की भाँति चूर्ण—चूरा-चूरा हो जाता है, काँटे लगे शरीर की तरह शल्ययुक्त हो जाता है, पर्वत से लुढकी शिला के समान लुढका हुआ—गिरा हुआ, चीरी या तोडी हुई लकडी की तरह खण्डित हो जाता है तथा दुरवस्था को प्राप्त और अग्नि द्वारा दग्ध होकर बिखरे काष्ठ के समान विनष्ट हो जाता है। वह ब्रह्मचर्य भगवान् है—अतिशयसम्पन्न है।

विवेचन—शास्त्रकार ने प्रस्तुत पाठ मे प्रभावशाली शब्दो मे ब्रह्मचर्य की महिमा का वास्तविक निरूपण किया है। उसे तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्यक्त्व एव विनय का मूल कहा है। इसका आशय यह है कि ब्रह्मचर्यनिष्ठ उत्तम पुरुष ही उत्तम तप आदि का पालन करने मे समर्थ हो सकता है, ब्रह्मचर्य के अभाव मे इन सब का उत्कृष्ट रूप से आराधन नही हो सकता। कहा है—

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ झाणी वक्कली तपस्सी वा।
पत्थंतो य अबभं, बंभावि न रोयए मज्झ॥

तो पढिय तो गुणिय, तो मुणिय तो य चेइग्रो ग्रप्पा ।
ग्रावडियपेल्लियामतिग्रोवि न कुणइ ग्रकज्ज ।।[1]

ग्रर्थात् भले कोई कायोत्सर्ग में स्थित रहे, भले मौन धारण करके रहता हो, ध्यान मे मगन हो, छाल के कपडे धारण करता हो या तपस्वी हो, यदि वह ग्रब्रह्मचर्य की ग्रभिलाषा करता है तो मुझे नही सुहाता, फिर भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यो न हो !

शास्त्रादि का पढना, गुनना- मनन करना, ज्ञानी होना ग्रौर ग्रात्मा का बोध होना तभी सार्थक है जब विपत्ति ग्रा पडने पर भी ग्रौर सामने से ग्रामत्रण मिलने पर भी मनुष्य ग्रकार्य ग्रर्थात ग्रब्रह्म सेवन न करे ।

ग्राशय यह है कि ब्रह्मचर्य की विद्यमानता मे ही तप, नियम ग्रादि का निर्दोष रूप से पालन सभव है । जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया उसका समग्र ग्राचार खण्डित हो जाता है । इस तथ्य पर मूल पाठ मे बहुत बल दिया गया है । जमीन पर पटका हुग्रा घडा जैसे फूट जाता है—किसी काम का नही रहता वैसे ही ब्रह्मचर्य के विनष्ट होने पर समग्र गुण नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मचर्य के भग होने पर ग्रन्य समस्त गुण मथे हुए दही जैसे, पिसे हुए धान्य जैसे चूर्ण-विचूर्ण (चूरा-चूरा) हो जाते है । इत्यादि ग्रनेक उदाहरणो से इस तथ्य को समझाया गया है ।

जैसे कमलो से सुशोभित सरोवर की रक्षा पाली से होती है, उसी प्रकार धर्म की रक्षा ब्रह्मचर्य मे होती है ।

जैसे रथ ग्रादि के चक्र मे लगे हुए ग्रारो का मूल ग्राधार उसकी नाभि है, नाभि के ग्रभाव मे या उसके क्षतिग्रस्त हो जाने पर ग्रारे टिक नही सकते । ग्रारो के ग्रभाव मे पहिये काम के नही रहते ग्रौर पहियो के ग्रभाव मे रथ गतिमान् नही हो सकता । इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के विना धर्म या चारित्र भी ग्रनुपयोगी सिद्ध होता है, वह इष्टसम्पादक नही बनता ।

धर्म महानगर है । उसकी सुरक्षा के लिए व्रत नियम ग्रादि का प्राकार खडा किया गया है । प्राकार में फाटक होते हैं, दृढ कपाट होते है ग्रौर कपाटो की मजबूती के लिए ग्रर्गला होती है । ग्रर्गला से द्वार सुदृढ हो जाता है ग्रौर उसमे उपद्रवी लोग या शत्रु प्रवेश नही कर सकते । ब्रह्मचर्य वह ग्रर्गला है जिसकी दृढता के कारण धर्म-नगर का चारित्ररूपी प्राकार ऐसा बन जाता है कि उसमे धर्मविरोधी तत्त्व—पाप का प्रवेश नही हो पाता ।

इस प्रकार के ग्रनेक दृष्टान्तो मे ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है । पाठक सरलता से इसका ग्राशय समझ सकते हैं ।

मूल पाठ में ब्रह्मचर्य के लिए **'सया विसुद्धं'** विशेषण का प्रयोग किया गया है । टीकाकार ने इसका ग्रर्थ सदा ग्रर्थात् 'कुमार ग्रादि सभी ग्रवस्थाग्रो मे' किया है । कुछ लोग कहते हैं कि—

ग्रपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा, पश्चाद्धर्मं चरिष्यसि ।।

---

१ ग्रभयदेवटीका, पृ. १३२ (ग्रागमोदय०)

अर्थात् निपूते—पुत्रहीन पुरुष को सद्गति प्राप्त नही होती । स्वर्ग तो कदापि मिल ही नही सकता । अतएव पुत्र का मुख देख कर—पहले पुत्र को जन्म देकर पश्चात् यतिधर्म का आचरण करना ।

वस्तुत: यह कथन किसी मोहग्रस्त पिता का अपने कुमार पुत्र को सन्यास ग्रहण करने से विरत करने के लिए है । 'चरिष्यसि' इस क्रियापद से यह आशय स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है । यह किसी सम्प्रदाय या परम्परा का सामान्य विधान नही है, अन्यथा 'चरिष्यसि' के स्थान पर 'चरेत्' अथवा इसी अर्थ को प्रकट करने वाली कोई अन्य क्रिया होती ।

इसके अतिरिक्त जिस परम्परा से इसका सम्बन्ध जोडा जाता है, उसी परम्परा मे यह भी मान्य किया गया है—

अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिव गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ।।

अर्थात् कुमार—अविवाहित ब्रह्मचारी सहस्रो की सख्या मे कुल—सन्तान (पुत्र आदि) उत्पन्न किए विना ही स्वर्ग मे गए हैं ।

तात्पर्य यह है कि स्वर्गप्राप्ति के लिए पुत्र को जन्म देना आवश्यक नही है । स्वर्ग प्राप्ति यदि पुत्र उत्पन्न करने से होती हो तो वह बडी सस्ती, सुलभ और सुसाध्य हो जाए ! फिर तो कोई विरला ही स्वर्ग से वचित रहे !

सम्भव है 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह प्रवाद उस समय प्रचलित हुआ हो जब श्राद्ध करने की प्रथा चालू हुई । उस समय भोजन लोलुप लोगो ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि पुत्र अवश्य उपत्न्न करना चाहिए । पुत्र न होगा तो पितरो का श्राद्ध कौन करेगा ! श्राद्ध नही किया जाएगा तो पितर भूखे-प्यासे रहेगे और श्राद्ध मे भोजन करने वालो को उत्तम खीर आदि से वचित रहना पडेगा ।

किन्तु यह लोकप्रवाद मात्र है । मृतक जन अपने-अपने किये कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि गतियाँ प्राप्त कर लेते है । अतएव श्राद्ध मे ब्राह्मणो को खिलाने-पिलाने का उनके सुख-दुःख पर किंचित् भी प्रभाव नही पडता ।

ब्रह्मचर्य उत्तमोत्तम धर्म है और वह प्रत्येक अवस्था मे आचरणीय है । आर्हत परम्परा मे तथा भारतवर्ष की अन्य परम्पराओ मे भी ब्रह्मचर्य की असाधारण महिमा का गान किया गया है । और अविवाहित महापुरुषो के प्रव्रज्या एव सन्यास ग्रहण करने के अगणित उदाहरण उपलब्ध है ।

जिनमत में अन्य व्रतो मे तो अपवाद भी स्वीकार किए गए हैं किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत निरपवाद कहा गया है—

न वि किंचि अणुण्णाय,
पडिसिद्ध वावि जिणवरिंदेहिं ।
मोत्तु मेहुणभाव,
न त विना रागदोसेहिं ।।

अर्थात् जिनवरेन्द्र तीर्थंकरों ने मैथुन के सिवाय न तो किसी बात को एकान्त रूप से अनुमत किया है और न एकान्ततः किसी चीज का निषेध किया है—सभी विधि-निषेधों के साथ आवश्यक अपवाद जुड़े हैं। कारण यह है कि मैथुन (तीव्र) राग-द्वेष अथवा राग रूप दोष के विना नहीं होता।

ब्रह्मचर्य की इस असामान्य महिमा के कारण ही—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जं करेंति ते।।

अर्थात् जो महाभाग दुश्चर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते है, ऐसे उन ब्रह्मचारियों को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी नमस्कार करते हैं—देवगण भी उनके चरणों मे नतमस्तक होते है।

बत्तीस उपमाओं से मण्डित ब्रह्मचर्य

१४२—तं बंभं भगवंतं—

१. गहगणणक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुवई।
२. मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो।
३. वेरुलिओ चेव जहा मणीणं।
४. जहा मउडो चेव भूसणाणं।
५. वत्थाणं चेव खोमजुयलं।
६. अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं।
७. गोसीसं चेव चंदणाणं।
८. हिमवंतो चेव ओसहीणं।
९. सीतोदा चेव णिण्णगाणं।
१०. उदहीसु जहा सयंभूरमणो।
११. रुयगवरे चेव मंडलियपव्वयाण पवरे।
१२. एरावण इव कुंजराणं।
१३. सीहोव्व जहा मियाणं पवरे।
१४. पवगाणं चेव वेणुदेवे।
१५. धरणो जहा पण्णगिंदराया।
१६. कप्पाणं चेव बंभलोए।
१७. सभासु य जहा भवे सुहम्मा।
१८. ठिइसु लवसत्तमव्व पवरा।
१९. दाणाणं चेव अभयदाणं।
२०. किमिराउ चेव कंबलाणं।

२१. संघयणे चेव वज्जरिसहे ।
२२. संठाणे चेव समचउरंसे ।
२३. झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं ।
२४. णाणेसु य परमकेवलं तु पसिद्धं ।
२५. लेसासु य परमसुक्कलेस्सा ।
२६. तित्थयरे चेव जहा मुणीणं ।
२७. वासेसु जहा महाविदेहे ।
२८. गिरिराया चेव मंदरवरे ।
२९. वणेसु जहा णंदणवणं पवरं ।
३०. दुमेसु जहा जंबू, सुदंसणा विस्सुयजसा जीए णामेण य अयं दीवो ।
३१. तुरगवेई गयवई रहवई णरवई जह वीसुए चेव राया ।
३२. रहिए चेव जहा महारहगए ।

एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एगम्मि बंभचेरे । जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइय-पारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य, तम्हा णिहुएण बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ विसुद्धं जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसंजओ त्ति एवं भणियं वयं भगवया ।

१४२—ब्रह्मचर्य की बत्तीस उपमाएँ इस प्रकार हैं—

१. जैसे ग्रहगण, नक्षत्रों और तारागण मे चन्द्रमा प्रधान होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है ।
२ मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल और लाल (रत्न) की उत्पत्ति के स्थानो (खानो) मे समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सर्व व्रतो का श्रेष्ठ उद्भवस्थान है ।
३ इसी प्रकार ब्रह्मचर्य मणियो मे वैडूर्यमणि के समान उत्तम है ।
४ आभूषणो मे मुकुट के समान है ।
५ समस्त प्रकार के वस्त्रो मे क्षौमयुगल - कपास के वस्त्रयुगल के सदृश है ।
६ पुष्पो मे श्रेष्ठ अरविन्द—कमलपुष्प के समान है ।
७. चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन के समान है ।
८ जैसे ओषधियो—चामत्कारिक वनस्पतियो का उत्पत्तिस्थान हिमवान् पर्वत है, उसी प्रकार आमर्शौषधि आदि (लब्धियो) की उत्पत्ति का स्थान ब्रह्मचर्य है ।
९. जैसे नदियो में शीतोदा नदी प्रधान है, वैसे ही सब व्रतो में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।
१० समस्त समुद्रो मे स्वयंभूरमण समुद्र जैसे महान् है, उसी प्रकार व्रतो में ब्रह्मचर्य महत्त्वशाली है ।
११ जैसे माण्डलिक अर्थात् गोलाकार पर्वतो मे रुचकवर (तेरहवे द्वीप मे स्थित) पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

१२. इन्द्र का ऐरावण नामक गजराज जैसे सर्व गजराजो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब व्रतो में ब्रह्मचर्य है।
१३. ब्रह्मचर्य वन्य जन्तुओ मे सिंह के समान प्रधान है।
१४ ब्रह्मचर्य सुपर्णकुमार देवो मे वेणुदेव के समान श्रेष्ठ है।
१५ जैसे नागकुमार जाति के देवो मे धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतो में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
१६ ब्रह्मचर्य कल्पों मे ब्रह्मलोक कल्प के समान उत्तम है, क्योकि प्रथम तो ब्रह्मलोक का क्षेत्र महान् है और फिर वहाँ का इन्द्र अत्यन्त शुभ परिणाम वाला होता है।
१७ जैसे उत्पादसभा, अभिषेकसभा, अलंकारसभा, व्यवसायसभा और सुधर्मासभा, इन पाँचो मे सुधर्मासभा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार व्रतो मे ब्रह्मचर्य है।
१८ जैसे स्थितियो मे लवसप्तमा—अनुत्तरविमानवासी देवो की स्थिति प्रधान है, उसी प्रकार व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है।
१९ सब दानो मे अभयदान के समान ब्रह्मचर्य सब व्रतो मे श्रेष्ठ है।
२० ब्रह्मचर्य सब प्रकार के कम्बलो मे कृमिरागरक्त कम्बल के समान उत्तम है।
२१ संहननो मे वज्रऋषभनाराचसंहनन के समान ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।
२२ संस्थानो मे चतुरस्रसंस्थान के समान ब्रह्मचर्य समस्त व्रतो मे उत्तम है।
२३ ब्रह्मचर्य ध्यानो मे शुक्लध्यान के समान सर्वप्रधान है।
२४ समस्त ज्ञानो मे जैसे केवलज्ञान प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।
२५ लेश्याओ मे परमशुक्ललेश्या जैसे सर्वोत्तम है, वैसे ही सब व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत सर्वोत्तम है।
२६ ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतो मे इसी प्रकार उत्तम है, जैसे सब मुनियो मे तीर्थंकर उत्तम होते हैं।
२७ ब्रह्मचर्य सभी व्रतो मे वैसा ही श्रेष्ठ है, जैसे सब क्षेत्रो मे महाविदेहक्षेत्र उत्तम है।
२८ ब्रह्मचर्य, पर्वतो मे गिरिराज सुमेरु की भाँति सर्वोत्तम व्रत है।
२९. जैसे समस्त वनो मे नन्दनवन प्रधान है, उसी प्रकार समस्त व्रतो में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
३० जैसे समस्त वृक्षो मे सुदर्शन जम्बू विख्यात है, उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्य विख्यात है।
३१ जैसे अश्वाधिपति, गजाधिपति और रथाधिपति राजा विख्यात होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रताधिपति विख्यात है।
३२ जैसे रथिको मे महारथी राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर अनेक गुण स्वतः अधीन—प्राप्त हो जाते है। ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने पर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या सम्बन्धी सम्पूर्ण व्रत अखण्ड रूप से पालित हो जाते हैं, यथा—शील—समाधान, तप, विनय और संयम, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति—निर्लोभता। ब्रह्मचर्यव्रत के प्रभाव से इहलोक और परलोक सम्बन्धी यश और कीर्ति प्राप्त होती है। यह विश्वास का कारण है अर्थात् ब्रह्मचारी पर सब का विश्वास होता है। अतएव एकाग्र—स्थिरचित्त से तीन करण और

तीन योग से विशुद्ध—सर्वथा निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और वह भी जीवनपर्यन्त, मृत्यु के आगमन तक।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत का कथन किया है।

विवेचन—इन बत्तीस उपमाओं द्वारा ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। आशय सुगम है।

महाव्रतों का मूल : ब्रह्मचर्य

१४३—तं च इमं—

पंच महव्वयसुव्वयमूलं, समणमणाइलसाहुसुचिण्णं।
वेरविरामणपज्जवसाणं, सव्वसमुद्दमहोदहितित्थं ॥१॥

१४३—भगवान् का वह कथन इस प्रकार का है—

यह ब्रह्मचर्यव्रत पाँच महाव्रतरूप शोभन व्रतों का मूल है, शुद्ध आचार या स्वभाव वाले मुनियों के द्वारा भावपूर्वक सम्यक् प्रकार से सेवन किया गया है, यह वैरभाव की निवृत्ति और उसका अन्त करने वाला है तथा समस्त समुद्रों में स्वयभूरमण समुद्र के समान दुस्तर किन्तु तैरने का उपाय होने के कारण तीर्थस्वरूप है।

विवेचन—उल्लिखित गाथा में ब्रह्मचर्य की महिमा प्रतिपादित की गई है। ब्रह्मचर्य पाँचों महाव्रतों का मूलाधार है, क्योंकि इसके खण्डित होने पर सभी महाव्रतों का खण्डन हो जाता है और इसका पूर्णरूपेण पालन करने पर ही अन्य महाव्रतों का पालन सम्भव है।

जहाँ सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहाँ वैर-विरोध का स्वतः अन्त हो जाता है। यद्यपि इसके विशुद्ध पालन करने के लिए धैर्य, दृढता एवं सयम की आवश्यकता होती है, अतीव सावधानी बरतनी पड़ती है तथापि इसका पालन करना अशक्य नहीं है। मुनियों ने इसका पालन किया है और भगवान् ने इसके पालन करने का उपाय भी बतलाया है। भव-सागर को पार करने के लिए यह महाव्रत तीर्थ के समान है।

गाथा में प्रयुक्त **'पंचमहव्वयसुव्वयमूलं'** इस पद के अनेक अर्थ होते हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत नामक जो सुव्रत हैं, उनका मूल। (२) पाँच महाव्रतों वाले साधुओं के सुव्रतों—शोभन नियमों का मूल। (३) पाँच महाव्रतों का तथा सुव्रतों अर्थात् अणुव्रतों का मूल और (४) हे पंचमहाव्रत! अर्थात् हे पाँच महाव्रतों को धारण करने के कारण सुव्रत—शोभन व्रतवाले (शिष्य!) यह ब्रह्मचर्य मूल (व्रत) है।

१४४—तित्थयरेहि सुदेसियमग्गं, णरयतिरिच्छविवज्जियमग्गं।
सव्वपवित्तिसुणिम्मियसारं, सिद्धिविमाणअवंगुयदारं ॥२॥

१४४—तीर्थंकर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने के मार्ग—उपाय—गुप्ति आदि, भलीभाँति बतलाए हैं। यह नरकगति और तिर्यञ्चगति के मार्ग को रोकने वाला है, अर्थात् ब्रह्मचर्य

आराधक को नरक-तिर्यंचगति से बचाता है, सभी पवित्र अनुष्ठानों को सारयुक्त बनाने वाला तथा मुक्ति और वैमानिक देवगति के द्वार को खोलने वाला है।

विवेचन—तीर्थंकर भगवान् ने ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष पालने के लिए अचूक उपाय भी प्रदर्शित किये हैं और वे उपाय हैं गुप्ति आदि। नौ वाडो का भी इनमे समावेश होता है। इनके अभाव मे ब्रह्मचर्य की आराधना नही हो सकती।

इस गाथा मे यह भी स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मचर्य का निर्मल रूप से पालन करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है। यदि उसके कर्म कुछ अवशेष रह गए हो तो वह वैमानिक देवो मे उत्पन्न होता है।

१४५—देव-णरिंद-णमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं।
दुद्धरिसं गुणणायगमेक्कं, मोक्खपहस्स वडिंसगभूयं ॥३॥

१४५—देवेन्द्रो और नरेन्द्रो के द्वारा जो नमस्कृत है, अर्थात् देवेन्द्र और नरेन्द्र जिनका नमस्कार करते हैं, उन महापुरुषो के लिए भी ब्रह्मचर्य पूजनीय है। यह जगत् के सब मगलो का मार्ग—उपाय है अथवा प्रधान उपाय है। यह दुर्द्धर्ष है, अर्थात् कोई इसका पराभव नही कर सकता, या दुष्कर है। यह गुणो का अद्वितीय नायक है। अर्थात् ब्रह्मचर्य ही ऐसा साधन है जो अन्य सभी सद्गुणो की ओर आराधक को प्रेरित करता है।

विवेचन—आशय स्पष्ट है। यहाँ ब्रह्मचर्य महाव्रत की महिमा प्रदर्शित की गई है। इस महिमा वर्णन से इस व्रत की महत्ता भलिभाँति विदित हो जाती है। आगे भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है।

ब्रह्मचर्यविघातक निमित्त

१४६—जेण सुद्धचरियेण भवइ सुबभणो सुसमणो सुसाहू स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खु जो सुद्धं चरइ बंभचेरं। इमं च रइ-राग-दोस-मोह-पवड्ढणकरं किमज्झ-पमायदोसपासत्थ-सील-करणं अब्भंगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर-चरण वयण-धोवण-संबाहण-गाय-कम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुण्णवास-धुवण-सरीर-परिमंडण- बाउसिय-हसिय-भणिय-णट्ट-गीय-वाइय-णड-णट्टग-जल्ल मल्ल-पेच्छणवेलंबगं जाणि य सिंगारागाराणि य अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जियव्वाइं सव्वकालं।

१४६—ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्दोष परिपालन करने से सुब्राह्मण—यथार्थ नाम वाला, सुश्रमण—सच्चा तपस्वी और सुसाधु—निर्वाण साधक वास्तविक साधु कहा जाता है। जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करता है वही ऋषि अर्थात् यथार्थ तत्त्वद्रष्टा है, वही मुनि—तत्त्व का वास्तविक मनन करने वाला है, वही सयत—सयमवान् है और वही सच्चा भिक्षु—निर्दोष भिक्षाजीवी है।

ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाले पुरुष को इन आगे कहे जाने वाले व्यवहारो का त्याग करना चाहिए—रति-इन्द्रिय-विषयो के प्रति राग, राग—परिवारिक जनों के प्रति स्नेह, द्वेष और

मोह—अज्ञान की वृद्धि करने वाला, निस्सार प्रमाददोष तथा पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधुओं का शील—आचार, (जैसे निष्कारण शय्यातरपिण्ड का उपभोग आदि) और घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, बार-बार बगल, सिर हाथ, पैर और मुँह धोना, मर्दन करना, पैर आदि दबाना—पगचम्पी करना, परिमर्दन करना—समग्र शरीर को मलना, विलेपन करना, चूर्णवास—सुगन्धित चूर्ण—पाउडर से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि की धूप देना—शरीर को धूपयुक्त करना, शरीर को मण्डित करना—सुशोभन बनाना, बाकुशिक कर्म करना—नखो, केशो एव वस्त्रो को सवारना आदि, हँसी-ठट्ठा करना, विकारयुक्त भाषण करना, नाट्य, गीत, वादित्र, नटो, नृत्यकारको और जल्लो—रस्से पर खेल दिखलाने वालो और मल्लो—कुश्तीबाजो का तमाशा देखना तथा इसी प्रकार की अन्य बाते जो शृ गार का आगार हैं—शृ गार के स्थान है और जिनसे तपश्चर्या, सयम एव ब्रह्मचर्य का उपघात—आशिक विनाश या घात—पूर्णत विनाश होता है, ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाले को सदैव के लिए त्याग देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य-रक्षक नियम

१४७—भावियव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तव-णियम-सील जोगेहिं णिच्चकालं।

किं ते?

अण्हाणग-अदंतधावण-सेय-मल-जल्लधारण मूणवय-केसलोय-खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीउसिण-कट्ठसिज्जा-भूमिणिसिज्जा-परघरपवेस- लद्धावलद्ध-माणावमाण-णिंदण-दसमसग-फास-णियम-तव-गुण-विणय-माइएहिं जहा से थिरतरग होइ बंभचेरं।

इमं च अबंभचेर-विरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभाविय आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्ख-पावाण विउसमणं।

१४७—इन त्याज्य व्यवहारो के वर्जन के साथ आगे कहे जाने वाले व्यापारो से अन्तरात्मा को भावित-वासित करना चाहिए।

वे व्यापार कौन-से है?

(वे ये है—) स्नान नही करना, दन्तधावन नही करना, स्वेद (पसीना) धारण करना, जमे हुए या इससे भिन्न मैल को धारण करना, मौनव्रत धारण करना, केशो का लुञ्चन करना, क्षमा दम—इन्द्रियनिग्रह, अचेलकता—वस्त्ररहित होना अथवा अल्प वस्त्र धारण करना, भूख-प्यास सहना, लाघव-उपधि अल्प रखना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या, भूमिनिषद्या—जमीन पर आसन, परगृहप्रवेश—शय्या या भिक्षादि के लिए गृहस्थ के घर मे जाना और प्राप्ति या अप्राप्ति (को समभाव से सहना), मान, अपमान, निन्दा एव दश-मशक का क्लेश सहन करना, नियम अर्थात् द्रव्यादि सबधी अभिग्रह करना, तप तथा मूलगुण आदि एव विनय (गुरुजनो के लिए अभ्युत्थान) आदि से अन्त.करण को भावित करना चाहिए, जिससे ब्रह्मचर्यव्रत खूब स्थिर—दृढ हो।

अब्रह्मनिवृत्ति (ब्रह्मचर्य) व्रत की रक्षा के लिए भगवान् महावीर ने यह प्रवचन कहा है। यह प्रवचन परलोक मे फलप्रदायक है, भविष्य मे कल्याण का कारण है, शुद्ध है, न्याययुक्त है, कुटिलता से रहित है, सर्वोत्तम है और दु खो और पापो को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—काम-वासना ऐसी प्रबल है कि तनिक-सी असावधानी होते ही मनुष्य के मन को विकृत कर देती है। यदि मनुष्य तत्काल न समझ गया तो वह उसके वशीभूत होकर दीर्घकालिक साधना से पतित हो जाता है और फिर न घर का न घाट का रहता है। उसकी साधना खोखली, निष्प्राण, दिखावटी या आडम्बरमात्र रह जाती है। ऐसा व्यक्ति अपने साध्य से दूर पड जाता है। उसका बाह्य कष्टसहन निरर्थक बन जाता है।

प्रस्तुत पाठो मे अत्यन्त तेजस्वी एव प्रभावशाली शब्दो में ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया गया है। यह महिमागान जहाँ उसकी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है, वही उसकी दुराराध्यता का भी सूचक है। यही कारण है कि इसकी आराधना के लिए अनेकानेक विधि-निषेधो का दिग्दर्शन कराया गया है।

जिन-जिन कार्यों - व्यापारो से काम-राग का बीज अकुरित होने की सम्भावना हो सकती है, उन व्यवहारो से ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए। ऐसे व्यवहार शास्त्रकार ने मूलपाठ में गिना दिए हैं। शरीर की विभूषा यथा—मालिश—मर्दन करना, केशो और नाखूनो को सवारना, सुगन्धित वस्तुओं का उपयोग करना, स्नान करना, वारवार हाथो-पैरों-मुख आदि को धोना आदि देहाध्यास बढाने वाले व्यवहार है और इसमे वासना को उत्तेजित होने का अवसर मिलता है। अतएव तपस्वी को इन और इसी प्रकार के अन्य व्यापारो से सदा दूर ही रहना चाहिए।

इसी प्रकार नृत्य, नाटक गीत, खेल, तमाशे आदि भी साधक की दृष्टि को अन्तर्मुख से बहिर्मुख बनाने वाले है। ऐसे प्रसगो पर मनोवृत्ति साधना से विमुख हो जाती है और बाहर के राग-रग मे डूब जाती है। अतएव साधक के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह न ऐसे प्रसगो को दृष्टिगोचर होने दे और न साधना मे मलीनता आने दे।

सच्चे साधक को अपने उच्चतम साध्य पर— मुक्ति पर और उसके उपायो पर ही अपना सम्पूर्ण मनोयोग केन्द्रित करना चाहिए। उसे शारीरिक वासना से ऊपर उठा रहना चाहिए। जो शरीर-वासना से ऊपर उठ जाता है, उसे स्नान, दन्तधावन, देह के स्वच्छीकरण आदि की आवश्यकता नही रहती। 'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस कथन के अनुसार ब्रह्मचारी सदैव पवित्र होता है, उसे जल से पवित्र होने की आवश्यकता नही। स्नान काम के आठ अगो मे एक अग माना गया है। जैसे गाय भैंस आदि पशु रूखा-सूखा, स्नेहहीन और परिमित आहार करते है, अतएव उसके दाँत विना धोये ही स्वच्छ रहते हैं, उसी प्रकार अन्त-प्रान्त और परिमित आहार करने वाले मुनि के दाँतो को भी धोने की आवश्यकता नही होती।

अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य के पूर्ण आराधक को शास्त्रोक्त सभी विधि-निषेधो का अत करण से, आत्मशोधन के उद्देश्य से पालन करना चाहिए। ऐसा करने पर की उसका वह महाव्रत सुरक्षित रहता है। सुरक्षित ब्रह्मचर्य के अलौकिक तेज से साधक की समग्र साधना तेजोमय बन जाती है, उसकी आन्तरिक अद्भुत शक्तियाँ चमक उठती हैं और आत्मा तेज पुञ्ज बन जाता है। ऐसी स्थिति में ही सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र साधक के चरणो मे नतमस्तक होते हैं।

पाँच भावनाओं के रूप में आगे भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के उपायो का प्ररूपण किया गया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना : विविक्त-शयनासन

१४८—तस्स इमा पंच भावणाओ चउत्थवयस्स होंति अबंभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए—

पढमं—सयणासण-घर-दुवार-अंगण- आगास-गवक्ख- साल-अभिलोयण- पच्छवत्थुक-पसाहणग-ण्हाणियावगासा, अवगासा जे य वेसियाणं, अच्छंति य जत्थ इत्थियाओ अभिक्खणं मोहदोस-रइराग-वड्ढणीओ, कहिंति य कहाओ बहुविहाओ, ते वि हु वज्जणिज्जा। इत्थि-संसत्त-संकिलिट्ठा, अण्णे वि य एवमाई अवगासा ते हु वज्जणिज्जा।

जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा [भसंगो] वा अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्ज-ऽवज्जभीरू अणाययणं अंतपंतवासी।

एवमसंसत्तवास-वसहीसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा, आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१४८—चतुर्थ अब्रह्मचर्यविरमण व्रत की रक्षा के लिए ये पाँच भावनाएं हैं—

प्रथम भावना : (उनमें से) **स्त्रीयुक्त स्थान का वर्जन**—प्रथम भावना इस प्रकार है शय्या, आसन, गृहद्वार (घर का दरवाजा), आँगन, आकाश—ऊपर से खुला स्थान, गवाक्ष - झरोखा, शाला—सामान रखने का कमरा आदि स्थान, अभिलोकन—बैठ कर देखने का ऊँचा स्थान, पश्चाद्-गृह—पिछवाडा—पीछे का घर, प्रसाधनक—नहाने और शृंगार करने का स्थान, इत्यादि सब स्थान स्त्रीसंसक्त—नारी के संसर्ग वाले होने से वर्जनीय हैं।

इनके अतिरिक्त वेश्याओं के स्थान—अड्डे हैं और जहाँ स्त्रियां बैठती-उठती हैं और वार-वार मोह, द्वेष, कामराग और स्नेहराग की वृद्धि करने वाली नाना प्रकार की कथाएं कहती हैं—बातें करती हैं, उनका भी ब्रह्मचारी को वर्जन करना चाहिए। ऐसे स्त्री के संसर्ग के कारण संक्लिष्ट—संक्लेशयुक्त अन्य जो भी स्थान हों, उनसे भी अलग रहना चाहिए, जैसे—जहाँ रहने से मन में विभ्रम—चंचलता उत्पन्न हो, ब्रह्मचर्य भग्न होता हो या उसका आंशिकरूप से खण्डन होता हो, जहाँ रहने से आर्त्तध्यान—रौद्रध्यान होता हो, उन-उन अनायतनों—अयोग्य स्थानों का पाप-भीरु—ब्रह्मचारी—परित्याग करे। साधु तो ऐसे स्थान पर ठहरता है जो अन्त-प्रान्त हो अर्थात् इन्द्रियों के प्रतिकूल हो।

इस प्रकार असंसक्तवास-वसति-समिति के अर्थात् स्त्रियों के संसर्ग से रहित स्थान का त्याग रूप समिति के योग से युक्त अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचर्य की मर्यादा में मन वाला तथा इन्द्रियों के विषय ग्रहण—स्वभाव से निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

द्वितीय भावना : स्त्री-कथावर्जन

१४९—बिइयं—णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा—विचित्ता विब्बोय-विलास-संपउत्ता हाससिंगार-लोइयकहव्व मोहजणणी, ण आवाह-विवाह-वर-कहा, इत्थीणं वा सुभग-दुब्भगकहा,

चउसट्ठिं च महिलागुणा, ण वण्ण-देस-जाइ-कुल-रूव-णाम-णेवत्थ-परिजण-कहा इत्थियाणं, अण्णा वि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगार-कलुणाओ तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाओ अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण कहियव्वा, ण सुणियव्वा, ण चिंतियव्वा। एवं इत्थीकहाविरइसमिइजोगेणं भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१४९– दूसरी भावना है स्त्रीकथावर्जन। इसका स्वरूप इस प्रकार है –नारीजनो के मध्य मे अनेक प्रकार की कथा नही करनी चाहिए अर्थात् नाना प्रकार की बाते नही करनी चाहिए, जो बाते विब्बोक[1]—स्त्रियो की कामुक चेष्टाओ से और विलास[2]—स्मित, कटाक्ष आदि के वर्णन से युक्त हो, जो हास्यरस और शृ गाररस की प्रधानता वाली साधारण लोगो की कथा की तरह हो, जो मोह उत्पन्न करने वाली हो। इसी प्रकार द्विरागमन—गौने या विवाह सम्बन्धी बाते भी नही करनी चाहिए। स्त्रियो के सौभाग्य-दुर्भाग्य की भी चर्चा-वार्त्ता नही करनी चाहिए। महिलाओ के चौसठ गुणो (कलाओ), स्त्रियो के रग-रूप, देश, जाति, कुल-सौन्दर्य, भेद-प्रभेद—पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी, शखिनी आदि प्रकार, पोशाक तथा परिजनो सम्बन्धी कथाएँ तथा इसी प्रकार की जो भी अन्य कथाएँ शृ गाररस से करुणता उत्पन्न करने वाली हो और जो तप, सयम तथा ब्रह्मचर्य का घात—उपघात करने वाली हो, ऐसी कथाएँ ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधुजनो को नही कहनी चाहिए। ऐसी कथाएँ बाते उन्हे सुननी भी नही चाहिए और उनका मन मे चिन्तन भी नही करना चाहिए।

इस प्रकार स्त्रीकथाविरति-समिति के योग से भावित अन्त.करण वाला, ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त चित्त वाला तथा इन्द्रिय विकार से विरत रहने वाला, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित रहता है।

तृतीय भावना : स्त्रियों के रूप-दर्शन का त्याग

१५०– तइयं—णारीण हसिय-भणिय-चेट्ठिय-विप्पेक्खिय-गइ-विलास-कीलियं, विब्बोइय-णट्ट-गीय-वाइय-सरीर-संठाण-वण्ण-कर-चरण-णयण-लावण्ण-रूव-जोव्वण-पयोहरा-धर-वत्थालंकार-भूसणाणि य, गुज्झोकासियाइं, अण्णाणि य एवमाइयाइं तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण चक्खुसा, ण मणसा, ण वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं। एवं इत्थीरूवविरइ-समिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

---

१ विब्बोक का लक्षण—

इष्टानावर्थाना प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूत:।
स्त्रीणामनादरकृतो विब्बोको नाम विज्ञेय:॥ —अभय टीका, पृ १३९

२. विलास का स्वरूप—

स्थानासनगमनाना, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणा चैव।
उत्पद्यते विशेषो य: श्लिष्ट: स तु विलास स्यात॥ अभय टीका, पृ. १३९

१५०—ब्रह्मचर्यव्रत की तीसरी भावना स्त्री के रूप को देखने के निषेध-स्वरूप है। वह इस प्रकार है—नारियों के हास्य को, विकारमय भाषण को, हाथ आदि की चेष्टाओं को, विप्रेक्षण—कटाक्षयुक्त निरक्षण को, गति—चाल को, विलास और क्रीडा को, बिब्बोकित—अनुकूल— इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर अभिमानपूर्वक किया गया तिरस्कार, नाटय, नृत्य, गीत, वादित—वीणा आदि वाद्यो के वादन, शरीर की आकृति, गौर श्याम आदि वर्ण, हाथो, पैरो एव नेत्रो का लावण्य, रूप, यौवन, स्तन, अधर—ओष्ठ, वस्त्र, अलकार और भूषण—ललाट की बिन्दी आदि को तथा उसके गोपनीय अगो को, एव स्त्रीसम्बन्धी अन्य अंगोपागो या चेष्टाओ को जिनसे ब्रह्मचर्य, तप तथा सयम का घात—उपघात होता है, उन्हे ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाला मुनि न नेत्रो से देखे, न मन से सोचे और न वचन से उनके सम्बन्ध में कुछ बोले और न पापमय कार्यों की अभिलाषा करे।

इस प्रकार स्त्रीरूपविरति—समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला मुनि ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त चित्त वाला, इन्द्रियविकार से विरत, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

चतुर्थ भावना : पूर्वभोग-चिन्तनत्याग

१५१—चउत्थं—पुव्वरय-पुव्व-कोलिय-पुव्व-संगंथगंथ-संथुया जे ते आवाह-विवाह-चोल्लगेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिंगारागारचारुवेसाहिं हावभावपललिय-विक्खेव-विलास-सालिणीहिं अणुकूल-पेम्मिगाहिं सद्धिं अणुभूया सयणसंपओगा, उउसुहवरकुसुम-सुरभि-चंदण-सुगंधिवर-वास-धूव-सुहफरिस-वत्थ-भूसण-गुणोववेया, रमणिज्जाओज्जगेय-पउर-णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिग-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्लतुंब-वीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसर-गीय-सुस्सराइ, अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेण बंभचेरं ण ताइं समणेण लब्भा दट्ठुं, ण कहेउं, ण वि सुमरिउं, जे एवं पुव्वरय-पुव्वकीलिय-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१५१—(चौथी भावना मे पूर्वकाल मे भोगे भोगो के स्मरण के त्याग का विधान किया गया है।) वह इस प्रकार है—(गृहस्थावस्था मे) किया गया रमण—विषयोपभोग, पूर्वकाल मे की गई क्रीडाएँ—द्यूत आदि क्रीडा, पूर्वकाल के सग्रन्थ—श्वसुरकुल—ससुराल सम्बन्धी जन, ग्रन्थ—साले आदि से सम्बन्धित जन, तथा सश्रुत—पूर्व काल के परिचित जन, इन सब का स्मरण नही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्विरागमन, विवाह, चूडाकर्म—शिशु का मुण्डन तथा पर्वतिथियो मे, यज्ञो—नागपूजा आदि के अवसरो पर, शृगार के आगार जैसी सजी हुई, हाव—मुख की चेष्टा, भाव—चित्त के अभिप्राय, प्रललित—लालित्ययुक्त कटाक्ष, विक्षेप—ढीली चोटी, पत्रलेखा, आँखो मे अजन आदि शृगार, विलास—हाथो, भौंहो एव नेत्रो की विशेष प्रकार की चेष्टा—इन सब से सुशोभित, अनुकूल प्रेम वाली स्त्रियो के साथ अनुभव किए हुए शयन आदि विविध प्रकार के कामशास्त्रोक्त प्रयोग, ऋतु के उत्तम वासद्रव्य, धूप, सुखद स्पर्श वाले वस्त्र, आभूषण—इनके गुणो से युक्त, रमणीय आतोद्य—वाद्यध्वनि, गायन, प्रचुर नट, नर्तक—नाचने वाले, जल्ल—रस्सी पर खेल दिखलाने वाले, मल्ल—कुश्तीबाज, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक, कथा-कहानी सुनाने वाले, प्लवक—उछलने

वाले, रास गाने या रासलीला करने वाले, शुभाशुभ बतलाने वाले, लख—ऊँचे वास पर खेल करने वाले, मख—चित्रमय पट्ट लेकर भिक्षा मागने वाले, तूण नामक वाद्य बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, तालाचर—एक प्रकार के तमाशबीन—इस सब की क्रीडाएँ, गायको के नाना प्रकार के मधुर ध्वनि वाले गीत एव मनोहर स्वर और इस प्रकार के अन्य विषय, जो तप, सयम और ब्रह्मचर्य का घात-उपघात करने वाले है, उन्हे ब्रह्मचर्यपालक श्रमण को देखना नही चाहिए, इन से सम्बद्ध वार्त्तालाप नही करना चाहिए और पूर्वकाल मे जो देखे—सुने हो, उनका स्मरण भी नही करना चाहिए ।

इस प्रकार पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरति— समिति के योग से भावित अन्त:करण वाला, ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त चित्तवाला, मैथुनविरत, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है ।

पंचम भावना—स्निग्ध सरस भोजन-त्याग

१५२—पंचमगं—आहार-पणीय-णिद्ध-भोयण-विवज्जए संजए सुसाहू व वगय-खीर-दहि-सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिग-महु-मज्ज-मंस-खज्जग-विगइ-परिचित्तकयाहारे ण दप्पणं ण बहुसो ण णिइगं ण सायसूपाहियं ण खद्धं, तहा भोत्तव्व जहा से जायामाया य भवइ, ण य भवइ विब्भमो ण भंसणा य धम्मस्स । एवं पणीयाहार-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरय-गामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते ।

१५२—पाँचवी भावना -सरस आहार एव स्निग्ध—चिकनाई वाले भोजन का त्यागी सयम शील सुसाधु दूध, दही, घी मक्खन, तेल, गुड, खाँड, मिसरी, मधु, मद्य, मास, खाद्यक—पकवान और विगय से रहित आहार करे । वह दर्पकारक—इन्द्रियो मे उत्तेजना उत्पन्न करने वाला आहार न करे । दिन में बहुत बार न खाए और न प्रतिदिन लगातार खाए । न दाल और व्यजन की अधिकता वाला और न प्रभूत--प्रचुर भोजन करे । साधु उतना ही हित-मित आहार करे जितना उसकी सयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए आवश्यक हो, जिससे मन मे विभ्रम—चचलता उत्पन्न न हो और धर्म (ब्रह्मचर्यव्रत) से च्युत न हो ।

इस प्रकार प्रणीत-आहार की विरति रूप समिति के योग से भावित अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य की आराधना मे अनुरक्त चित्त वाला और मैथुन से विरत साधु जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से सुरक्षित होता है ।

विवेचन—चतुर्थ सवरद्वार ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाओ का उल्लिखित पाठों में प्रतिपादन किया गया है ।

पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि ब्रह्मचर्यव्रत महान् है । उसकी महिमा अद्भुत और अलौकिक है । उसका प्रभाव अचिन्त्य और अकल्प्य है । वह सब प्रकार की ऋद्धियो और सिद्धियो का प्रदाता है । ब्रह्मचर्य के अखण्ड पालन से आत्मा की सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और आत्मा सहज आन्तरिक तेज से जाज्वल्यमान बन जाता है । किन्तु इस महान् व्रत की जितनी अधिक महिमा है, उतना ही परिपूर्ण रूप मे पालन करना भी कठिन है । उसका आगमोक्त रूप से सम्यक् प्रकार से पालन किया जा सके, इसी अभिप्राय से, साधनों के पथप्रदर्शन के लिए उसकी पाँच भावनाएँ यहाँ प्रदर्शित की गई हैं । वे इस प्रकार है—

१. विविक्तशयनासन,
२. स्त्रीकथा का परित्याग,
३. स्त्रियों के रूपादि को देखने का परिवर्जन,
४ पूर्वकाल मे भुक्त भोगो के स्मरण से विरति,
५. सरस बलवर्द्धक आदि आहार का त्याग ।

प्रथम भावना का आशय यह है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान मे नही रहना या टिकना चाहिये जहाँ नारी जाति का सान्निध्य हो—सगर्ग हो, जहाँ स्त्रियाँ उठती-बैठती हो, बाते करती हो, और जहाँ वेश्याओ का सान्निध्य हो । ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचर्यव्रत के भग का खतरा रहता है, क्योकि ऐसा स्थान चित्त मे चचलता उत्पन्न करने वाला है ।

दूसरी भावना स्त्रीकथावर्जन है । इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के साधक को स्त्रियो के बीच बैठ कर वार्तालाप करने से बचना चाहिए । यही नही, स्त्रियो सम्बन्धी कामुक चेष्टाओ का, विलास, हास्य आदि का, स्त्रियो की वेशभूषा आदि का, उनके रूप-सौन्दर्य, जाति, कुल, भेद-प्रभेद का तथा विवाह आदि का वर्णन करने से भी बचना चाहिए । इस प्रकार की कथनी भी मोहजनक होती है । दूसरा कोई इस प्रकार की बाते करता हो तो उन्हे सुनना नही चाहिए और न ही ऐसे विषयो का मन मे चिन्तन करना चाहिए ।

तीसरी भावना का सम्बन्ध मुख्यत चक्षुरिन्द्रिय के साथ है । जो दृश्य काम-राग को बढाने वाला हो, मोहजनक हो, आसक्ति जागृत करने वाला हो, ब्रह्मचारी उससे बचता रहे । स्त्रियो के हास्य, बोल-चाल, विलास, क्रीडा, नृत्य, शरीर, आकृति, रूप-रग, हाथ-पैर, नयन, लावण्य, यौवन आदि पर तथा उनके स्तन, गुह्य अग, वस्त्र, अलकार एव टीकी आदि भूषणो पर ब्रह्मचारी को दृष्टिपात नही करना चाहिए । जैसे सूर्य के बिम्ब पर दृष्टि पडते ही तत्काल उसे हटा लिया जाता है--टकटकी लगा कर नही देखा जाता, उसी प्रकार नारी पर दृष्टिपात हो जाए तो तत्क्षण उसे हटा लेना चाहिए । ऐसा करने से नेत्रो के द्वारा मन मे मोहभाव उत्पन्न नही होता । तात्पर्य यह है कि जो दृश्य तप, सयम और ब्रह्मचर्य को अशत अथवा पूर्णत विघात करने वाले हो, उनसे ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए ।

चौथी भावना मे पूर्व काल मे अर्थात् गृहस्थावस्था मे भोगे हुए भोगो के चिन्तन के वर्जन की प्रेरणा की गई है । बहुत से साधक ऐसे होते है जो गृहस्थदशा मे दाम्पत्यजीवन यापन करने के पश्चात् मुनिव्रत अगीकार करते है । उनके मस्तिष्क मे गृहस्थजीवन की घटनाओ के सस्कार या स्मरण सचित होते है । वे सस्कार यदि निमित्त पाकर उभर उठे तो चित्त को विभ्रान्त कर देते है, चित्त को विकृत बना देते है और कभी-कभी मुनि अपने कल्पना-लोक मे उसी पूर्वावस्था मे पहुँचा हुआ अनुभव करने लगता है । वह अपनी वर्त्तमान स्थिति को कुछ समय के लिए भूल जाता है । यह स्थिति उसके तप, सयम एव ब्रह्मचर्य का विघात करने वाली होती है । अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसे प्रसगो से निरन्तर बचना चाहिए, जिनसे काम-वासना को जागृत होने का अवसर मिले ।

पाँचवी भावना आहार सम्बन्धी है । ब्रह्मचर्य का आहार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । बलवर्द्धक, दर्पकारी—इन्द्रियोत्तेजक आहार ब्रह्मचर्य का विघातक है । जिह्वा इन्द्रिय पर जो पूरी तरह नियत्रण स्थापित कर पाता है, वही निरतिचार ब्रह्मव्रत का आराधन करने में समर्थ होता है ।

इसके विपरीत जिह्वालोलुप सरस, स्वादिष्ट एव पौष्टिक भोजन करने वाला इस व्रत का सम्यक् प्रकार के पालन नही कर सकता। अतएव इस भावना मे दूध, दही, घृत, नवनीत, तेल, गुड़, खाँड, मिश्री आदि के भोजन के त्याग का विधान किया गया है। मधु, मास एव मदिरा, ये महाविकृतियाँ हैं, इनका सर्वथा परित्याग तो अनिवार्य ही है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसा नीरस, रूखा-सूखा एव सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए जो वासना के उद्रेक मे सहायक न बने और जिससे संयम का भलीभाँति निर्वाह भी हो जाए।

दर्पकारी भोजन के परित्याग के साथ शास्त्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी को अतिमात्रा मे (खद्ध—प्रचुर) और प्रतिदिन लगातार भी भोजन नही करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे कहा है—

> जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ णोवसम उवेति।
> एवेदियग्गीवि पकामभोइणो, न बभयारिस्स हियाय कस्सइ ।।

अर्थात्—जैसे जगल मे प्रचुर ईधन प्राप्त होने पर पवन की सहायता प्राप्त दावानल शान्त नही होता, उसी प्रकार प्रकामभोजी—खूब आहार करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय-अग्नि उसके लिए हितकर नही है अर्थात् वह उसके ब्रह्मचर्य की विघातक होती है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को हित-भोजन के साथ मित-भोजन ही करना चाहिए और वह भी लगातार प्रतिदिन नही करना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच मे अनशन करके निराहार भी रहना चाहिए।

जो साधक इन भावनाओ का अनुपालन भलीभाँति करता है, उसका ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सकता है।

यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। आगम पुरुष की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर विरचित होते हैं। इस कारण यहाँ ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रीससर्ग, स्त्रीकथा, स्त्री के अगोपागो के निरीक्षण आदि के वर्जन का विधान किया गया है। किन्तु नारी साधिका—ब्रह्मचारिणी के लिए पुरुषससर्ग, पुरुषकथा आदि का वर्जन समझ लेना चाहिए। नपुसको की चेष्टाओ का अवलोकन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी दोनो के लिए समान रूप मे वर्जित है।

उपसंहार

१५३—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मण-वयण-काय-परिरक्खिएहिं। णिच्चं आमरणंतं च एसो जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एवं चउत्थं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवइ। एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं। त्ति बेमि ।।

।। चउत्थं संवरदारं समत्तं ।।

१५३—इस प्रकार ब्रह्मचर्य यह सवरद्वार सम्यक् प्रकार से सवृत और सुरक्षित-पालित होता है। मन, वचन, और काय, इन तीनो योगो से परिरक्षित इन (पूर्वोक्त) पाँच भावनारूप कारणो से सदैव, आजीवन यह योग धैर्यवान् और मतिमान् मुनि को पालन करना चाहिए।

यह सवरद्वार आस्रव से रहित है, मलीनता से रहित है और भावछिद्रों से रहित है। इससे कर्मों का आस्रव नही होता। यह सक्लेश से रहित है, शुद्ध है और सभी तीर्थंकरो द्वारा अनुज्ञात है।

इस प्रकार यह चौथा सवरद्वार स्पृष्ट—विधिपूर्वक अगीकृत, पालित, शोधित—अतिचार-त्याग से निर्दोष किया गया, पार—किनारे तक पहुँचाया हुआ, कीर्तित—दूसरो को उपदिष्ट किया गया, आराधित और तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार अनुपालित होता है, ऐसा ज्ञातमुनि भगवान (महावीर) ने कहा है, युक्तिपूर्वक समझाया है। यह प्रसिद्ध—जगद्विख्यात है, प्रमाणो से सिद्ध है। यह भवस्थित सिद्धो—अर्हन्त भगवानो का शासन है। सुर, नर आदि की परिषद् मे उपदिष्ट किया गया है और मगलकारी है।

चतुर्थ सवरद्वार समाप्त हुआ।

जैसा मैने भगवान् से सुना, वैसा ही कहता हूँ। [][]

पंचम अध्ययन : परिग्रहत्याग

सूत्रक्रम के अनुसार ब्रह्मचर्यसंवर के पश्चात् अपरिग्रहसंवर का प्रतिपादन क्रमप्राप्त है अथवा इससे पूर्व मैथुनविरमण का कथन किया गया है, वह सर्वथा परिग्रह का त्याग करने पर ही संभव है, अतएव अब परिग्रहविरमणरूप संवर का निरूपण किया जा रहा है। उसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

उत्क्षेप

१५४—जंबू ! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभ-परिग्गहाओ विरए, विरए कोह-माण-माया-लोहा।

एगे असंजमे।

दो चेव रागदोसा।

तिण्णि य दंडा, गारवा य, गुत्तीओ तिण्णि, तिण्णि य विराहणाओ।

चत्तारि कसाया झाण-सण्णा-विकहा तहा य हुंति चउरो।

पंच य किरियाओ समिइ-इंदिय-महव्वयाइं च।

छज्जीवणिकाया, छच्च लेसाओ।

सत्त भया।

अट्ठ य मया।

णव चेव य बंभचेर-वयगुत्ती।

दसप्पगारे य समणधम्मे।

एग्गारस य उवासगाणं।

बारस य भिक्खुपडिमा।

तेरस किरियाठाणा य।

चउद्दस भूयगामा।

पण्णरस परमाहम्मिया।

गाहा सोलसया।

सत्तरस असंजमे।

अट्ठारस अबंभे।

एगुणवीसइ णायज्झयणा।

वीसं असमाहिट्ठाणा।

एगवीसा य सबला य।

बावीसं परिसहा य ।

तेवीसए सूयगडज्झयणा ।

चउवीसविहा देवा ।

पण्णवीसाए भावणा ।

छव्वीसा दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकाला ।

सत्तावीसा अणगारगुणा ।

अट्ठावीसा आयारकप्पा ।

एगुणतीसा पावसुया ।

तीसं मोहणीयट्ठाणा ।

एगतीसाए सिद्धाइगुणा ।

बत्तीसा य जोगसंग्गहे ।

तित्तीसा आसायणा ।

एक्काइयं करित्ता एगुत्तरियाए वुड्ढीए तीसाओ जाव उ भवे तिगाहिया विरइपणिहासु य एवमाइसु बहुसु ठाणेसु जिणपसत्थेसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु सकं कंख निराकरित्ता सद्दहए सासणं भगवओ अणियाणे अगारवे अलुद्धे अमूढमणवयणकायगुत्ते ।

१५४—श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू को सबोधन करते हुए कहा—हे जम्बू ! जो मूर्च्छा—ममत्वभाव से रहित है, इन्द्रियसवर तथा कषायसवर से युक्त है एव आरम्भ-परिग्रह से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही श्रमण या साधु होता है ।

१ अविरति रूप एक स्वभाव के कारण अथवा भेद की विवक्षा न करने पर असयम सामान्य रूप से एक है ।

२ इसी प्रकार सक्षेप विवक्षा से बन्धन दो प्रकार के है—रागबन्धन और द्वेषबन्धन ।

३ दण्ड तीन हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड । गौरव तीन प्रकार के है—ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातागौरव, । गुप्ति तीन प्रकार को है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति । विराधना तीन प्रकार की है—ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना और चारित्र की विराधना ।

४ कषाय चार है—क्रोध, मान, माया, लोभ । ध्यान चार हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान । सज्ञा चार प्रकार की है—आहार सज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा, परिग्रहसज्ञा । विकथा चार प्रकार की है—स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा ।

५. क्रियाएँ पाँच हैं—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी । समितियाँ पाँच हैं—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और परिष्ठापनिकासमिति । इन्द्रिया पाँच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय । महाव्रत पाँच है—अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अस्तेयमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और

६ जीवनिकाय अर्थात् संसारी जीवों के छह समूह-वर्ग हैं—(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय।

लेश्याएँ छह हैं—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) पीतलेश्या (५) पद्मलेश्या (६) शुक्ललेश्या।

७ भय सात प्रकार के हैं—(१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) आदानभय (४) अकस्मात् भय (५) आजीविकाभय (६) अपयशभय और (७) मृत्युभय।

८ मद आठ हैं—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) रूपमद (५) तपमद (६) लाभमद (७) श्रुतमद (८) ऐश्वर्यमद।

९ ब्रह्मचर्य-गुप्तिया नौ हैं—(१) विविक्तशयनासनसेवन (२) स्त्रीकथावर्जन (३) स्त्री-युक्त आसन का परिहार (४) स्त्री के रूपादि के दर्शन का त्याग (५) स्त्रियो के शृ गारमय, करुण तथा हास्य आदि सम्बन्धी शब्दो के श्रवण का परिवर्जन (६) पूर्वकाल के भोगे हुए भोगों के स्मरण का वर्जन (७) प्रणीत आहार का त्याग (८) प्रभूत—अति आहार का त्याग और (९) शारीरिक विभूषा का त्याग।

१० श्रमण धर्म दस है—(१) क्षान्ति (२) मुक्ति—निर्लोभता (३) आर्जव—निष्कपटता-सरलता (४) मार्दव—मृदुता-नम्रता (५) लाघव—उपधि की अल्पता (६) सत्य (७) सयम (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य।

११ श्रमणोपासक की प्रतिमाएँ ग्यारह हैं—(१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिकप्रतिमा (४) पौषधप्रतिमा (५) कायोत्सर्गप्रतिमा (६) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (७) सचित्तत्यागप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) प्रेष्यप्रयोगत्यागप्रतिमा (१०) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा और (११) श्रमणभूतप्रतिमा।

१२. भिक्षु-प्रतिमाएँ बारह हैं। वे इस प्रकार हैं—

मासाई सत्तता पढमा बिय तिय सत्त राइदिणा।
अहराइ एगराई भिक्खू पडिमाण बारसग॥

अर्थात् एकमासिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी से लेकर सप्तमासिकी तक की सात प्रतिमाएँ, सात-सात अहोरात्र की आठवी, नौवी और दसमी, एक अहोरात्र की ग्यारहवी और एक रात्रि की बारहवी प्रतिमा। विशेष विवरण दशाश्रुतस्कन्धकसूत्र से जानना चाहिए।

१३. क्रियास्थान तेरह हैं, जो इस प्रकार हैं—

अट्ठाऽणट्ठाहिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिन्ने य।
अज्झप्पमाणमित्ते मायालोभेरिया वहिया॥

अर्थात्—(१) अर्थदण्ड (२) अनर्थदण्ड (३) हिंसादण्ड (४) अकस्मात्दण्ड (५) दृष्टि-विपर्यासदण्ड (६) मृषावाद (७) अदत्तादानदण्ड (८) अध्यात्मदण्ड (९) मानदण्ड (१०) मित्रद्वेष-दण्ड (११) मायादण्ड (१२) लोभदण्ड और (१३) ऐर्यापथिकदण्ड।

इनका विशेष विवेचन सूत्रकृताग आदि सूत्रो से जान लेना चाहिए।

१४. भूतग्राम अर्थात् जीवो के समूह चौदह हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (३) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक (४) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (५) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक (६) द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तक (११-१२) पचेन्द्रिय असज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक (१३-१४) पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

१५ नारक जीवो को, तीसरे नरक तक जाकर नानाविध पीडा देने वाले असुरकुमार देव परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के हैं—(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनु (११) कु भ (१२) वालुक (१३) वैतरणिक (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। इनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली यातनाओ का वर्णन प्रथम आस्रवद्वार मे आ गया है।

१६ गाथाषोडशक—सूत्रकृतागसूत्र के वे सोलह अध्ययन जिनमे गाथा नामक अध्ययन सोलहवाँ है। उनके नाम ये हैं—(१) समय (२) वैतालीय (३) उपसर्गपरिज्ञा (४) स्त्रीपरिज्ञा (५) नरकविभक्ति (६) वीरस्तुति (७) कुशीलपरिभाषित (८) वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) यमकीय और (१६) गाथा।

१७ असयम—(१) पृथ्वीकाय-असयम (२) अप्काय-असयम (३) तेजस्काय-असयम (४) वायुकाय-असयम (५) वनस्पतिकाय-असयम (६) द्वीन्द्रिय-असयम (७) त्रीन्द्रिय-असयम (८) चतुरिन्द्रिय-असयम (९) पञ्चेन्द्रिय-असयम (१०)अजीव-असयम (११) प्रेक्षा-असयम (१२) उपेक्षा-असयम (१३) अपहृत्य (प्रतिष्ठापन) असयम (१४) अप्रमार्जन-असयम (१५) मन-असयम (१६) वचन-असयम और (१७) काय-असयम।

पृथ्वीकाय आदि नौ प्रकार के जीवो की यतना न करना, इनका आरम्भ करना और मूल्यवान् वस्त्र, पात्र पुस्तक आदि अजीव वस्तुओ को ग्रहण करना, जीव-अजीव-असयम है। धर्मोपकरणो की यथाकाल यथाविधि प्रतिलेखना न करना प्रेक्षा-असयम है। सयम-कार्यों मे प्रवृत्ति न करना और असयमयुक्त कार्य मे प्रवृत्ति करना उपेक्षा-असयम है। मल-मूत्र आदि का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रतिष्ठापन न करना—त्यागना अपहृत्य-प्रतिष्ठापन-असयम है। वस्त्र-पात्र आदि उपधि का विधिपूर्वक प्रमार्जन नही करना अप्रमार्जन-असयम है। मन को प्रशस्त चिन्तन मे नही लगाना या अप्रशस्त चिन्तन में लगाना मानसिक-असयम है। अप्रशस्त या मिथ्या अथवा अर्ध मिथ्या वाणी का प्रयोग करना वचन-असयम है और काय से सावद्य व्यापार करना काय-असयम है।

१८ अब्रह्म—अब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये है—

ओरलिय च दिव्व, मण-वय-कायाण करण-जोगेहिं।
अणुमोयण - कारावण - करणेणट्ठारसाऽबभ ॥

अर्थात्—औदारिक शरीर द्वारा मन, वाणी और काय से अब्रह्मचर्य का सेवन करना, कराना और अनुमोदना तथा इसी प्रकार वैक्रिय शरीर द्वारा मन, वचन, काय से अब्रह्म का सेवन करना, कराना और अनुमोदन करना। दोनो के सम्मिलित भेद अठारह हैं।

१९. ज्ञात-अध्ययन—ज्ञाताधर्मकथा नामक अग के १९ अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) उत्क्षिप्त (२) सघाट (३) अण्ड (४) कूर्म (५) शैलिकऋषि (६) तुम्ब (७) रोहिणी (८) मल्ली (९) माकन्दी (१०) चन्द्रिका (११) दवदव (इस नाम के वृक्षो का उदाहरण) (१२) उदक (१३) मण्डूक (१४) तेतलि (१५) नन्दिफल (१६) अपरकका (१७) आकीर्ण (१८) सुषमा और (१९) पुण्डरीक ।

२० असमाधिस्थान इस प्रकार हैं--(१) द्रुतचारित्व—सयम की उपेक्षा करके जल्दी-जल्दी चलना (२) अप्रमार्जित-चारित्व—भूमि का प्रमार्जन किए बिना उठना, बैठना, चलना आदि। (३) दुष्प्रमार्जित-चारित्व—विधिपूर्वक भूमि आदि का प्रमार्जन न करना (४) अतिरिक्त शय्यासनिकत्व—मर्यादा से अधिक आसन या शय्या-उपाश्रयस्थान ग्रहण करना (५) रात्निकपरिभाषित्व—अपने से बडे आचार्यादि का विनय न करना, अविनय करना (६) स्थविरोपघातित्व—दीक्षा, आयु और श्रुत से स्थविर मुनियो के चित्त को किसी व्यवहार से व्यथा पहुँचाना (७) भूतोपघातित्व—जीवो का घात करना (८) सज्वलनता - बात-बात मे क्रोध करना या ईर्ष्या की अग्नि से जलना (९) क्रोधनता—क्रोधशील होना (१०) पृष्ठिमासिकता—पीठ पीछे किसी की निन्दा करना (११) अभीक्ष्णमवधारकता—वारवार निश्चयकारी भाषा का प्रयोग करना (१२) नये-नये कलह उत्पन्न करना (१३) शान्त हो चुके पुराने कलह को नये सिरे से जागृत करना (१४) सचित्तरज वाले हाथ पैर वाले दाता से आहार लेना। (१५) निषिद्धकाल मे स्वाध्याय करता (१६) कलहोत्पादक कार्य करना, बाते करना या उनमे भाग लेना (१७) रात्रि मे ऊँचे स्वर से बोलना, शास्त्रपाठ करना (१८) झझाकरत्व—गण, सघ या गच्छ मे फूट उत्पन्न करने या मानसिक पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन बोलना (१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक भोजन करते रहना (२०) एषणासमिति के अनुसार आहार की गवेषणा आदि न करना और दोष बतलाने पर झगडना।

२१. शबलदोष—चारित्र को कलुषित करने वाले दोष शबलदोष कह गये हैं। वे इक्कीस हैं, जो सक्षेप मे इस प्रकार हैं—(१) हस्तकर्म करना (२) अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार रूप मे मैथुनसेवन करना (३) अतिक्रमादिरूप से रात्रि मे भोजन करना (४) आधाकर्म—दूषित आहार करना (५) शय्यातर के आहार का सेवन करना (६) उद्दिष्ट, क्रीत आदि दोषो वाला आहार करना (७) त्यागे हुए अशन आदि का उपयोग करना (८) छह महीने के भीतर एक गण का त्याग कर दूसरे गण मे जाना (९) एक मास में तीन बार नाभिप्रमाण जल मे अवगाहन करना (१०) एक मास मे तीन बार मायाचार करना (११) राजपिण्ड का सेवन करना (१२) इरादापूर्वक प्राणियों की हिसा करना (१३) इरादापूर्वक मृषावाद करना (१४) इरादापूर्वक अदत्तादान करना (१५) जान-बूझ कर सचित्त भूमि पर कायोत्सर्ग करना (१६) जान-बूझकर गीली, सरजस्क भूमि पर, सचित्त शिला पर या घुन वाले काष्ठ पर सोना-बैठना (१७) बीजो तथा जीवो से युक्त अन्य किसी स्थान पर बैठना (१८) जान-बूझकर कन्दमूल खाना (१९) एक वर्ष में दस बार नाभिप्रमाण जल मे अवगाहन करना (२०) एक वर्ष में दस बार माया का सेवन करना और (२१) वारवार सचित्त जल से लिप्त हाथ आदि से आहारादि ग्रहण करना।

२२. परीषह—सयम-जीवन मे होने वाले कष्ट, जिन्हे समभावपूर्वक सहन करके साधु कर्मों की विशिष्ट निर्जरा करता है। ये बाईस परीषह इस प्रकार हैं—

खुहा पिवासा सीउण्ह दसा चेलऽरई-त्थिओ।
चरिया निसीहिया सेज्जा, अक्कोसा वह जायणा ॥

अलाभ-रोग-तणफासा, मल-सक्कार परीसहा ।
पण्णा अण्णाण सम्मत्त, इय बावीस परीसहा ।।

अर्थात् (१) क्षुधा (भूख) (२) पिपासा—प्यास (३) शीत—ठंड (४) उष्ण (गर्मी) (५) दंश-मशक (डाँस-मच्छरों द्वारा सताया जाना) (६) अचेल (निर्वस्त्रता या अल्प एवं फटे-पुराने वस्त्रों का कष्ट) (७) अरति—संयम में अरुचि (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या—उपाश्रय (१२) आक्रोश (१३) वध—मारा-पीटा जाना (१४) याचना (१५) अलाभ—लेने की इच्छा होने पर भी आहार आदि आवश्यक वस्तु का न मिलना (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श—कंकर-कांटा आदि की चुभन (१८) जल्ल—मल को सहन करना (१९) सत्कार-पुरस्कार—आदर होने पर अहंकार और अनादर की अवस्था में विषाद होना (२०) प्रज्ञा—विशिष्ट बुद्धि का अभिमान (२१) अज्ञान—विशिष्ट ज्ञान के अभाव में खेद का अनुभव और (२२) अदर्शन ।

इन बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करने वाला संयमी विशिष्ट निर्जरा का भागी होता है ।

२३. सूत्रकृतांग-अध्ययन—प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वलिखित सोलह अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन मिलकर तेईस होते हैं । द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन ये हैं—(१) पुण्डरीक (२) क्रियास्थान (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यानक्रिया (५) अनगारश्रुत (६) आर्द्रकुमार और (७) नालन्दा ।

२४. चार निकाय के देवों के चौबीस अवान्तर भेद है—१० भवनवासी, ८ वाणव्यन्तर, ५ ज्योतिष्क और सामान्यत. १ वैमानिक । मतान्तर से मूलपाठ में आए 'देव' शब्द से देवाधिदेव अर्थात् तीर्थंकर समझना चाहिए, जिनकी संख्या चौबीस प्रसिद्ध है ।

२५ भावना—एक-एक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से पाँचों की सम्मिलित पच्चीस भावनाएँ हैं ।

२६. उद्देश—दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहारसूत्र के दस उद्देशक मिलकर छब्बीस है ।

२७ गुण अर्थात् साधु के मूलगुण सत्ताईस है—५ महाव्रत, ५ इन्द्रियनिग्रह, ४ क्रोधादि कषायों का परिहार, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मन का, वचन का और काय का निरोध, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनादि सहन और मारणान्तिक उपसर्ग का सहन । अन्य विवक्षा से व्रतषट्क (पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन-त्याग), पाँच इन्द्रियनिग्रह, भावसत्य, करणसत्य, क्षमा, विरागता, मनोनिरोध, वचननिरोध, कायनिरोध, छह कायों की रक्षा, योगयुक्तता, वेदनाध्यास (परीषहसहन) और मारणान्तिक संलेखना, इस प्रकार २७ गुण अनगार के होते हैं ।[1]

---

१ वयछक्क ६ इंदियाणं निग्गहो ११ भाव-करणसच्चं च १३ ।
खमया १४ विरागयावि य १५ मणमाईणं निरोहो य १८ ।।
कायाण छक्क २४ जोगम्मि जुत्तया २५ वेयणाहियासणया २६ ।
तह मरणंते संलेहणा य २७, एए-ऽणगारगुणा ।। —अभय. टीका, पृ १४५

२८. प्रकल्प—आचार प्रकल्प २८ हैं। यहाँ आचार का अर्थ है—आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धो के अध्ययन, जिनकी सख्या पच्चीस है और प्रकल्प का अर्थ है—निशीथसूत्र के तीन अध्ययन—उद्घातिक, अनुद्घातिक और आरोपणा। ये सब मिलकर २८ हैं।

२९. पापश्रुतप्रसग के २९ भेद इस प्रकार हैं—(१) भौम (२) उत्पात (३) स्वप्न (४) अन्तरिक्ष (५) अग (६) स्वर (७) लक्षण (८) व्यजन। इन आठ प्रकार के निमित्तशास्त्रो के सूत्र, वृत्ति और वार्त्तिक के भेद से २४ भेद हो जाते हैं। इनमे विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मंत्रानुयोग, योगानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—इन पाँच को सम्मिलित करने पर पापश्रुत के उनतीस भेद होते हैं। मतान्तर से अन्तिम पाँच पापश्रुतो के स्थान पर गन्धर्व, नाटच, वास्तु, चिकित्सा और धनुर्वेद का उल्लेख मिलता है।[1] इनका विवरण अन्यत्र देख लेना चाहिए।

३० मोहनीय अर्थात् मोहनीयकर्म के वन्धन के तीस स्थान—कारण इस प्रकार हैं—(१) जल मे डूबाकर त्रस जीवो का घात करना (२) हाथ आदि से मुख, नाक आदि बन्द करके मारना (३) गोल चमडे को पट्टी कस कर मस्तक कर बाँध कर मारना (४) मस्तक पर मुद्गर आदि का प्रहार करके मारना (५) श्रेष्ठ पुरुष की हत्या करना (६) शक्ति होने पर भी दुष्ट परिणाम के कारण रोगी की सेवा न करना (७) तपस्वी साधक को बलात् धर्मभ्रष्ट करना (८) अन्य के सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग रूप शुद्ध परिणामो को विपरीत रूप में परिणत करके उसका अपकार करना (९) जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करना (१०) आचार्य—उपाध्याय की निन्दा करना (११) ज्ञानदान आदि से उपकारक आचार्य आदि का उपकार न मानना एव उनका यथोचित सम्मान न करना (१२) पुन पुन. राजा के प्रयाण के दिन आदि का कथन करना (१३) वशीकरणादि का प्रयोग करना (१४) परित्यक्त भोगो की कामना करना (१५) बहुश्रुत न होने पर भी अपने को बहुश्रुत कहना (१६) तपस्वी न होकर भी अपने को तपस्वी के रूप मे विख्यात करना (१७) बहुत जनो को बढिया मकान आदि मे बन्द करके आग लगाकर मार डालना (१८) अपने पाप को पराये सिर मढना (१९) मायाजाल रच कर जनसाधारण को ठगना (२०) अशुभ परिणामवश सत्य को भी सभा मे—बहुत लोगो के समक्ष—असत्य कहना (२१) वारवार कलह—लडाई-झगड़ा करना (२२) विश्वास मे लेकर दूसरे का धन हडप जाना (२३) विश्वास उत्पन्न कर परकीय स्त्री को अपनी ओर आकृष्ट करना—लुभाना (२४) कुमार—अविवाहित न होने पर भी अपने को कुमार कहना (२५) अब्रह्मचारी होकर भी अपने को ब्रह्मचारी कहना (२६) जिसकी सहायता से वैभव प्राप्त किया उसी उपकारी के द्रव्य पर लोलुपता करना (२७) जिसके निमित्त से ख्याति अर्जित की उसी के काम में विघ्न डालना (२८) राजा, सेनापति अथवा इसी प्रकार के किसी राष्ट्रपुरुष का वध करना (२९) देवादि का साक्षात्कार न होने पर भी साक्षात्कार—दिखाई देने की बात कहना और (३०) देवो की अवज्ञा करते हुए स्वय को देव कहना। इन कारणो से मोहनीयकर्म का बन्ध होता है।

---

१ टीकाकार ने पापश्रुत की गणना के लिये यह गाथा उद्धृत की है—

अट्ठ गनिमित्ताइ दिव्वुप्पायतलिक्ख भोम च।
अग सर लक्खण वजण च तिविह पुणोक्केक्कं॥
सुत्त वित्ती तह वत्तिय च पावसुयमउणतीसविह।
गंधव्व नट्ट वत्थुं आउ धणुवेयसजुत्त॥ —अभय. टीका. पृ. १४५

३१ सिद्धादिगुण—'सिद्ध भगवान् में आदि से अर्थात् सिद्धावस्था के प्रथम समय से ही उत्पन्न होने वाले या विद्यमान रहने वाले गुण सिद्धादिगुण कहलाते हैं। 'सद्धाइगुण' पद का अर्थ 'सिद्धातिगुण' होता है, जिनका तात्पर्य है—सिद्धो के आत्यन्तिक गुण। ये इकतीस हैं—(१-५) मतिज्ञानावरणीय आदि पाच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय (६-१४) नौ प्रकार के दर्शनावरण का क्षय (१५-१६) सातावेदनीय-असातावेदनीय का क्षय (१७) दर्शनमोहनीय का क्षय (१८) चारित्रमोहनीय का क्षय (१९-२२) चार प्रकार के आयुष्कर्म का क्षय (२३-२४) दो प्रकार के गोत्रकर्म का क्षय (२५-२६) शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म का क्षय (२७-३१) पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का क्षय।

प्रकारान्तर मे इकतीस गुण इस प्रकार हैं—पाँच सस्थानो, पाँच वर्णों, पाँच रसो, दो गन्धो, आठ स्पर्शों और तीन वेदो (स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपु सकवेद) से रहित होने के कारण २८ गुण तथा अकायता, असगता और अरूपित्व, ये तीन गुण सम्मिलित कर देने पर सब ३१ गुण होते है।

३२ योगसग्रह—मन, वचन और काय की प्रशस्त प्रवृत्तियो का सग्रह योगसग्रह कहलाता है। यह बत्तीस प्रकार का है—(१) आलोचना—आचार्यादि के समक्ष शिष्य द्वारा प्रकट किए हुए दोष यथार्थ रूप से निष्कपट भाव से प्रकट करना। २) निरपलाप—शिष्य द्वारा प्रकट किए हुए दोषो को आचार्यादि किसी अन्य के समक्ष प्रकट न करे। (३) आपत्ति आ पडने पर भी धर्म मे दृढता रखना (४) विना किसी का सहारा लिए तपश्चर्या करना (५) आचार्यादि से सूत्र और उसके अर्थ आदि को ग्रहण करना (६) शरीर का शृ गार न करना (७) अपनी तपश्चर्या या उग्र क्रिया को प्रकाशित न करना (८) निर्लोभ होना (९) कष्ट-सहिष्णु होना—परीषहो को समभाव से सहन करना (१०) आर्जव—सरलता—निष्कपटभाव होना (११) शुचिता—सत्य होना (१२) दृष्टि सम्यक् रखना (१३) समाधि—चित्त को समाहित रखना (१४) पाँच प्रकार के आचार का पालन करना (१५) विनीत होकर रहना (१६) धैर्यवान् होना—धर्मपालन मे दीनता का भाव न उत्पन्न होने देना (१७) सवेगयुक्त रहना (१८) प्रणिधि अर्थात् मायाचार न करना (१९) समीचीन आचार व्यवहार करना (२०) सवर—ऐसा आचरण करना जिससे कर्मों का आस्रव रुक जाए (२१) आत्मदोषोपसहार—अपने मे उत्पन्न होने वाले दोषो का निरोध करना (२२) काम-भोगो से विरत रहना (२३) मूल गुणो सबधी प्रत्याख्यान करना (२४) उत्तर गुणो से सबधित प्रत्याख्यान करना—विविध प्रकार के नियमो को अगीकार करना (२५) व्युत्सर्ग—शरीर, उपधि तथा कषायादि का उत्सर्ग करना—त्यागना (२६) प्रमाद का परिहार करना (२७) प्रतिक्षण समाचारी का पालन करना (२८) ध्यानरूप सवर की साधना करना (२९) मारणान्तिक कष्ट के अवसर पर भी चित्त मे क्षोभ न होना (३०) विषयासक्ति से बचे रहना (३१) अगीकृत प्रायश्चित्त का निर्वाह करना या दोष होने पर प्रायश्चित्त लेना और (३२) मृत्यु का अवसर सन्निकट आने पर सलेखना करके अन्तिम आराधना करना।

३३ आशातनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) शैक्ष—नवदीक्षित या अल्प दीक्षापर्याय वाले साधु का रात्निक—अधिक दीक्षापर्याय वाले साधु के अति निकट होकर गमन करना।

(२) शैक्ष का रात्निक साधु के आगे-आगे गमन करना।

(३) शैक्ष का रात्निक के साथ बराबरी से चलना।
(४) शैक्ष का रात्निक के आगे खड़ा होना।
(५) शैक्ष का रात्निक के साथ बराबरी से खड़ा होना।
(६) शैक्ष का रात्निक के प्रति निकट खड़ा होना।
(७) शैक्ष का रात्निक साधु के आगे बैठना।
(८) शैक्ष का रात्निक के साथ बराबरी से बैठना।
(९) शैक्ष का रात्निक के प्रति समीप बैठना।
(१०) शैक्ष, रात्निक के साथ स्थण्डिलभूमि जाए और रात्निक से पहले ही शौच—शुद्धि कर ले।
(११) शैक्ष, रात्निक के साथ विचारभूमि या विहारभूमि जाए और रात्निक से पहले ही आलोचना कर ले।
(१२) कोई मनुष्य दर्शना के लिए आया हो और रात्निक के बात करने से पहले ही शैक्ष द्वारा बात करना।
(१३) रात्रि मे रात्निक के पुकारने पर जागता हुआ भी न बोले।
(१४) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु के समक्ष आलोचना करे, बाद में रात्निक के समक्ष।
(१५) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु को और बाद मे रात्निक साधु को दिखलाना।
(१६) आहारादि के लिए पहले अन्य साधुओ को निमत्रित करना और बाद मे रत्नाधिक को।
(१७) रत्नाधिक से पूछे विना अन्य साधुओ को आहारादि देना।
(१८) रात्निक साधु के साथ आहार करते समय मनोज्ञ, सरस वस्तु अधिक एव जल्दी-जल्दी खाए।
(१९) रत्नाधिक के पुकारने पर उनकी बात अनसुनी करना।
(२०) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने स्थान पर बैठे-बैठे सुनना और उत्तर देना।
(२१) रत्नाधिक के कुछ कहने पर 'क्या कहा ?' इस प्रकार पूछना।
(२२) रत्नाधिक के प्रति 'तू, तुम' ऐसे तुच्छतापूर्ण शब्दो का व्यवहार करना।
(२३) रत्नाधिक के प्रति कठोर शब्दो का प्रयोग करे, उद्दण्डतापूर्वक बोले, अधिक बोले।
(२४) 'जी हाँ' आदि शब्दो द्वारा रात्निक की धर्मकथा का अनुमोदन न करना।
(२५) धर्मकथा के समय रात्निक को टोकना, 'आपको स्मरण नही' इस प्रकार के शब्द कहना।
(२६) धर्मकथा कहते समय रात्निक को 'बस करो' इत्यादि कह कर कथा समाप्त करने के लिए कहना।
(२७) धर्मकथा के अवसर पर परिषद् को भग करने का प्रयत्न करे।
(२८) रात्निक साधु धर्मोपदेश कर रहे हो, सभा—श्रोतृगण उठे न हो, तब दूसरी-तीसरी बार वही कथा कहना।
(२९) रात्निक धर्मोपदेश कर रहे हो तब उनकी कथा का काट करना या बीच मे स्वय बोलने लगना।
(३०) रात्निक साधु की शय्या या आसन को पैर से ठुकराना।
(३१) रत्नाधिक के समान—बराबरी पर आसन पर बैठना।

(३२) रत्नाधिक के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना।

(३३) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने आसन पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना।

इन आशातनाओं से मोक्षमार्ग की विराधना होती है, अतएव ये वर्जनीय हैं।

३३ सुरेन्द्र बत्तीस हैं—भवनपतियों के २०, वैमानिकों के १० तथा ज्योतिष्कों के दो—चन्द्रमा और सूर्य। (इनमें एक नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्त्ती को सम्मिलित कर देने से ३३ सख्या की पूर्त्ति हो जाती है।[1])

(उल्लिखित) एक मे प्रारम्भ करके तीन अधिक तीस अर्थात् तेतीस सख्या हो जाती है। इन सब सख्या वाले पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थों मे, जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित है तथा शाश्वत अवस्थित और सत्य हैं, किसी प्रकार की शका या काक्षा न करके हिंसा आदि से निवत्ति करनी चाहिए एव विशिष्ट एकाग्रता धारण करनी चाहिए। इस प्रकार निदान —नियाणा से रहित होकर, ऋद्धि आदि के गौरव—अभिमान से दूर रह कर, अलुब्ध—निर्लोभ होकर तथा मूढता त्याग कर जो अपने मन, वचन और काय को सवृत करता हुआ श्रद्धा करता है, वही वास्तव मे साधु है।

विवेचन—मूल पाठ स्पष्ट है और आवश्यकतानुसार उसका विवेचन अर्थ में साथ ही कर दिया गया है। इस पाठ का आशय यही है कि वीतराग देव ने जो भी हेय, उपादेय या ज्ञेय तत्त्वो का प्रतिपादन किया है, वे सब सत्य है, उनमे शका-काक्षा करने का कोई कारण नही है। अतएव हेय को त्याग कर, उपादेय को ग्रहण करके और ज्ञेय को जान कर विवेक पूर्वक—अमूढभाव से प्रवृत्ति करनी चाहिए। साधु को इन्द्रादि पद की या भविष्य के भोगादि की अकाक्षा से रहित, निरभिमान, अलोलुप और सवरमय मन, वचन, काय वाला होना चाहिए।

धर्म-वृक्ष का रूपक

१५५—जो सो वीरवर-वयण-विरइ-पवित्थरबहुविहप्पयारो सम्मत्त-विसुद्धमूलो धिइकंदो विणयवेइओ णिग्गय-तेल्लोक्क-विउलजस-णिविड-पीण-पवरसुजायखधो पंचमहव्वय-विसालसालो भावणतयंत-ज्झाण-सुहजोग-णाणपल्लववरंकुरधरो बहुगुणकुसुमसमिद्धो सील-सुगंधो अणण्हवफलो पुणो य मोक्खवरबीजसारो मंदरगिरि-सिहर-चूलिआ इव इमस्स मोक्खवर-मुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ संवर-वर-पायवो चरिमं संवरदारं।

१५५—श्रीवीरवर—महावीर भगवान् के वचन—आदेश से की गई परिग्रहनिवृत्ति के विस्तार से यह सवरवर-पादप अर्थात् अपरिग्रह नामक अन्तिम सवरद्वार बहुत प्रकार का है। सम्यग्दर्शन इसका विशुद्ध—निर्दोष मूल है। धृति-चित्त की स्थिरता इसका कन्द है। विनय इसकी

---

१ 'तित्तीसा आसायणा' के पश्चात् 'सुरिंदा' पाठ आया है। टीकाकार अभयदेव और देवविमलसूरि को भी यही पाठक्रम अभीष्ट है। सुरेन्द्रो की संख्या बत्तीस बतलाई गई है। तेतीस के बाद बत्तीससख्यक सुरेन्द्रो का कथन असगत मान कर किसी-किसी सस्करण मे 'सुरिंदा' आसातनाओ से पहले रख दिया है और किसी ने 'नरेन्द्र' को सुरेन्द्रो के साथ जोड कर तेतीस की सख्या की पूर्त्ति की है। बत्तीस सुरेन्द्रो मे भवनपतियो के इन्द्रो की गणना की गई है, पर व्यन्तरेन्द्र नही गिने गए।—तत्त्व केवलिगम्य है।

वेदिका— चारो ओर का परिकर है। तीनो लोको मे फैला हुआ विपुल यश इसका सघन, महान् और सुनिर्मित स्कन्ध (तना) है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ है। अनित्यता, अशरणता आदि भावनाएँ इस सवरवृक्ष की त्वचा है। धर्मध्यान, शुभयोग तथा ज्ञान रूपी पल्लवो के अकुरो को यह धारण करने वाला है। बहुसख्यक उत्तरगुण रूपी फूलो से यह समृद्ध है। यह शील के सौरभ से सम्पन्न है और वह सौरभ ऐहिक फल की वाछा से रहित सत्प्रवृत्तिरूप है। यह सवरवृक्ष अनास्रव-कर्मास्रव के निरोध रूप फलो वाला है। मोक्ष ही इसका उत्तम बीजसार— मीजी है। यह मेरु पर्वत के शिखर पर चूलिका के समान मोक्ष— कर्मक्षय के निर्लोभतास्वरूप मार्ग का शिखर है। इस प्रकार का अपरिग्रह रूप उत्तम सवरद्वार रूपी जो वृक्ष है, वह अन्तिम सवरद्वार है।

विवेचन—अपरिग्रह पाँच सवरद्वारो मे अन्तिम सवरद्वार है। सूत्रकार ने इस सवरद्वार को वृक्ष का रूपक देकर आलकारिक भाषा मे सुन्दर रूप से वर्णित किया है। वर्णन का आशय मूलार्थ से ही समझा जा सकता है।

अकल्पनीय-अनाचरणीय

१५६—जत्थ ण कप्पइ गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासमगयं च किंचि अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा तसथावरकायदव्वजायं मणसा वि परिघेत्तुं, ण हिरण्णसुवण्णखेत्तवत्थुं, ण दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गवेलगं व, ण जाण-जुग्ग-सयणासणाइ, ण छत्तगं, ण कुंडिया, ण उवाणहा, ण पेहुण-वीयण-तालियटगा, ण यावि अय-तउय-तंब-सीसग-कंस-रयय-जायरूव-मणिमुत्ताहार-पुडग-संख-दंत-मणि-सिंग-सेल-काय-वरचेल-चम्मपत्ताइं महरिहाइ, परस्स अज्झोववाय-लोहजणणाइं परियड्ढेउं गुणवओ, ण यावि पुप्फ-फल-कंद-मूलाइयाइं सणसत्तरसाइं सव्वधण्णाइ तिहि वि जोगेहिं परिघेत्तुं ओसह-भेसज्ज-भोयणट्ठयाए संजएणं।

किं कारणं ?

अपरिमियणाणदसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव-सजमणायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगज्जीव-वच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा। ण कप्पइ जोणिसमुच्छेओ त्ति तेण वज्जंति समणसीहा।

१५६—ग्राम, आकर, नगर, खेड, कर्बट, मडब, द्रोणमुख, पत्तन अथवा आश्रम मे रहा हुआ कोई भी पदार्थ हो, चाहे वह अल्प मूल्य वाला हो या बहुमूल्य हो, प्रमाण मे छोटा हो अथवा बडा हो, वह भले त्रसकाय -शख आदि हो या स्थावरकाय—रत्न आदि हो, उस द्रव्यसमूह को मन से भी ग्रहण करना नही कल्पता, अर्थात् उसे ग्रहण करने की इच्छा करना भी योग्य नही है। चादी, सोना, क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (मकान-दुकान आदि) भी ग्रहण करना नही कल्पता। दासी, दास, भृत्य--नियत वृत्ति पाने वाला सेवक, प्रेष्य— सदेश ले जाने वाला सेवक, घोडा, हाथी, बैल आदि भी ग्रहण करना नही कल्पता। यान -रथ, गाडी आदि, युग्य—डोली आदि, शयन आदि और छत्र— छाता आदि भी ग्रहण करना नही कल्पता, न कमण्डलु, न जूता, न मोरपीछी, न वीजना-पखा और तालवृन्त—ताड का पखा- ग्रहण करना कल्पता है। लोहा, रागा, ताबा, सीसा, कासा, चादी, सोना,

मणि और मोती का आधार सीपसम्पुट, शख, उत्तम दात, सीग, शैल-पाषाण (या पाठान्तर के अनुसार लेस अर्थात् श्लेष द्रव्य), उत्तम काच, वस्त्र और चर्मपात्र- इन सब को भी ग्रहण करना नही कल्पता। ये सब मूल्यवान् पदार्थ दूसरे के मन मे ग्रहण करने की तीव्र आकाक्षा उत्पन्न करते हैं, आसक्तिजनक हैं, इन्हे सभालने और बढाने की इच्छा उत्पन्न करते है, अर्थात् किसी स्थान पर पूर्वोक्त पडे पदार्थ देख कर दूसरे लोग इन्हे उठा लेने की अभिलाषा करते हैं, उनके चित्त मे इनके प्रति मूर्च्छाभाव उत्पन्न होता है, वे इनकी रक्षा और वृद्धि करना चाहते है, किन्तु साधु को नही कल्पता कि वह इन्हे ग्रहण करे। इसी प्रकार पुष्प, फल, कन्द, मूल आदि तथा सन जिनमें सत्तरहवाँ है, ऐसे समस्त धान्यो को भी परिग्रहत्यागी साधु औषध, भैजष्य या भोजन के लिए त्रियोग—मन, वचन, काय से ग्रहण न करे।

नही ग्रहण करने का क्या कारण है ?

अपरिमित अनन्त ज्ञान और दर्शन के धारक, शील— चित्त की शान्ति, गुण— अहिंसा आदि, विनय, तप और सयम के नायक, जगत् के समस्त प्राणियो पर वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोक-पूजनीय, तीर्थंकर जिनेन्द्र देवो ने अपने केवलज्ञान से देखा है कि ये पुष्प, फल आदि त्रस जीवो की योनि —उत्पत्तिस्थान है। योनि का उच्छेद—विनाश करना योग्य नही है। इसी कारण श्रमणसिंह - उत्तम मुनि पुष्प, फल आदि का परिवर्जन करते हैं।

विवेचन— प्रस्तुत पाठ मे स्पष्ट किया गया है कि ग्राम, आकर, नगर, निगम आदि किसी भी वस्ती मे कोई भी वस्तु पडी हो तो अपरिग्रही साधु को उसे ग्रहण नही करना चाहिए। इतना ही नही, साधु का मन इस प्रकार सधा हुआ होना चाहिए कि उसे ऐसे किसी पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा ही न हो। ग्रहण न करना एक बात है, वह साधारण साधना का फल है, किन्तु ग्रहण करने की अभिलाषा ही उत्पन्न न होना उच्च साधना का फल है। मुनि का मन इतना समभावी, मूर्च्छा-विहीन एव नियत्रित रहे कि वह किसी भी वस्तु को कही भी पडी देख कर न ललचाए। जो स्वर्ण, रजत, मणि, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ अथवा अल्प मूल्य होने पर भी सुखकर--आरागदेह वस्तुएँ दूसरे को मन मे लालच उत्पन्न करती है, मुनि उन्हे उपेक्षा की दृष्टि स देखे। उसे ऐसी वस्तुओ को ग्रहण करने की अभिलाषा ही न हो।

फिर सचित्त पुष्प, फल, कन्द, मूल आदि पदार्थ तो त्रस जीवो की उत्पत्ति के स्थान है और योनि को विध्वस्त करना मुनि को कल्पता नही है। इस कारण ऐसे पदार्थो के ग्रहण से वह सदैव बचता है।

सन्निधि-त्याग

१५७ —जं पि य ओयणकुम्मास-गंज-तप्पण-मंथु-भुज्जिय-पलल-सूव-सक्कुलि-वेढिम-वरसरक-चुण्ण-कोसग-पिंड-सिहरिणि-वट्ट-मोयग-खीर- दहि-सप्पि-णवणीय- तेल्ल-गुड-खंड मच्छंडिय-महु- मज्ज-मंस-खज्जग-वंजण-विहिमाइयं पणीयं उवस्सए परघरे व रण्णे ण कप्पइ तं वि सण्णिहिं काउं सुविहियाणं।

१५७ -और जो भी ओदन कूर, कुल्माष— उडद या थोडे उबाले मूग आदि गज -एक

प्रकार का भोज्य पदार्थ, तर्पण --सत्तू, मथु- बोर आदि का चूर्ण— आटा, भूजी हुई धानी—लाई, पलल –तिल के फूलो का पिष्ट, सूप –दाल, शष्कुली—तिलपपडी, वेष्टिम— जलेबी, इमरती आदि, वरसरक नामक भोज्य वस्तु, चूर्णकोश-- खाद्यविशेष, गुड आदि का पिण्ड, शिखरिणी—दही में शक्कर आदि मिला कर बनाया गया भोज्य —श्रीखड, वट्ट—वडा, मोदक--लड्डू , दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, खाजा, गुड, खाँड, मिश्री, मधु, मद्य, मास और अनेक प्रकार के व्यजन—शाक, छाछ आदि वस्तुओ का उपाश्रय मे, अन्य किसी के घर मे अथवा अटवी मे सुविहित—परिग्रहत्यागी, शोभन आचार वाले साधुओ को सचय करना नही कल्पता है।

विवेचन —उल्लिखित पाठ मे खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख किया गया है। तथापि सुविहित साधु को इनका सचय करके रखना नही कल्पता है। कहा है

बिडमुब्भेइम लोण, तेल्ल सप्पि च फाणिय।
ण ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्तवए रया॥

अर्थात् सभी प्रकार के नमक, तेल, घृत, तिल-पपडी आदि किसी भी प्रकार के खाद्य पदार्थ का वे साधु सग्रह नही करते जो ज्ञानपुत्र—भगवान् महावीर के वचनो मे रत हैं।

सचय करने वाले साधु को शास्त्रकार गृहस्थ की कोटि मे रखते हैं। सचय करना गृहस्थ का कार्य है, साधु का नही। साधु तो पक्षी के समान वृत्ति वाले होते है। उन्हे यह चिन्ता नही होती कि कल आहार प्राप्त होगा अथवा नही! कौन जाने कल आहार मिलेगा अथवा नही, ऐसी चिन्ता से ही सग्रह किया जाता है, किन्तु साधु तो लाभ-अलाभ मे समभाव वाला होता है। अलाभ की स्थिति को वह तपश्चर्यारूप लाभ का कारण मानकर लेशमात्र भी खेद का अनुभव नही करता। सग्रहवृत्ति मे अन्य भी अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने की सभावना रहती है। एक ही बार मे पर्याप्त से अधिक आहार लाने से प्रमादवृत्ति आ सकती है। सरस आहार अधिक लाकर रख लेने से लोलुपता उत्पन्न हो सकती है, आदि। अतएव साधु को किसी भी भोज्य वस्तु का सग्रह न करने का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। परिग्रह-त्यागी मुनि के लिए यह सर्वथा अनिवार्य है।

१५८—ज पि य उद्दिट्ठ-ठविय-रइयग-पज्जवजाय पकिण्ण पाउयरण-पामिच्चं मीसगजायं कीयगड पाहुडं च दाणट्ठपुण्णपगडं समणवणीमगट्ठयाए वा कय पच्छाकम्मं पुरेकम्मं णिइकम्मं मक्खियं अइरित्तं मोहर चेव सयगाहमाहड मट्टिउवलित्तं, अच्छेज्जं चेव अणीसट्ठं जं तं तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य अंतो वा बहिं वा होज्ज समणट्ठयाए ठविय हिंसासावज्जसपउत्त ण कप्पइ तं पि य परिघेत्तुं।

१५८ -इसके अतिरिक्त जो आहार औद्देशिक हो, स्थापित हो, रचित हो, पर्यवजात हो, प्रकीर्ण, प्रादुष्करण, प्रामित्य, मिश्रजात, क्रीतकृत, प्राभृत दोष वाला हो, जो दान के लिए या पुण्य के लिए बनाया गया हो, जो पाँच प्रकार के श्रमणो अथवा भिखारियो को देने के लिए तैयार किया गया हो, जो पश्चात्कर्म अथवा पुर कर्म दोष से दूषित हो, जो नित्यकर्म-दूषित हो, जो म्रक्षित, अतिरिक्त मौखर, स्वयग्राह अथवा आहृत हो, मृत्तिकोपलिप्त, आच्छेद्य, अनिसृष्ट हो अथवा जो आहार मदनत्रयोदशी आदि विशिष्ट तिथियो मे यज्ञ और महोत्सवो में, उपाश्रय के भीतर या बाहर साधुओं को देने के लिए रक्खा हो, जो हिंसा-सावद्य दोष से युक्त हो, ऐसा भी आहार साधु को लेना नही कल्पता है।

विवेचन—पूर्व पाठ मे बतलाया गया था कि आहार की सन्निधि करना अर्थात् सचय करना अपरिग्रही साधु को नही कल्पता, क्योकि सचय परिग्रह है और यह अपरिग्रह धर्म से विपरीत है। प्रकृत पाठ में प्रतिपादित किया गया है कि भले ही सचय के लिए न हो, तत्काल उपयोग के लिए हो, तथापि सूत्र मे उल्लिखित दोषो में से किसी भी दोष से दूषित हो तो भी वह आहार, मुनि के लिए ग्राह्य नही है। इन दोषो का अर्थ इस प्रकार है—

उद्दिष्ट—सामान्यत किसी भी साधु के लिए बनाया गया।

स्थापित—साधु के लिए रख छोडा गया।

रचित—साधु के निमित्त मोदक आदि को तपा कर पुन मोदक आदि के रूप मे तैयार किया गया।

पर्यवजात—साधु को उद्देश्य करके एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे बदला हुआ।

प्रकीर्ण—धरती पर गिराते या टपकाते हुए दिया जाने वाला आहार।

प्रादुष्करण—अन्धेरे मे रक्खे आहार को प्रकाश करके देना।

प्रामित्य—साधु के निमित्त उधार लिया गया आहार।

मिश्रजात—साधु और गृहस्थ या अपने लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार।

क्रीतकृत—साधु के लिए खरीद कर बनाया गया।

प्राभृत—साधु के निमित्त अग्नि मे ईंधन डालकर उसे प्रज्वलित करके अथवा ईंधन निकाल कर अग्नि मन्द करके दिया गया आहार।

दानार्थ—दान के लिए बनाया गया।

पुण्यार्थ—पुण्य के लिए बनाया गया।

श्रमणार्थ—श्रमण पाच प्रकार के माने गए है—(१) निर्ग्रन्थ (२) शाक्य—बौद्धमतानुयायी (३) तापस—तपस्या की विशेषता वाले (४) गेरुक—गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले और (५) आजीविक—गोशालक के अनुयायी। इन श्रमणो के लिए बनाया गया आहार श्रमणार्थ कहलाता है।

वनीपकार्थ—भिखारियो के अर्थ बनाया गया। टीकाकार ने वनीपक का पर्यायवाची शब्द 'तर्कुक' लिखा है।

पश्चात्कर्म—दान के पश्चात् वर्त्तन धोना आदि सावद्य क्रिया वाला आहार।

पुरःकर्म—दान से पूर्व हाथ धोना आदि सावद्य कर्म वाला आहार।

नित्यकर्म—सदाव्रत की तरह जहाँ सदैव साधुओ को आहार दिया जाता हो अथवा प्रतिदिन एक घर से लिया जाने वाला आहार।

म्रक्षित—सचित्त जल आदि से लिप्त हाथ अथवा पात्र से दिया जाने वाला आहार।

अतिरिक्त—प्रमाण से अधिक।

मौखर्य—वाचालता—अधिक बोलकर प्राप्त किया जाने वाला।

स्वयग्राह—स्वय अपने हाथ से लिया जाने वाला।

आहृत—अपने गाव या घर से साधु के समक्ष लाया गया।

मृत्तिकालिप्त—मिट्टी आदि से लिप्त।

आच्छेद्य—निर्बल से छीन कर दिया जाने वाला।

अनिसृष्ट—अनेकों के स्वामित्व की वस्तु उन सबकी अनुमति के बिना दी जाए ।

उल्लिखित आहार सम्बन्धी दोषों में से अनेक दोष उद्गम-उत्पादना सबधी दोषों में गर्भित है। तथापि अधिक स्पष्टता के लिए यहाँ उनका भी निर्देश कर दिया गया है। पूर्वोक्त दोषों में से किसी भी दोष से युक्त आहार सुविहित साधुओं के लिए कल्पनीय नहीं होता।

कल्पनीय भिक्षा

१५९—अह केरिसयं पुणाइ कप्पइ ? जं तं एक्कारस-पिंडवायसुद्धं किणण-हणण-पयण-कय-कारियाणुमोयण-णवकोडीहिं सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं उग्गम-उप्पायणेसणाए सुद्धं, ववगय-चुयचवियचत्त-देहं च फासुयं ववगय-सजोग-मणिगालं विगयधूमं छट्ठाण णिमित्तं छक्काय-परिरक्खणट्ठा हणिं हणिं फासुएण भिक्खेणं वट्टियव्वं ।

१५९—प्रश्न—तो फिर किस प्रकार का आहार साधु के लिए ग्रहण करने योग्य है ?

उत्तर—जो आहारादि एकादश पिण्डपात से शुद्ध हो, अर्थात् आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैषणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में प्ररूपित दोषों से रहित हो, जो खरीदना, हनन करना—हिंसा करना और पकाना, इन तीन क्रियाओं से कृत, कारित और अनुमोदन से निष्पन्न नौ कोटियों से पूर्ण रूप से शुद्ध हो, जो एषणा के दस दोषों से रहित हो, जो उद्गम और उत्पादनारूप एषणा अर्थात् गवेषणा और ग्रहणैषणा रूप एषणादोष से रहित हो, जो सामान्य रूप से निर्जीव हुए, जीवन से च्युत हो गया हो, आयुक्षय के कारण जीवनक्रियाओं से रहित हो, शरीरोपचय से रहित हो, अतएव जो प्रासुक—अचेतन हो चुका हो, जो आहार संयोग और अंगार नामक मण्डल-दोष से रहित हो, जो आहार की प्रशंसारूप धूम-दोष से रहित हो, जो छह कारणों में से किसी कारण से ग्रहण किया गया हो और छह कायों की रक्षा के लिए स्वीकृत किया गया हो, ऐसे प्रासुक आहारादि से प्रतिदिन—सदा निर्वाह करना चाहिए।

विवेचन—पूर्व में बतलाया गया था कि किन-किन दोष वाली भिक्षा साधु के लिए ग्राह्य नहीं है। यह वक्तव्य भिक्षा सम्बन्धी निषेधपक्ष को मुख्यतया प्रतिपादित करता है। किन्तु जब तक निषेध के साथ विधिपक्ष को प्रदर्शित न किया जाय तब तक सामान्य साधक के लिए स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं होता। अतएव यहाँ भिक्षा के विधिपक्ष का निरूपण किया गया है। यह निरूपण प्रश्न और उत्तर के रूप में है।

प्रश्न किया गया है कि यदि साधुओं को अमुक-अमुक दोष वाली भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए तो कैसी भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ?

उत्तर है—आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के पिण्डैषणा नामक अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में कथित समस्त दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इन उद्देशकों में आहार सम्बन्धी समस्त दोषों का कथन समाविष्ट हो जाता है। इस शास्त्र में भी उनका निरूपण किया जा चुका है। अतएव यहाँ पुनः उल्लेख करना अनावश्यक है।

नवकोटिविशुद्ध आहार—साधु के निमित्त खरीदी गई, खरीदवाई गई और खरीद के लिए

अनुमोदित की गई, इसी प्रकार हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से तैयार की गई, और पकाना, पकवाना तथा पकाने की अनुमोदना करने से निष्पन्न हुई भिक्षा अग्राह्य है। इनसे रहित भिक्षा ग्राह्य है।

एषणा एवं मंडल सम्बन्धी दोषों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

आहारग्रहण के छह निमित्त—साधु शरीरपोषण अथवा रसनेन्द्रिय के आनन्द के अर्थ आहार ग्रहण नहीं करते। शास्त्र में छह कारणों में से कोई एक या अनेक कारण उपस्थित होने पर आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है, जो इस प्रकार है -

वेयण-वेयावच्चे ईरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

अर्थात्— (१) क्षुधावेदनीय कर्म की उपशान्ति के लिए (२) वैयावृत्य (आचार्यादि गुरुजनों की सेवा) का सामर्थ्य बना रहे, इस प्रयोजन के लिए (३) ईर्यासमिति का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए (४) संयम का पालन करने के लिए (५) प्राणरक्षा—जीवननिर्वाह के लिए और (६) धर्मचिन्तन के लिए (आहार करना चाहिए)।

छह काय- पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर और द्वीन्द्रियादि त्रस, ये छह काय हैं। समस्त संसारवर्त्ती जीव इन छह भेदों में गर्भित हो जाते हैं। अतएव षट्काय की रक्षा का अर्थ है -समस्त सांसारिक जीवों की रक्षा। इन की रक्षा के लिए और रक्षा करते हुए आहार कल्पनीय होता है।

१६०— जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पकारंमि समुप्पण्णे वायाहिक-पित्त-सिंभ-अइरित्तकुविय-तहसण्णिवायजाए व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल (तिउल) कक्खडपगाढदुक्खे असुभकडुयफरुसे चंडफलविवागे महब्भये जीवियंतकरणे सव्वसरीरपरितावणकरे ण कप्पइ तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसहभेसज्जं भत्तपाणं च तं पि सण्णिहिकयं।

१६०—सुविहित—आगमानुकूल चारित्र का परिपालन करने वाले साधु को यदि अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोग और आतंक—जीवन को संकट या कठिनाई में डालने वाली व्याधि उत्पन्न हो जाए, वात, पित्त या कफ का अतिशय प्रकोप हो जाए, अथवा सन्निपात- उक्त दो या तीनों दोषों का एक साथ प्रकोप हो जाए और इसके कारण उज्ज्वल अर्थात् सुख के लेशमात्र से रहित, प्रबल विपुल—दीर्घकाल तक भोगने योग्य (या त्रितुल—तीनों योगों को तोलने वाले कष्टमय बना देने वाले), कर्कश - अनिष्ट एवं प्रगाढ अर्थात् अत्यन्त तीव्र दुःख उत्पन्न हो जाए और वह दुःख अशुभ या कटुक द्रव्य के समान असुख—अनिष्ट रूप हो, परुष—कठोर हो, दुःखमय दारुण फल वाला हो, महान् भय उत्पन्न करने वाला हो, जीवन का अन्त करने वाला और समग्र शरीर में परिताप उत्पन्न करने वाला हो, तो ऐसा दुःख उत्पन्न होने की स्थिति में भी स्वयं अपने लिए अथवा दूसरे साधु के लिए औषध, भैषज्य, आहार तथा पानी का संचय करके रखना नहीं कल्पता है।

विवेचन - पूर्ववर्त्ती पाठ में सामान्य अवस्था में लोलुपता आदि के कारण आहारादि के संचय करने का निषेध किया गया था और प्रस्तुत पाठ में रोगादि की अवस्था में भी सन्निधि करने का निषेध किया गया है। यहाँ रोग के अनेक विशेषणों द्वारा उसकी तीव्रतमता प्रदर्शित की गई है। कहा

गया है कि रोग अथवा आतंक इतना उग्र हो कि लेशमात्र भी चैन न लेने दे, बहुत बलशाली हो, थोड़े समय के लिए नहीं वरन् दीर्घ काल पर्यन्त भोगने योग्य हो, अतीव कर्कश हो, तन और मन को भीषण व्यथा पहुँचाने वाला हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त करने वाला भी क्यों न हो, तथापि साधु को ऐसी घोरतर अवस्था में आहार-पानी और औषध-भैषज्य का कदापि संग्रह नहीं करना चाहिए। संग्रह परिग्रह है और अपरिग्रही साधु के जीवन में संग्रह को कोई स्थान नहीं है।

साधु के उपकरण

१६१—जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ पडिग्गहधारिस्स भवइ भायण-भंडोवहिउवगरणं पडिग्गहो पायबंधणं पायकेसरिया पायठवणं च पडलाइं तिण्णेव, रयत्ताणं च गोच्छओ, तिण्णेव य पच्छागा, रयहरण-चोलपट्टग-मुहणंतगमाईयं। एयं पि य संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायायव-दंस-मसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं, संजएण णिच्चं पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं णिक्खिवियव्वं च गिण्हियव्वं च भायण-भंडोवहि-उवगरणं।

१६१ पात्रधारी सुविहित साधु के पास जो पात्र, मृत्तिका के भांड, उपधि और उपकरण होते हैं, जैसे—पात्र, पात्रबन्धन, पात्रकेसरिका, पात्रस्थापनिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छाद, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखानन्तक—मुखवस्त्रिका, ये सब भी संयम की वृद्धि के लिए होते हैं तथा वात—प्रतिकूल वायु, ताप, धूप, डांस-मच्छर और शीत से रक्षण—बचाव के लिए हैं। इन सब उपकरणों को राग और द्वेष से रहित होकर साधु को धारण करने चाहिए अर्थात् रखना चाहिए। सदा इनका प्रतिलेखन—देखना, प्रस्फोटन—झाड़ना और प्रमार्जन—पोंछना चाहिए। दिन में और रात्रि में सतत—निरन्तर अप्रमत्त रह कर भाजन, भाण्ड, उपधि और उपकरणों को रखना और ग्रहण करना चाहिए।

विवेचन— प्रकृत पाठ में 'पडिग्गहधारिस्स' इस विशेषण पद से यह सूचित किया गया है कि विशिष्ट जिनकल्पी साधु के नहीं किन्तु पात्रधारी स्थविरकल्पी साधु के उपकरणों का यहाँ उल्लेख किया गया है। ये उपकरण संयम की वृद्धि और प्रतिकूल परिस्थितियों में से शरीर की रक्षा के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं, यह भी इस पाठ से स्पष्ट है। इनका अर्थ इस प्रकार है—

पतद्ग्रह- पात्र आहारादि के लिए काष्ठ, मृत्तिका या तूम्बे के पात्र।

पात्रबन्धन -पात्रों को बाँधने का वस्त्र।

पात्रकेसरिका -पोंछने का वस्त्रखण्ड।

पात्रस्थापन—जिस पर पात्र रक्खे जाएँ।

पटल -पात्र ढँकने के लिए तीन वस्त्र।

रजस्त्राण -पात्रों को लपेटने का वस्त्र।

गोच्छक- पात्रादि के प्रमार्जन के लिए पूंजनी।

प्रच्छाद—ओढ़ने के वस्त्र (तीन)।

रजोहरण— ओघा।

चोलपट्टक—कमर में पहनने का वस्त्र ।

मुखानन्तक—मुखवस्त्रिका ।

ये उपकरण सयम-निर्वाह के अर्थ ही साधु ग्रहण करते और उपयोग मे लाते हैं, ममत्व से प्रेरित होकर नही, अतएव ये परिग्रह मे सम्मिलित नही है । आगम मे उल्लेख है--

जपि वत्थ व पाय वा, कबल पायपुछण ।
तपि सजम-लज्जट्ठा, धारनि परिहरति य ।।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इग्र वुत्त महेसिणा ।।

तात्पर्य यह है कि मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन आदि उपकरण ग्रहण करते हैं, वे मात्र सयम एव लज्जा के लिए ही ग्रहण करते है और उनका परिभोग करते है । भगवान् महावीर ने उन उपकरणो को परिग्रह नही कहा है । क्योकि परिग्रह तो मूर्च्छा-ममता है । महर्षि प्रभु महावीर का यह कथन है ।

इस आगम-कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गृहीत उपकरणो के प्रति यदि ममत्वभाव उत्पन्न हो जाए तो वही उपकरण परिग्रह बन जाते है । इस भाव को प्रकट करने के लिए प्रस्तुत पाठ मे भी **रागदोसरहियं परिहरितव्वं** अर्थात् राग और द्वेष से रहित होकर उपयोग करना चाहिए, यह उल्लेख कर दिया गया है ।

निर्ग्रन्थों का आन्तरिक स्वरूप

१६२--एवं से संजए विमुत्ते निस्संगे निप्परिग्गहरुई निम्ममे निण्णेहबंधणे सव्वपावविरए वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिमुत्तालेट्ठुकंचणे समे य माणावमाणणाए समियरए समियरागदोसे समिए समिइसु सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणे, सुयधारए उज्जुए संजए सुसाहू, सरणं सव्वभूयाणं सव्वजगवच्छले सच्चभासय य संसारंतट्ठिए य संसारसमुच्छिण्णे सययं मरणाणुपारए, पारगे य सव्वेसिं संसयाण पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्म-गंठी-विमोयगे, अट्ठमय-महणे ससमयकुसले य भवइ सुहदुहणिव्विसेसे अब्भिंतरबाहिरम्मि सया तवोवहाणम्मि सुट्ठुज्जुए खंते दंते य हियणिरए ईरिया-समिए भासासमिए एसणासमिए आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणा-समिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी चाई लज्जू धण्णे तवस्सी खंतिखमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अबहिल्लेस्से अममे अकिंचणे छिण्णगंथे णिरुवलेवे ।

१६२--इस प्रकार के आचार का परिपालन करने के कारण वह साधु सयमवान्, विमुक्त—धन-धान्यादि का त्यागी, नि.सग—आसक्ति से रहित, निष्परिग्रहरुचि—अपरिग्रह मे रुचि वाला, निर्मम -ममता से रहित, नि:स्नेहबन्धन- स्नेह के बन्धन से मुक्त, सर्वपापविरत—समस्त पापो से निवृत्त, वासी-चन्दनकल्प अर्थात् उपकारक और अपकारक के प्रति समान भावना वाला, तृण, मणि, मुक्ता और मिट्टी के ढेले को समान मानने वाला अर्थात् अल्पमूल्य या बहुमूल्य पदार्थों को समान रूप से उपेक्षा करने वाला, सन्मान और अपमान मे समता का धारक, शमितरज—पाप रूपी रज को

उपशान्त करने वाला या शमितरत—विषय सम्बन्धी रति को उपशान्त करने वाला अथवा शमितरय—उत्सुकता को शान्त कर देने वाला, राग-द्वेष को शान्त करने वाला, ईर्या आदि पाँच समितियो से युक्त, सम्यग्दृष्टि और समस्त प्राणो -द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणियो और भूतो—एकेन्द्रिय स्थावरो पर समभाव धारण करने वाला होता है। वही वास्तव मे साधु है।

वह साधु श्रुत का धारक, ऋजु—निष्कपट—सरल अथवा उद्युक्त—प्रमादहीन और सयमी है। वह साधु समस्त प्राणियो के लिए शरणभूत होता है, समस्त जगद्वर्त्ती जीवो का वत्सल -हितैषी होता है। वह सत्यभाषी, ससार—जन्म-मरण के अन्त मे स्थित, ससार-भवपरम्परा का उच्छेद—अन्त करने वाला, सदा के लिए (बाल) मरण आदि का पारगामी और सब सशयो का पारगामी—छेत्ता होता है। पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनमाताओं के द्वारा आठ कर्मों की ग्रन्थि को खोलने वाला—अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाला, जातिमद, कुलमद आदि आठ मदो का मथन करने वाला एव स्वसमय—स्वकीय सिद्धान्त मे निष्णात होता है। वह सुख-दुःख मे विशेषता रहित अर्थात् सुख में हर्ष और दु ख मे शोक से अतीत होता है—दोनो अवस्थाओ मे समान रहता है। आभ्यन्तर और बाह्य तप रूप उपधान मे सम्यक् प्रकार से उद्यत रहता है, क्षमावान्, इन्द्रियविजेता, स्वकीय और परकीय हित मे निरत, ईर्यासमिति से सम्पन्न, भाषासमिति से सम्पन्न, एषणासमिति से सम्पन्न, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षपणसमिति मे सम्पन्न और मल-मूत्र-श्लेष्म-सघान -नासिकामल-जल्ल -शरीरमल आदि के प्रतिष्ठापन की समिति से युक्त, मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से और कायगुप्ति से युक्त, विषयो की ओर उन्मुख इन्द्रियो का गोपन करने वाला, ब्रह्मचर्य की गुप्ति से युक्त, समस्त प्रकार के सग का त्यागी, रज्जु के समान सरल, तपस्वी, क्षमागुण के कारण सहनशील, जितेन्द्रिय, सद्गुणो से शोभित या शोधित, निदान से रहित, चित्तवृत्ति को सयम की परिधि से बाहर न जाने देने वाला, ममत्व से विहीन, अकिचन—सम्पूर्ण रूप मे निर्द्रव्य, स्नेहबन्धन को काटने वाला और कर्म के उपलेप से रहित होता है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे साधु के आन्तरिक जीवन का अत्यन्त सुन्दर एव भव्य चित्र अकित किया गया है। साधु के समग्र आचार को यहाँ सार के रूप मे समाविष्ट कर दिया गया है। पाठ मे पदो का अर्थ प्राय सुगम है। कुछ विशिष्ट पदो का तात्पर्य इस प्रकार है—

खंतिखमे—साधु अनिष्ट प्रसगो को, वध-बन्धन आदि उपसर्गों या परीषहो को सहन करता है, किन्तु असमर्थता अथवा विवशता के कारण नही। उसमे क्षमा की वृत्ति इतनी प्रबल होती है अर्थात् ऐसी सहनशीलता होती है कि वह प्रतीकार करने मे पूर्णरूपेण समर्थ होकर भी अनिष्ट प्रसगो को विशिष्ट कर्मनिर्जरा के हेतु सह लेता है।

आभ्यन्तर-बाह्य तप उपधान—टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार आन्तरिक शरीर अर्थात् कार्मणशरीर को सन्तप्त—विनष्ट करने वाला प्रायश्चित्त आदि षड्विध तप आभ्यन्तर तप कहलाता है और बाह्य शरीर अर्थात् औदारिक शरीर को तपाने वाला अनशन आदि छह प्रकार का तप बाह्य तप कहलाता है।

'छिन्नगंथे' के स्थान पर टीकाकार ने **'छिन्नसोए'** पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका अर्थ **छिन्नशोक** अर्थात् शोक को छेदन कर देने वाला—किसी भी स्थिति मे शोक का अनुभव न करने

वाला अथवा छिन्नश्रोत अर्थात् स्रोतों को स्थगित कर देने वाला है। श्रोत दो प्रकार के हैं—द्रव्यश्रोत और भावश्रोत। नदी आदि का प्रवाह द्रव्यश्रोत है और ससार-समुद्र मे गिराने वाला अशुभ लोक-व्यवहार भावश्रोत है।

निरुपलेप—का आशय है—कर्म-लेप से रहित। किन्तु मुनि कर्मलेप से रहित नहीं होते। सिद्ध भगवान् ही कर्म-लेप से रहित होते है। ऐसी स्थिति मे यहाँ मुनि के लिए 'निरुपलेप' विशेषण का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर टीका में दिया गया है—'भाविनि भूतवदुपचारमाश्रित्योच्यते' अर्थात् ऐसा साधक भविष्य में कर्मलेप से रहित होगा ही, अतएव भावी अर्थ में भूतकाल का उपचार करके इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

निर्ग्रन्थों की ३१ उपमाएँ

१६३—सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए।
संखे विव णिरंजणे, विगयरागदोसमोहे।
कुम्मो विव इंदिएसु गुत्ते।
जच्चकंचणगं व जायरूवे।
पोक्खरपत्तं व णिरुवलेवे।
चंदो विव सोमभावयाए।
सूरो व्व दित्ततेए।
अचले जह मंदरे गिरिवरे।
अक्खोभे सागरो व्व थिमिए।
पुढवी व्व सव्वफाससहे।
तवसा च्चिय भासरासि-छण्णिव्व जायतेए।
जलियहुयासणे विव तेयसा जलंते।
गोसीसं चंदणं विव सीयले सुगंधे य।
हरयो विव समियभावे।
उग्घसियसुणिम्मलं व आयंसमंडलतलं पागडभावेण सुद्धभावे।
सोंडीरे कुंजरोव्व।
वसभेव्व जायथामे।
सीहेव्व जहा मियाहिवे होइ दुप्पधरिसे।
सारयसलिलं व सुद्धहियए।
भारंडे चेव अप्पमत्ते।
खग्गिविसाणं व एगजाए।
खाणुं चेव उड्ढकाए।

सुण्णागारेव्व अपडिकम्मे।
सुण्णागारावणस्संतो निवायसरणप्पदीवज्झाणमिव निप्पकंपे।
जहा खुरो चेव एगधारे।
जहा अही चेव एगदिट्ठी।
आगासं चेव निरालंबे।
विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के।
कयपरनिलए जहा चेव उरए।
अप्पडिबद्धे अनिलोव्व।
जीवो व्व अपडिहयगई।

१६३— मुनि आगे कही जाने वाली उपमाओ से मण्डित होता है -

(१) कासे का अत्यन्त निर्मल उत्तम पात्र जैसे जल के सम्पर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही साधु रागादि के बन्ध से मुक्त होता है।
(२) शख के समान निरजन अर्थात् रागादि के कालुष्य से रहित, अतएव राग, द्वेष और मोह से रहित होता है।
(३) कूर्म—कच्छप की तरह इन्द्रियो का गोपन करने वाला।
(४) उत्तम शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त।
(५) कमल के पत्ते के सदृश निर्लेप।
(६) सौम्य—शीतल स्वभाव के कारण चन्द्रमा के समान।
(७) सूर्य के समान तपस्तेज से देदीप्यमान।
(८) गिरिवर मेरु के समान अचल —परीषह आदि मे अडिग।
(९) सागर के समान क्षोभरहित एव स्थिर।
(१०) पृथ्वी के समान समस्त अनुकूल एव प्रतिकूल स्पर्शो को सहन करने वाला।
(११) तपश्चर्या के तेज से अन्तरग मे ऐसा दीप्त जैसे भस्मराशि से आच्छादित अग्नि हो।
(१२) प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्विता से देदीप्यमान।
(१३) गोशीर्ष चन्दन की तरह शीतल और अपने शील के सौरभ से युक्त।
(१४) ह्रद —(पवन के न होने पर) सरोवर के समान प्रशान्तभाव वाला।
(१५) अच्छी तरह घिस कर चमकाए हुए निर्मल दर्पणतल के समान स्वच्छ, प्रकट रूप से मायारहित होने के कारण अतीव निर्मल जीवन वाला—शुद्ध भाव वाला।
(१६) कर्म-शत्रुओ को पराजित करने मे गजराज की तरह शूरवीर।
(१७) वृषभ की तरह अगीकृत व्रत-भार का निर्वाह करने वाला।
(१८) मृगाधिपति सिंह के समान परीषहादि मे अजेय।
(१९) शरत्कालीन जल के सदृश स्वच्छ हृदय वाला।
(२०) भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त—सदा सजग।
(२१) गेंडे के सीग के समान अकेला —अन्य की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला।

(२२) स्थाणु (ठूँठ) की भाँति ऊर्ध्वकाय--कायोत्सर्ग मे स्थित।
(२३) शून्यगृह के समान अप्रतिकर्म, अर्थात् जैसे सुनसान पडे घर को कोई सजाता-सवारता नही, उसी प्रकार शरीर की साज-सज्जा से रहित।
(२४) वायुरहित घर मे स्थित प्रदीप की तरह विविध उपसर्ग होने पर भी शुभ ध्यान मे निश्चल रहने वाला।
(२५) छुरे की तरह एक धार वाला, अर्थात् एक उत्सर्गमार्ग मे ही प्रवृत्ति करने वाला।
(२६) सर्प के समान एकदृष्टि वाला, अर्थात् सर्प जैसे अपने लक्ष्य पर ही नजर रखता है, उसी प्रकार मोक्षसाधना की ओर ही एकमात्र दृष्टि रखने वाला।
(२७) आकाश के समान किसी का सहारा न लेनेवाला—स्वावलम्बी।
(२८) पक्षी के सदृश विप्रमुक्त -पूर्ण निष्परिग्रह।
(२९) सर्प के समान दूसरो के लिए निर्मित स्थान मे रहने वाला।
(३०) वायु के समान अप्रतिबद्ध—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से मुक्त।
(३१) देहविहीन जीव के समान बेरोकटोक (अप्रतिहत) गति वाला—स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र विचरण करने वाला।

विवेचन—इन उपमाओ के द्वारा भी साधुजीवन की विशिष्टता, उज्ज्वलता, सयम के प्रति निश्चलता, स्वावलम्बिता, अप्रमत्तता, स्थिरता, लक्ष्य के प्रति निरन्तर सजगता, आन्तरिक शुचिता, देह के प्रति अनासक्ति, सयमनिर्वाह सबधी क्षमता आदि का प्रतिपादन किया गया है। इन उपमाओ द्वारा फलित आशय स्पष्ट है। आगे भी मुनिजीवन की विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है।

पूर्व मे प्रतिपादित किया गया कि साधु अप्रतिबद्धविहारी होता है। विहार के विषय मे वह किसी बन्धन से बंधा नही होता। अतएव यहाँ उनके विहार के सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख करते हुए कतिपय अन्य गुणो पर प्रकाश डाला जा रहा है—

१६४—गामे गामे एगरायं णयरे णयरे य पंचरायं दूइज्जंते य जिइंदिए जियपरीसहे णिब्भओ विऊ सच्चित्ता-चित्त-मीसगेहिं दव्वेहिं विराय गए, संचयाओ विरए, मुत्ते, लहुए, णिरवकंखे, जीविय-मरणासविप्पमुक्के णिस्संधि णिव्वणं चरित्तं धीरे काएण फासयंते सययं अज्झप्पज्झाणजुत्ते, णिहुए, एगे चरेज्ज धम्मं।

इमं च परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउवसमणं।

१६४--(मुनि) प्रत्येक ग्राम मे एक रात्रि और प्रत्येक नगर मे पाँच रात्रि तक विचरता—रहता है, क्योकि वह जितेन्द्रिय होता है, परीषहो को जीतने वाला, निर्भय, विद्वान्--गीतार्थ, सचित्त-सजीव, अचित्त--निर्जीव और मिश्र—आभूषणयुक्त दास आदि मिश्रित द्रव्यो मे वैराग्ययुक्त होता है, वस्तुओ का सचय करने से विरत होता है, मुक्त--निर्लोभवृत्ति वाला, लघु अर्थात् तीनो प्रकार के गौरव से रहित और परिग्रह के भार से रहित होता है। जीवन और मरण की आशा—आकाक्षा से

सर्वथा मुक्त रहता है, चारित्र-परिणाम के विच्छेद से रहित होता है, अर्थात् उसका चारित्र-परिणाम निरन्तर विद्यमान रहता है, कभी भग्न नही होता। वह निरतिचार—निर्दोष चारित्र का धैर्यपूर्वक शारीरिक क्रिया द्वारा पालन करता है। ऐसा मुनि सदा अध्यात्मध्यान मे निरत, उपशान्त भाव तथा एकाकी—सहायकरहित अथवा रागादि से असपृक्त होकर धर्म का आचरण करे।

परिग्रहविरमणव्रत के परिरक्षण के हेतु भगवान् ने यह प्रवचन—उपदेश कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भवो मे उत्तम फल देने वाला है और भविष्य मे कल्याण करने वाला है। यह शुद्ध, न्याययुक्त, अकुटिल, सर्वोत्कृष्ट और समस्त दु खो तथा पापो को सर्वथा शान्त करने वाला है।

विवेचन—प्रकृत पाठ स्पष्ट और सुबोध है। केवल एक ही बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मुनि को ग्राम मे एक रात और नगर मे पाँच रात तक टिकने का जो कथन यहाँ किया गया है, उसके विषय मे टीकाकार ने लिखा है—

'एतच्च भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्नसाध्वपेक्षया सूत्रमवगन्तव्यम्।

—प्र व्या. आगमोदय. पृ. १५८

इसका आशय यह है कि यह सूत्र अर्थात् विधान उस साधु के लिए जानना चाहिए जिसने भिक्षुप्रतिमा अगीकार की हो। अर्थात् सब सामान्य साधुओ के लिए यह विधान नही है।

अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना : श्रोत्रेन्द्रिय-संयम

१६५—तस्स इमा पंच भावणाओ चरिमस्स वयस्स होंति परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

पढमं—सोइंदिएणं सोच्चा सद्दाइं मणुण्णभद्दगाइं।

किं ते?

वरमुरय-मुइंग-पणव-दद्दुर-कच्छभि-वीणा-विपंची-वल्लयि- वद्धीसग-सुघोस-णंदि-सूसरपरिवाइणी-वंस-तूणग-पव्वग-तंती-तल-ताल-तुडिय-णिग्घोसगीय-वाइयाइं। णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिग-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य, बहूणि महुरसरगीय-सुस्सराइं कंची-मेहला-कलाव-पतरग-पहेरग-पायजालग-घंटिय-खिंखिणि-रयणोरुजालिय-छुद्दिय-णेउर-चलण-मालिय-कणग-णियल-जालग-भूसण-सद्दाणि, लीलचंकम्ममाणाणुदीरियाइं तरुणीजणहसिय-भणिय-कलरिभिय-मंजुलाइं गुणवयणाणि व बहूणि महुरजण-भासियाइं अण्णेसु य एवमाइएसु सद्देसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, ण रज्जियव्वं ण गिज्झियव्वं, ण मुज्झियव्वं, ण विणिग्घायं आवज्जियव्वं, ण लुभियव्वं, ण तुसियव्वं, ण हसियव्वं, ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते?

अक्कोस-फरुस-खिंसण-अवमाणण- तज्जण-णिब्भंछण-दित्तवयण- तासण-उक्कूजिय- रुण्ण-रडिय-

कंपिय-णिग्घुट्ठरसिय-कलुण-विलवियाइं अण्णेसु य एवमाइएसु सद्देसु अमणुण्ण-पावएसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं, ण हीलियव्वं, ण णिंदियव्वं, ण खिसियव्वं, ण छिंदियव्व, ण भिंदियव्वं, ण वहेयव्वं, ण दुगुंछावत्तियाए लब्भा उप्पाएउं, एवं सोइंदिय-भावणा-भाविओ भवइ अंतरप्पा मणुण्णाऽमणुण्ण-सुब्भिदुब्भि-राग-दोसप्पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहिइंदिए चरेज्ज धम्मं ।

१६५– परिग्रहविरमणव्रत अथवा अपरिग्रहसवर की रक्षा के लिए अन्तिम व्रत अर्थात् अपरिग्रहमहाव्रत की पाँच भावनाएँ है । उनमे से प्रथम भावना (श्रोत्रेन्द्रियसयम) इस प्रकार है—

श्रोत्रेन्द्रिय से, मन के अनुकूल होने के कारण भद्र—सुहावने प्रतीत होने वाले शब्दो को सुन कर (साधु को राग नही करना चाहिए) ।

(प्रश्न—) वे शब्द कौन से, किस प्रकार के हैं ?

(उत्तर—) उत्तम मुरज—महामर्दल, मृदग, पणव—छोटा पटह, दर्दुर एक प्रकार का वह वाद्य जो चमडे से मढे मुख वाला और कलश जैसा होता है, कच्छभी—वाद्यविशेष, वीणा, विपची और वल्लकी (विशेष प्रकार की वीणाएँ), वद्दीसक—वाद्यविशेष, सुघोषा नामक एक प्रकार का घटा, नन्दी—बारह प्रकार के बाजो का निर्घोष, सूसरपरिवादिनी—एक प्रकार की वीणा, वश—वासुरी, तूणक एव पर्वक नामक वाद्य, तन्त्री—एक विशेष प्रकार की वीणा, तल—हस्ततल, ताल—कास्य-ताल, इन सब बाजो के नाद को (सुन कर) तथा नट, नर्तक, जल्ल—वास या रस्सी के ऊपर खेल दिखलाने वाले, मल्ल, मुष्टिमल्ल, विडम्बक—विदूषक, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने वाले, रास गाने वाले आदि द्वारा किये जाने वाले नाना प्रकार की मधुर ध्वनि से युक्त सुस्वर गीतो को (सुन कर) तथा करधनी—कदोरा, मेखला (विशिष्ट प्रकार की करधनी), कलापक—गले का एक आभूषण, प्रतरक और प्रहेरक नामक आभूषण, पादजालक—नूपुर आदि आभरणो के एव घण्टिका—घूघरू, खिखिनी—छोटी घटियो वाला आभरण, रत्नोरुजालक—रत्नो का जघा का आभूषण, क्षुद्रिका नामक आभूषण, नेउर—नूपुर, चरणमालिका तथा कनकनिगड नामक पैरो के आभूषण और जालक नामक आभूषण, इन सब की ध्वनि—आवाज को (सुन कर) तथा लीलापूर्वक चलती हुई स्त्रियो की चाल से उत्पन्न (ध्वनि को) एव तरुणी रमणियों के हास्य की, बोलो की तथा स्वर-घोलनायुक्त मधुर तथा सुन्दर आवाज को (सुन कर) और स्नेही जनो द्वारा भाषित प्रशसा-वचनो को एव इसी प्रकार के मनोज्ञ एव सुहावने वचनो को (सुन कर) उनमे साधु को आसक्त नही होना चाहिए, राग नही करना चाहिए, गृद्धि—अप्राप्ति की अवस्था मे उनकी प्राप्ति की आकाक्षा नही करनी चाहिए, मुग्ध नही होना चाहिए, उनके लिए स्व-पर का परिहनन नही करना चाहिए, लुब्ध नही होना चाहिए, तुष्ट—प्राप्ति होने पर प्रसन्न नही होना चाहिए, हँसना नही चाहिए, ऐसे शब्दो का स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय के लिए अमनोज्ञ—मन मे अप्रीतिजनक एव पापक—अभद्र शब्दों को सुनकर रोष (द्वेष) नही करना चाहिए ।

(प्र) वे शब्द—कौन से—किस प्रकार के है ?

(उ) आक्रोश—तू मर जा इत्यादि वचन, परुष—अरे मूर्ख, इत्यादि वचन, खिसना—

निन्दा, अपमान, तर्जना—भयजनक वचन, निर्भर्त्सना—सामने से हट जा, इत्यादि वचन, दीप्त—क्रोधयुक्त वचन, त्रासजनक वचन, उत्कूजित—अस्पष्ट उच्च ध्वनि, रुदनध्वनि, रटित—धाड मार कर रोने, क्रन्दन—वियोगजनित विलाप आदि की ध्वनि, निर्घुष्ट—निर्घोषरूप ध्वनि, रसित—जानवर के समान चीत्कार, करुणाजनक शब्द तथा विलाप के शब्द—इन सब शब्दों मे तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एव पापक—अभद्र शब्दो मे साधु को रोष नही करना चाहिए, उनकी हीलना नही करनी चाहिए, निन्दा नही करनी चाहिए, जनसमूह के समक्ष उन्हे बुरा नही कहना चाहिए, अमनोज्ञ शब्द उत्पन्न करने वाली वस्तु का छेदन नही करना चाहिए, भेदन—टुकडे नही करने चाहिए, उसे नष्ट नही करना चाहिए। अपने अथवा दूसरे के हृदय मे जुगुप्सा उत्पन्न नही करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय (सयम) की भावना से भावित अन्तःकरण वाला साधु मनोज्ञ एवं अमनोज्ञरूप शुभ-अशुभ शब्दो मे राग-द्वेष के सवर वाला, मन-वचन और काय का गोपन करने वाला, सवरयुक्त एव गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो का गोपन-कर्त्ता होकर धर्म का आचरण करे।

द्वितीय भावना : चक्षुरिन्द्रिय-संवर

१६६—बिइयं—चक्खुइंदिएण पासिय रूवाणि मणुण्णाइं भद्दगाइं, सचित्ताचित्तमीसगाइं कट्ठे पोत्थे य चित्तकम्मे लेप्पकम्मे सेले य दंतकम्मे य पंचहिं वण्णेहिं अणेगसंठाणसंठियाइं गंठिम-वेढिम-पूरिम-संघाइमाणि य मल्लाइं बहुविहाणि य अहियं णयणमणसुहयराइं, वणसंडे पव्वए य गामागर-णयराणि य खुद्दिय-पुक्खरिणि-वावी-दीहिय-गुंजालिय-सरसरपंतिय-सायर-बिल-पंतिय-खाइय-णई-सर-तलाग-वप्पिणी-फुल्लुप्पल-पउमपरिमंडियाभिरामे अणेगसउणगण-मिहुण-वियरिए वरमंडव-विविह-भवण-तोरण-चेइय-देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-सुकयसयणासण-सीय-रह-सयड-जाण-जुग्ग-संदण-णरणारि-गणे य सोमपडिरूव-दरिसणिज्जे अलंकिय-विभूसिए पुव्वकयतवप्पभाव-सोहग्गसंपउत्ते णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकर-णाणि य बहूणि सुकरणाणि अण्णेसु य एवमाइएसु रूवेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, ण रज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि चक्खिदिएण पासिय रूवाइं अमणुण्णपावगाइं

किं ते?

गंडि-कोढिक-कुणि-उयरि-कच्छुल्ल-पइल्ल-कुज्ज-पंगुल-वामण-अंधिल्लग-एगचक्खु-विणिहय-सप्पिसल्लग-वाहिरोगपीलियं, विगयाणि मयगकलेवराणि सकिमिणकुहियं च दव्वरासिं, अण्णेसु य एवमाइएसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेणं रूसियव्वं जाव ण दुगुंछावत्तिया वि लब्भा उप्पाएउं, एवं चक्खिदियभावणाभाविओ भवइ अंतरप्पा जाव चरेज्ज धम्मं।

द्वितीय भावना चक्षुरिन्द्रिय का सवर है। वह इस प्रकार है—

चक्षुरिन्द्रिय से मनोज्ञ—मन को अनुकूल प्रतीत होने वाले एव भद्र—सुन्दर सचित्त द्रव्य, अचित्त द्रव्य और मिश्र—सचित्ताचित्त द्रव्य के रूपो को देख कर (राग नही करना चाहिए)। वे रूप चाहे काष्ठ

पर हो, वस्त्र पर हो, चित्र-लिखित हो, मिट्टी आदि के लेप से बनाए गए हो, पाषण पर अंकित हो, हाथीदात आदि पर हो, पाँच वर्ण के और नाना प्रकार के आकार वाले हो, गूथ कर माला आदि की तरह बनाए गए हो, वेष्टन से, चपडी आदि भर कर अथवा सघात से- फूल आदि की तरह एक-दूसरे को मिलाकर बनाए गए हो, अनेक प्रकार की मालाओ के रूप हो और वे नयनो तथा मन को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले हो (तथापि उन्हे देख कर राग नही उत्पन्न होने देना चाहिए)।

इसी प्रकार वनखण्ड, पर्वत, ग्राम, आकर, नगर तथा विकसित नील कमलो एव (श्वेतादि) कमलो से सुशोभित और मनोहर तथा जिनमे अनेक हस, सारस आदि पक्षियो के युगल विचरण कर रहे हो, ऐसे छोटे जलाशय, गोलाकार बावडी, चौकोर बावडी, दीर्घिका— लम्बी बावडी, नहर, सरोवरो की कतार, सागर, बिलपक्ति, लोहे आदि की खानो मे खोदे हुए गडहो की पक्ति, खाई, नदी, सर—बिना खोदे प्राकृतिक रूप से बने जलाशय, तडाग—तालाब, पानी की क्यारी (आदि को देख कर) अथवा उत्तम मण्डप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य—स्मारक, देवालय, सभा - लोगो के बैठने के स्थानविशेष, प्याऊ, आवसथ—परिव्राजको के आश्रम, सुनिर्मित शयन - पलग आदि, सिहासन आदि आसन, शिविका—पालकी, रथ, गाडी, यान, युग्य —यानविशेष, स्यन्दन— घुघरूदार रथ या साग्रामिक रथ और नर-नारियो का समूह, ये सब वस्तुएँ यदि सौम्य हो, आकर्षक रूप वाली दर्शनीय हो, आभूषणो मे अलकृत और सुन्दर वस्त्रो से विभूषित हो, पूर्व मे की हुई तपस्या के प्रभाव से सौभाग्य को प्राप्त हो तो (इन्हे देखकर) तथा नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, कथावाचक, प्लवक, रास करने वाले व वार्ता कहने वाले, चित्रपट लेकर भिक्षा मागने वाले, वास पर खेल करने वाले, तूणइल्ल—तूणा बजाने वाले, तूम्बे की वीणा बजाने वाले एव तालाचरो के विविध प्रयोग देख कर तथा बहुत से करतबो को देखकर (आसक्त नही होना चाहिए)। इस प्रकार के अन्य मनोज्ञ तथा सुहावने रूपो मे साधु को आसक्त नही होना चाहिए, अनुरक्त नही होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए।

इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय से अमनोज्ञ और पापकारी रूपो को देखकर (रोष नही करना चाहिए)।

(प्र) वे (अमनोज्ञ रूप) कौन-से हैं ?

(उ) वात, पित्त, कफ और सन्निपात से होने वाले गडरोग वाले को, अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग वाले को, कुणि कुट- -टोटे को, जलोदर के रोगी को, खुजली वाले को, श्लीपद रोग के रोगी को, लगडे को, वामन- -बौने को, जन्मान्ध को, एकचक्षु (काणे) को, विनिहत चक्षु को- जन्म के पश्चात् जिसकी एक या दोनो आँखे नष्ट हो गई हो, पिशाचग्रस्त को अथवा पीठ मे सरक कर चलने वाले को, विशिष्ट चित्तपीडा रूप व्याधि या रोग मे पीडित को (इनमे से किसी को देखकर) तथा विकृत मृतक-कलेवरो को या बिलबिलाते कीडो मे युक्त सडी-गली द्रव्यराशि को देखकर अथवा इनके सिवाय इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ और पापकारी रूपो को देखकर श्रमण को उन रूपो के प्रति रुष्ट नही होना चाहिए, यावत् अवहीलना आदि नही करनी चाहिए और मन मे जुगुप्सा—घृणा भी नही उत्पन्न होने देना चाहिए।

इस प्रकार चक्षुरिन्द्रियसवर रूप भावना से भावित अन्त:करण वाला होकर मुनि यावत् धर्म का आचरण करे।

तीसरी भावना : घ्राणेन्द्रिय-संयम

१६७—तइयं—घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाइं मणुण्णभद्दगाइं—

किं ते ?

जलय-थलय-सरस-पुप्फ-फल-पाणभोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त-चोय-दमणग-मरुय-एलारस-पिक्क-मंसि-गोसीस-सरस-चंदण-कप्पूर-लवंग-अगर-कुंकुम-कक्कोल-उसीर- सेयचंदण-सुगंधसारंग-जुत्तिवर-धूववासे उउय-पिंडिम-णिहारिमगंधिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा ।

पुणरवि घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते ?

अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग-सुणग- सियाल-मणुय- मज्जार-सीह-दीविय-मयकुहिय-विणट्ठकिविण-बहुदुरभिगंधेसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं जाव पणिहिएंदिए चरेज्ज धम्मं ।

१६७—घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावना गध सू घकर (रागादि नही करना चाहिए) ।

(प्र०) वे सुगन्ध क्या —कैसे हैं ?

(उ०) जल और स्थल मे उत्पन्न होने वाले सरस पुष्प, फल, पान, भोजन, उत्पलकुष्ठ, तगर, तमालपत्र, चोय —सुगन्धित त्वचा, दमनक (एक विशेष प्रकार का फूल)—मरुआ, एलारस—इलायची का रस, पका हुआ मासी नामक सुगन्ध वाला द्रव्य—जटामासी, सरस गोशीर्ष चन्दन, कपूर, लवग, अगर, कु कुम, कक्कोल —गोलाकार सुगन्धित फलविशेष, उशीर—खस, श्वेत, चन्दन, श्रीखण्ड आदि द्रव्यो के सयोग से बनी श्रेष्ठ धूप की सुगन्ध को सू घकर (रागभाव नही धारण करना चाहिए) तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे उत्पन्न होने वाले कालोचित सुगन्ध वाले एव दूर-दूर तक फैलने वाली सुगन्ध से युक्त द्रव्यो मे और इसी प्रकार की मनोहर, नासिका को प्रिय लगने वाली सुगन्ध के विषय मे मुनि को आसक्त नही होना चाहिए, यावत् अनुरागादि नही करना चाहिए । उनका स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने गधो को सू घकर (रोष आदि नही करना चाहिए) ।

वे दुर्गन्ध कौन-से है ?

मरा हुआ सर्प, मृत घोडा, मृत हाथी, मृत गाय तथा भेड़िया, कुत्ता, मनुष्य, बिल्ली, शृगाल, सिंह और चीता आदि के मृतक सडे-गले कलेबरो की, जिसमें कीडे बिलबिला रहे हो, दूर-दूर तक बदबू फैलाने वाली गन्ध में तथा इसी प्रकार के और भी अमनोज्ञ और असुहावनी दुर्गन्धो के विषय में साधु को रोष नही करना चाहिए यावत् इन्द्रियो को वशीभूत करके धर्म का आचरण करना चाहिए ।

चतुर्थ भावना : रसनेन्द्रिय-संयम

१६८—चउत्थं—जिब्भिदिएण साइय रसाणि मणुण्णभद्दगाइं ।

किं ते ?

उग्गाहिमविविहपाण-भोयण-गुलकय-खंडकय-तेल्ल-घयकय- भक्खेसु-बहुविहेसु लवणरससजुत्तेसु महुमंस-बहुप्पगारमज्जिय- णिट्ठाणगदालियंब- सेहंब-दुद्ध-दहि-सरय- मज्ज-वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारस-बहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुण्ण-वण्ण-गंध-रस- फास-बहुदव्वसंभिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा ।

पुणरवि जिब्भिदिएण साइय रसाइं अमुण्णपावगाइं—

किं ते ?

अरस-विरस-सीय-लुक्ख-णिज्जप्प-पाण-भोयणाइं दोसीण-वावण्ण-कुहिय-पूइय-अमणुण्ण-विणट्ठ-प्पसूय-बहुदुब्भिगंधियाइं तित्त-कडुय-कसाय-अंबिल-रस-लिंडणीरसाइं, अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं जाव चरेज्ज धम्मं ।

१६८—रसना-इन्द्रिय मे मनोज्ञ एव सुहावने रसो का आस्वादन करके (उनमे आसक्त नही होना चाहिए) ।

(प्र०) वे रस क्या-कैसे हैं ?

(उ०) घी-तैल आदि मे डुबा कर पकाए हुए खाजा आदि पकवान, विविध प्रकार के पानक—द्राक्षापान आदि, गुड या शक्कर के बनाए हुए, तेल अथवा घी से बने हुए मालपूवा आदि वस्तुओ मे, जो अनेक प्रकार के नमकीन आदि रसो से युक्त हो, मधु, मास, बहुत प्रकार की मज्जिका, बहुत व्यय करके बनाया गया, दालिकाम्ल- खट्टी दाल, सैन्धाम्ल- रायता आदि, दूध, दही, सरक, मद्य, उत्तम प्रकार की वारुणी, सीधु तथा पिशायन नामक मदिराएँ, अठारह प्रकार के शाक वाले ऐसे अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त अनेक द्रव्यो से निर्मित भोजन में तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एव सुहावने—लुभावने रसो मे साधु को आसक्त नही होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण तथा विचार भी नही करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त जिह्वा-इन्द्रिय मे अमनोज्ञ और असुहावने रसो का, आस्वाद करके (रोष आदि नही करना चाहिए) ।

(प्र०) वे अमनोज्ञ रस कौन-से हैं ?

(उ०) अरस— हीग आदि के सस्कार से रहित होने के कारण रसहीन, विरस—पुराना होने से विगतरस, ठण्डे, रूखे—विना चिकनाई के, निर्वाह के अयोग्य भोजन-पानी को तथा रात-वासी, व्यापन्न—रग बदले हुए, सडे हुए, अपवित्र होने के कारण अमनोज्ञ अथवा अत्यन्त विकृत हो चुकने के कारण जिनसे दुर्गन्ध निकल रही हो ऐसे तिक्त, कटु, कसैले, खट्टे, शेवाल-रहित पुराने पानी के समान एव नीरस पदार्थों मे तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ तथा अशुभ रसो में साधु को रोष धारण नही करना चाहिए यावत् सयतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करना चाहिए ।

पंचम भावना : स्पर्शनेन्द्रिय-संयम

१६९—पंचमगं-- फासिदिएण फासिय फासाइं मणुण्णभद्दगाइं—

किं ते ?

दग-मंडव- हार- सेयचंदण- सीयल-विमल- जल- विविहकुसुम - सत्थर-ओसीर-मुत्तिय - मुणाल-दोसिणा-पेहुणउक्खेवग-तालियंट-वीयणग-जणियसुहसीयले य पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य बहूणि सयणाणि आसणाणि य पाउरणगुणे य सिसिरकाल अंगारपयावणा य आयवणिद्धमउयसीय-उसिण-लहुआ य जे उउसुहफासा अंगसुह-णिव्वुइगरा ते अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु मणुण्णभद्दगेसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, ण रज्जियव्वं, ण गिज्झियव्वं, ण मुज्झियव्वं, ण विणिग्घायं आवज्जियव्वं, ण लुब्भियव्वं, ण अज्झोववज्जियव्वं, ण तूसियव्वं, ण हसियव्व, ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा ।

पुणरवि फासिदिएण फासिय फासाइ अमणुण्णपावगाइं- —

किं ते ?

अणेगवह-बंध-तालणंकण-अइभारारोवणए, अंगभजण-सूईणखप्पवेस-गायपच्छणण-लक्खारस-खार-तेल्ल-कलकलंत-तउय-सीसग-काल-लोहसिंचण- हडिबंधण- रज्जुणिगल- संकल-हत्थडुय-कुंभिपाग-दहण-सीहपुच्छण-उब्बंधण-सूलभेय-गयचलणमलण-करचरण-कण्ण-णासोट्ठ-सीसच्छेयण जिब्भच्छेयण-वसण-णयण-हियय-दंतभंजण-जोत्तलय-कसप्पहार-पाय-पण्हि-जाणु- पत्थर- णिवाय- पीलण- कविकच्छु-अगणि-विच्छुयडक्क-वायातव-दंसमसग-णिवाए-दुट्ठणिसज्जदुण्णिसीहिय-दुब्भि-कक्खड- गुरु-सीय-उसिण लुक्खेसु बहुविहेसु अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुण्णपावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं, ण हीलियव्व, ण णिंदियव्वं, ण गरहियव्वं, ण खिंसियव्व, ण छिंदियव्व, ण भिंदियव्वं, ण वहेयव्वं, ण दुगंछावत्तियव्व च लुब्भा उप्पाएउं ।

एवं फासिंदियभावणाभाविओ भवइ अंतरप्पा, मणुण्णामणुण्ण-सुब्भि-दुब्भिरागदोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडेणं पणिहिइंदिए चरिज्ज धम्मं ।

१६९- —स्पर्शनेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शों को छूकर (रागभाव नही धारण करना चाहिए) ।

(प्र.) वे मनोज्ञ स्पर्श कौन-से है ?

(उ) जलमण्डप—झरने वाले मण्डप, हार, श्वेत चन्दन, शीतल निर्मल जल, विविध पुष्पो की शय्या—फूलो की सेज, खसखस, मोती, पद्मनाल, चन्द्रमा की चाँदनी तथा मोर-पिच्छी, तालवृन्त—ताड का पखा, वीजना से की गई सुखद शीतल पवन मे, ग्रीष्मकाल मे सुखद स्पर्श वाले अनेक प्रकार के शयनो और आसनो मे, शिशिरकाल —शीतकाल मे आवरण गुण वाले अर्थात् ठण्ड से बचाने वाले वस्त्रादि मे, अगारो से शरीर को तपाने, धूप स्निग्ध—तेलादि पदार्थ, कोमल और शीतल, गर्म और हल्के--जो ऋतु के अनुकूल सुखप्रद स्पर्श वाले हो, शरीर को सुख और मन को आनन्द देने वाले हो, ऐसे सब स्पर्शो मे तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शो मे श्रमण को आसक्त नही होना चाहिए, अनुरक्त नही होना चाहिए, गृद्ध नही होना चाहिए—उन्हें प्राप्त करने

की अभिलाषा नही करनी चाहिए, मुग्ध नही होना चाहिए, और स्व-परहित का विघात नही करना चाहिए, लुब्ध नही होना चाहिए , तल्लीनचित्त नही होना चाहिए, उनमे सन्तोषानुभूति नही करनी चाहिए, हँसना नही चाहिए, यहाँ तक कि उनका स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त स्पर्शनेन्द्रिय से अमनोज्ञ एव पापक—असुहावने स्पर्शों को छूकर (रुष्ट-द्विष्ट नही होना चाहिए ।)

(प्र.) वे स्पर्श कौन-से हैं ?

(उ) वध, बन्धन, ताडन—थप्पड आदि का प्रहार, अकन—तपाई हुई सलाई आदि से शरीर को दागना, अधिक भार का लादा जाना, अग-भग होना या किया जाना, शरीर मे सुई या नख का चुभाया जाना, अग की हीनता होना, लाख के रस, नमकीन (क्षार) तैल, उबलते शीशे या कृष्णवर्ण लोहे से शरीर का सीचा जाना, काष्ठ के खोडे मे डाला जाना, डोरी के निगड बन्धन से बाँध जाना, हथकडियाँ पहनाई जाना, कु भी मे पकाना, अग्नि से जलाया जाना, शेफत्रोटन लिंगच्छेद, बाँध कर ऊपर से लटकाना, शूली पर चढाया जाना, हाथी के पैर से कुचला जाना, हाथ-पैर-कान-नाक-होठ और शिर में छेद किया जाना, जीभ का बाहर खीचा जाना, अण्डकोश-नेत्र-हृदय-दात या आत का मोड़ा जाना, गाड़ी मे जोता जाना, बेत या चाबुक द्वारा प्रहार किया जाना, एडी, घुटना या पाषाण का अग पर आघात होना, यत्र मे पीला जाना, कपिकच्छू--अत्यन्त खुजली होना अथवा खुजली उत्पन्न करने वाले फल--करेच का स्पर्श होना, अग्नि का स्पर्श, बिच्छू के डक का, वायु का, धूप का या डास-मच्छरो का स्पर्श होना, दुष्ट—दोषयुक्त—कष्टजनक आसन, स्वाध्यायभूमि मे तथा दुर्गन्धमय, कर्कश, भारी, शीत, उष्ण एव रूक्ष आदि अनेक प्रकार के स्पर्शों मे और इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ स्पर्शों मे साधु को रुष्ट नही होना चाहिए, उनकी हीलना नही करनी चाहिए, निन्दा और गर्हा नही करनी चाहिए, खिसना नही करनी चाहिए, अशुभ स्पर्श वाले द्रव्य का छेदन-भेदन नही करना चाहिए, स्व-पर का हनन नही करना चाहिए । स्व-पर मे घृणावृत्ति भी उत्पन्न नही करनी चाहिए ।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियसवर की भावना से भावित अन्त करण वाला, मनोज्ञ और अमनोज्ञ अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्शों की प्राप्ति होने पर राग-द्वेषवृत्ति का सवरण करने वाला साधु मन, वचन और काय से गुप्त होता है । इस भाँति साधु सवृतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करे ।

पंचम संवरद्वार का उपसंहार

१७०—एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होई सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिं पि कारणेहिं मणवयकायपरिरक्खिएहिं । णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया, अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ ।

एवं पंचमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवइ[1] । एवं णायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं । त्ति बेमि ।

।। पंचमं संवरदारं समत्तं ।।

१ वाचनान्तर मे उपलब्ध पाठ इस प्रकार है—**"एयाणि पंचाणि सुव्वय-महव्वयाणि लोगधिइकरणाणि, सुयसागर-देसियाणि संजमसीलव्वयसच्चज्जवमयाणि णरयतिरियदेवमणुयगइविवज्जगाणि सव्वजिणसासणाणि कम्मरय-वियारयाणि भवसयविमोयगाणि दुक्खसयविणासगाणि सुक्खसयपवत्तयाणि कापुरिससुदुत्तराणि सप्पुरिसजण-तीरियाणि णिव्वाणगमणजाणाणि कहियाणि सग्गपवायगाणि पंचावि महव्वयाणि कहियाणि ।"**

१७०—इस (पूर्वोक्त) प्रकार मे यह पांचवा सवरद्वार—अपरिग्रह—सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काय से परिरक्षित पांच भावना रूप कारणो से सवृत किया जाय तो सुरक्षित होता है। धैर्यवान् और विवेकवान् साधु को यह योग जीवनपर्यन्त निरन्तर पालनीय है। यह आस्रव को रोकने वाला, निर्मल, मिथ्यात्व आदि छिद्रों से रहित होने के कारण अपरिस्रावी, सक्लेशहीन, शुद्ध और समस्त तीर्थंकरो द्वारा अनुज्ञात है। इस प्रकार यह पाँचवा सवरद्वार शरीर द्वारा स्पृष्ट, पालित, अतिचार-रहित शुद्ध किया हुआ, परिपूर्णता पर पहुँचाया हुआ, वचन द्वारा कीर्त्तित किया हुआ, अनुपालित तथा तीर्थंकरो को आज्ञा के अनुसार आराधित होता है।

ज्ञातमुनि भगवान् ने ऐसा प्रतिपादन किया है। युक्तिपूर्वक समझाया है। यह प्रसिद्ध, सिद्ध और भवस्थ सिद्धो—अरिहन्तों का उत्तम शासन कहा गया है, समीचीन रूप से उपदिष्ट है।

यह प्रशस्त सवरद्वार पूर्ण हुआ। ऐसा मै (सुधर्मा) कहता हूँ।

विवेचन—उल्लिखित सूत्रो मे अपरिग्रह महाव्रत रूप सवर की पाँच भावनाओ का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। वे भावनाएँ इस प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रियसवर (२) चक्षुरिन्द्रियसवर (३) घ्राणेन्द्रियसवर (४) रसनेन्द्रियसवर और (५) स्पर्शनेन्द्रियसवर।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये इन्द्रियो के विषय हैं। प्रत्येक विषय अनुभूति की दृष्टि से दो प्रकार का है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है तब वह विषय सामान्यरूप ही होता है। किन्तु उस ग्रहण के साथ ही आत्मा मे विद्यमान सज्ञा उसमे प्रियता या अप्रियता का रग घोल देती है। जो विषय प्रिय प्रतीत होता है वह मनोज्ञ कहलाता है और जो अप्रिय अनुभूत होता है वह अमनोज्ञ प्रतीत होता है।

वस्तुत मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता विषय मे स्थित नही है, वह प्राणी की कल्पना द्वारा आरोपित है। उदाहरणार्थ शब्द को ही लीजिए। कोई भी शब्द अपने स्वभाव से प्रिय अथवा अप्रिय नही है। हमारी मनोवृत्ति अथवा सज्ञा ही उसमे यह विभेद उत्पन्न करती है और किसी शब्द को प्रिय—मनोज्ञ और किसी को अप्रिय—अमनोज्ञ मान लेती है। मनोवृत्ति ने जिस शब्द को प्रिय स्वीकार कर लिया उसे श्रवण करने मे रागवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और जिसे अप्रिय मान लिया उसके प्रति द्वेषभावना जाग उठती है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य को कोई भी एक शब्द सर्वदा एक-सा प्रतीत नही होता। एक परिस्थिति मे जो शब्द अप्रिय—अमनोज्ञ प्रतीत होता है और जिसे सुन कर क्रोध भडक उठता है, आदमी मरने-मारने को उद्यत हो जाता है, वही शब्द दूसरी परिस्थिति मे ऐसा कोई प्रभाव उत्पन्न नही करता, प्रत्युत हर्ष और प्रमोद का जनक भी बन जाता है। गाली सुन कर मनुष्य आगबबूला हो जाता है। परन्तु ससुराल की गालियाँ मीठी लगती हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियो के मन पर और विभिन्न परिस्थितियो मे एक ही व्यक्ति के मन मे अलग-अलग प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। इस विभिन्न प्रभावजनकता से स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावजनन की मूल शक्ति शब्दनिष्ठ नही, किन्तु मनोवृत्तिनिष्ठ है।

इस वस्तुतत्त्व को भलीभाँति नही समझने वाले और शब्द को ही इष्ट-अनिष्ट मान लेने वाले शब्द श्रवण करके राग अथवा द्वेष के वशीभूत हो जाते हैं। राग-द्वेष के कारण नवीन कर्मों

का बन्ध करते है और आत्मा को मलीन बनाते है। इससे अन्य अनेक अनर्थ भी उत्पन्न होते हैं। शब्दो के कारण हुए भीषण अनर्थों के उदाहरण पुराणो और इतिहास मे भरे पडे हैं। द्रौपदी के एक वाक्य ने महाभारत जैसे विनाशक महायुद्ध की भूमिका निर्मित कर दी।

तत्त्वज्ञानी जन पारमार्थिक वस्तुस्वरूप के ज्ञाता होते है। वे अपनी मनोवृत्ति पर नियन्त्रण रखते हैं। वे शब्द को शब्द ही मानते है। उसमे प्रियता या अप्रियता का आरोप नही करते, न किसी शब्द को गाली मान कर रुष्ट होते है, न स्तुति मान कर तुष्ट होते है। यही श्रोत्रेन्द्रियसवर है। आचारांग मे कहा है—

न सक्का ण सोउ सद्दा, सोत्तविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

अर्थात् कर्ण-कुहर मे प्रविष्ट शब्दो को न सुनना तो शक्य नही है—वे सुनने मे आये विना रह नही सकते, किन्तु उनको सुनने से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से भिक्षु को बचना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय को बन्द करके रखना सभव नही है। दूसरो के द्वारा बोले हुए शब्द श्रोत्रगोचर होंगे ही। किन्तु साधक सन्त उनमे मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता का आरोप न होने दे—अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार अपने अधीन कर रक्खे कि वह उन शब्दो पर प्रियता या अप्रियता का रग न चढने दे। ऐसा करने वाला सन्त पुरुष श्रोत्रेन्द्रियसवरशील कहलाता है।

जो तथ्य श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्दो के विषय मे है, वही चक्षुरिन्द्रिय आदि के विषय रूपादि मे समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार पाँचो इन्द्रियो के सवर से सम्पन्न और मन, वचन, काय से गुप्त होकर ही साधु को धर्म का आचरण करना चाहिए। मूल पाठ मे आये कतिपय शब्दो का स्पष्टीकरण इस भाँति है—

नन्दी —बारह प्रकार के वाद्यो की ध्वनि नन्दी कहलाती है। वे वाद्य इस भाँति है—

भभा मउद मद्दल हुडुक्क तिलिमा य करड कसाला।
काहल वीणा वसो सखो पणवओ य बारसमो॥

अर्थात् (१) भभा (२) मउद (३) मद्दल (४) हुडुक्क (५) तिलिमा (६) करड (७) कसाल (८) काहल (९) वीणा (१०) वस (११) सख और (१२) पणव।

कुष्ठ —कोढ नामक रोग प्रसिद्ध है। उनके यहाँ अठारह प्रकार बतलाए गए है। इनमे सात महाकोढ और ग्यारह साधारण—क्षुद्र कोढ माने गए है। टीकाकार लिखते हैं कि सात महाकुष्ठ समग्र धातुओ मे प्रविष्ट हो जाते हैं, अतएव असाध्य होते है। महाकुष्ठो के नाम हैं—(१) अरुण (२) उदुम्बर (३) रिश्यजिह्व (४) करकपाल (५) काकन (६) पौण्डरीक (७) दद्रू। ग्यारह क्षुद्रकुष्ठो के नाम है—(१) स्थूलमारुक्क (२) महाकुष्ठ (३) एककुष्ठ (४) चर्मदल (५) विसर्प (६) परिसर्प (७) विचर्चिका (८) सिध्म (९) किटिभ (१०) पामा और शतारुका।[1] विशिष्ट जिज्ञासुओ को आयुर्वेदग्रन्थो मे इनका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

---

१ —अभय टीका, पृ १६१

कुब्ज आदि होने के कारण टीकाकार ने उद्धृत किए है—

गर्भे वातप्रकोपेण, दोहृदे वाऽपमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मन्मन एव वा॥

अर्थात् गर्भ में वात का प्रकोप होने के कारण अथवा गर्भ का अपमान होने से - गर्भवती की इच्छा की पूर्ति न होने के कारण सन्तान कुवडी, टोंटी, लगडी, गूंगी अथवा मन्मन—व्यक्त उच्चारण न करने वाली होती है।

मूल पाठ का आशय स्पष्ट है। पाँचो भावनाओ का सार-सक्षप यही है—

जे सद्द-रूव-रस-गधमागए, फासे य सपप्प मणुण्ण-पावए।
गेही पओस न करेज्ज पडिए, स होनि दते विरए अकिंचणे॥

अर्थात्—मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्राप्त होने पर जो पण्डित पुरुष राग और द्वेष नही करता, वही इन्द्रियो का दमनकर्त्ता, विरत और अपरिग्रही कहलाता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान मे रखनी चाहिए कि राग और द्वेष आभ्यन्तर परिग्रह है—एकान्तरूप से मुख्य परिग्रह है। अतएव इन्ही को लक्ष्य मे रखकर अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ प्रतिपादित की गई हैं।

॥ पचम संवरद्वार समाप्त ॥

सम्पूर्ण संवरद्वार का उपसंहार

१७१—एयाइं वयाइं पंच वि सुव्वय-महव्वयाइं हेउसय-विवत्त-पुक्कलाइं कहियाइं अरिहंत-सासणे पंच समासेण संवरा, वित्थरेण उ पणवीसंति। समियसहिय-संवुडे सया जयण-घडण-सुविसुद्ध-दंसणे एए अणुचरिय संजए चरमसरीरधरे भविस्सइ।

पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो, दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जंति एगंतरेसु आयंबिलेसु णिरुद्धेसु आउत्त-भत्तपाणएणं। अंगं जहा आयारस्स।

॥ इइ पण्हवागरणं सुत्तं समत्तं ॥

१७१—हे सुव्रत! ये पाँच सवररूप महाव्रत सैकडो हेतुओ से पुष्कल-विस्तीर्ण हैं। अरिहत-शासन मे ये सवरद्वार सक्षेप में (पाँच) कहे गए हैं। विस्तार मे (प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से) इनके पच्चीस प्रकार होते है। जो साधु ईर्यासमिति आदि (पूर्वोक्त पच्चीस भावनाओ) सहित होता है अथवा ज्ञान और दर्शन से सहित होता है तथा कषायसवर और इन्द्रियसवर से सवृत होता है, जो प्राप्त सयमयोग का यत्नपूर्वक पालन करता है और अप्राप्त सयमयोग की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहता है, सर्वथा विशुद्ध श्रद्धानवान् होता है, वह इन सवरो की आराधना करके अशरीर—मुक्त होगा।

प्रश्नव्याकरण मे एक श्रुतस्कन्ध है, एक सदृश दस अध्ययन है। उपयोगपूर्वक आहार-पानी ग्रहण करने वाले साधु के द्वारा, जैसे आचाराग का वाचन किया जाता है, उसी प्रकार एकान्तर आयबिल युक्त तपस्यापूर्वक दस दिनो मे इन (दस अध्ययनो) का वाचन किया जाता है।

॥ प्रश्नव्याकरण सूत्र समाप्त ॥

परिशिष्ट—१

उत्थानिका-पाठान्तर

कतिपय प्रतियो में निम्नलिखित पाठ 'जंबू !' इस सम्बोधन से पूर्व पाया जाता है। यह पाठ प्रायः वही है जो अन्य आगमो में पूर्वभूमिका के रूप में आता है, किन्तु प्रस्तुत पाठान्तर में प्रश्न-व्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध प्रतिपादित किए गए है, जब कि मूल पाठ में, अन्त मे एक ही श्रुतस्कन्ध बतलाया गया है। यह विरोधी कथन क्या इस तथ्य का सूचक है कि प्राचीन मूल प्रश्नव्याकरण में दो श्रुतस्कन्ध थे और उसका विच्छेद हो जाने के पश्चात् उसकी स्थानपूर्ति के लिए विरचित अथवा उसके लुप्त होने से बचे इस भाग में एक ही श्रुतस्कन्ध है ? मगर दोनो श्रुतस्कन्धो के नाम वही आस्रवद्वार और सवरद्वार गिनाए गए हैं। अतएव यह सभावना भी सदिग्ध बनती है और अधिक चिन्तन-अन्वेषण मागती है। जो हो, पाठ इस प्रकार है—

तेण कालेण तेण समएण चम्पा नाम नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, वणसडे, असोगवरपायवे, पुढविसिलापट्टए।

तत्थ ण चम्पाए नयरीए कोणिए नाम राया होत्था, धारिणी देवी।

तेण कालेणं तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी अज्जसुहम्मे नाम थेरे जाइ-सपण्णे कुल-सपण्णे बलसपण्णे रूवसपण्णे विणयसपण्णे नाणसपण्णे दसणसपण्णे चरित्तसपण्णे लज्जा-सपण्णे लाघवसपण्णे ओयसी तेयसी वच्चसी जससी जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जियइदिए जियपरीसहे जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्के तवप्पहाणे गुणप्पहाणे मुत्तिप्पहाणे विज्जप्पहाणे मतप्पहाणे बभप्पहाणे वयप्पहाणे नयप्पहाणे नियमप्पहाणे सच्चपहाणे सोयप्पहाणे नाणप्पहाणे दसणप्पहाणे चरित्तप्पहाणे चोद्दसपुव्वी चउनाणोवगए पचहि अणगारसएहि सद्धि सपरिवुडे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगाम दूइज्जमाणे जेणेव चम्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ जाव अहापडिरूव उग्गह उगिण्हित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति।

तेण कालेणं तेण समएण अज्जसुहम्मस्स अतेवासी अज्जजंबू नाम अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव सखित्तविउलतेउलेस्से अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूर-सामते उड्ढ जाणू जाव सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

तए ण से अज्जजबू जायसड्ढे जायससए जायकोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नससए उप्पन्न-कोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उठ्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव सुहम्मे थेरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अज्जसुहम्म थेर तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ, करित्ता वदइ नमसइ (नमसित्ता) नाइदूरे विणएण पजलिपुडे पज्जुवासमाणे एव वयासी—

'जइ ण भते ! समणेण भगवया महावीरेणं जाव सपत्तेण णवमस्स अगस्स अणुत्तरोववाइय-दसाण अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स ण अगस्स पण्हावागरणाण समणेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते ?'

'जंबू ! दसमस्स अंगस्स समणेणं जाव सपत्तेणं दो सुयक्खधा पण्णत्ता—आसवदारा य संवरदारा य।'

'पढमस्स णं भंते ! सुयक्खधस्स समणेणं जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पण्णत्ता ?'

'जबू ! पढमस्स सुयक्खंधस्स समणेण जाव संपत्तेणं पंच अज्झयणा पण्णत्ता ।'

'दोच्चस्स णं भते ! सुयक्खंधस्स ? एवं चेव ।'

'एएसि ण भते ! अण्हय-सवराणं समणेण जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?'

तते ण अज्जसुहम्मे थेरे जबूनामेण अणगारेण एव वुत्ते समाणे जबू अणगारं एवं वयासी—'जंबू ! इणमो—' इत्यादि ।

सारांश—उस काल, उस समय चम्पानगरी थी । उसके बाहर पूर्णभद्र चैत्य था, वनखण्ड था । उसमें उत्तम अशोकवृक्ष था । वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक था ।

चम्पा नगरी का राजा कोणिक था और उसकी पटरानी का नाम धारिणी था ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी स्थविर आर्य सुधर्मा थे । वे जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जासम्मन्न, लाघवसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, क्रोध-मान-माया-लोभ-विजेता, निद्रा, इन्द्रियो और परीषहो के विजेता, जीवन की कामना और मरण की भीति से विमुक्त, तपप्रधान, गुणप्रधान, मुक्तिप्रधान, विद्याप्रधान, मन्त्रप्रधान, ब्रह्मप्रधान, व्रतप्रधान, नयप्रधान, नियमप्रधान, सत्यप्रधान, शौचप्रधान, ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान, चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता, चार ज्ञानो से सम्पन्न, पाँच सौ अनगारो से परिवृत्त, पूर्वानुपूर्वी से चलते, ग्राम-ग्राम विचरते चम्पा नगरी मे पधारे । सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए ठहरे ।

उस काल, उस समय, आर्य सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बू साथ थे । वे काश्यपगोत्रीय थे । उनका शरीर सात हाथ ऊँचा था ……(यावत्) उन्होने अपनी विपुल तेजोलेश्या को अपने मे ही सक्षिप्त—समा रक्खा था । वे आर्य सुधर्मा से न अधिक दूर और न अधिक समीप, घुटने ऊपर करके और नतमस्तक होकर सयम एव तपश्चर्या से आत्मा को भावित कर रहे थे ।

एक बार आर्य जम्बू के मन मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वे आर्य सुधर्मा के निकट पहुँचे । आर्य सुधर्मा की तीन वार प्रदक्षिणा की, उन्हे वन्दन-स्तवन किया, नमस्कार किया । फिर विनयपूर्वक दोनो हाथ जोडकर—अजलि करके, पर्युपासना करते हुए बोले—

(प्रश्न)—भते ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने नौवे अग अनुत्तरौपपातिक दशा का यह (जो मै सुन चुका हूँ) अर्थ कहा है तो दसवे अग प्रश्नव्याकरण का क्या अर्थ कहा है ?

(उत्तर)—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने दसवे अंग के दो श्रुतस्कन्ध कहे हैं—आस्रव-द्वार और सवरद्वार । प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाँच-पाँच अध्ययन प्ररूपित किए है ।

(प्रश्न)—भते ! श्रमण भगवान् ने आस्रव और सवर का क्या अर्थ कहा है ?

तब आर्य सुधर्मा ने जम्बू अनगार को इस प्रकार कहा—।

□□

परिशिष्ट—२

गाथानुक्रमसूची

अणुसिट्ठं पि बहुविहं

इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं

एएहिं पंचहिं असंवरेहिं

किं सक्का काउं जे

जंबू ! एत्तो संवरदाराइं

जारिसओ जं नामा

तत्थ पढमं अहिंसा

तित्थकरेहिं सुदेसियमग्गं

देव-नरिंद नमंसियपूयं

पंचमहव्वयसुव्वयमूलं

पंचविहो पण्णत्तो

पढमं होइ अहिंसा

सव्वगई पक्खंदे काहेंति

□□

परिशिष्ट (३)

कथाएँ

सीता

मिथिला नगरी के राजा जनक थे। उनकी रानी का नाम विदेहा था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम भामडल और पुत्री का नाम जानकी-सीता था। सीता अत्यन्त रूपवती और समस्त कलाओं मे पारगत थी। जब वह विवाहयोग्य हुई तो राजा जनक ने स्वयवरमडप बनवाया और देश-विदेशो के राजाओ, राजकुमारो और विद्याधरों को स्वयवर के लिए आमन्त्रित किया। राजा जनक ने प्रतिज्ञा की थी कि जो स्वयवरमंडप में स्थापित देवाधिष्ठित धनुष की प्रत्यचा चढा देगा, उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।

ठीक समय पर राजा, राजकुमार और विद्याधर आ पहुँचे। अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र भी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ उस स्वयवर मे आये। महाराजा जनक ने सभी समागत राजाओ को सम्बोधित करते हुये कहा—'महानुभावो! आपने मेरे आमत्रण पर यहाँ पधारने का कष्ट किया है, इसके लिए धन्यवाद! मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वीर इस धनुष को चढा देगा, उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।'

यह सुनकर सभी समागत राजा, राजकुमार, और विद्याधर बहुत प्रसन्न हुए, सब को अपनी सफलता की आशा थी। सब विद्याधरो और राजाओं ने बारी-बारी से अपनी ताकत आजमाई लेकिन धनुष किसी से टस से मस नही हुआ।

राजा जनक ने निराश होकर खेदपूर्वक जब सभी क्षत्रियो को फटकारा कि क्या यह पृथ्वी वीरशून्य हो गई है! तभी लक्ष्मण के कहने पर रामचन्द्रजी उस धनुष को चढाने के लिए उठे। सभी राजा आदि आश्चर्यचकित थे। रामचन्द्रजी ने धनुष के पास पहुँचकर पचपरमेष्ठी का ध्यान किया। धनुष का अधिष्ठायक देव उसके प्रभाव से शान्त हो गया, तभी श्री रामचन्द्रजी ने सबके देखते ही देखते क्षणभर में धनुष को उठा लिया और झट से उस पर बाण चढा दिया, सभी ने जयनाद किया। सीता ने श्री रामचन्द्रजी के गले में वरमाला डाल दी। विधिपूर्वक दोनो का पाणिग्रहण हो गया। विवाह के बाद श्री रामचन्द्रजी सीता को लेकर अयोध्या आये। सारी अयोध्या मे खुशियाँ मनाई गई। अनेक मगलाचार हुए। इस तरह कुछ समय आनन्दोल्लास मे व्यतीत हुआ।

एक दिन राजा दशरथ के मन मे इच्छा हुई कि रामचन्द्र को राज्याभिषिक्त करके मैं अब त्यागी मुनि बन जाऊँ। परन्तु होनहार बलवान् है। जब रामचन्द्रजी की विमाता कैकेयी ने यह सुना तो सोचा कि राजा अगर दीक्षा लेगे तो मेरा पुत्र भरत भी साथ ही दीक्षा ले लेगा। अत: भरत को दीक्षा देने से रोकने के लिए उसने राजा दशरथ को युद्ध में अपने द्वारा की हुई सहायता के फलस्वरूप

प्राप्त और सुरक्षित रखे हुये वर को इस समय मांगना उचित समझा। महारानी कैकेयी ने राजा दशरथ से अपने पुत्र भरत को राज्य देने का वर मांगा। महाराजा दशरथ को अपनी प्रतिज्ञानुसार यह वरदान स्वीकार करना पडा। फलत श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने और भरत को राज्य का अधिकारी बनाने के लिए सीता और लक्ष्मण के साथ वनगमन किया। वन में भ्रमण करते हुए वे दण्डकारण्य पहुँचे और वहाँ पर्णकुटी बना कर रहने लगे।

एक दिन लक्ष्मणजी घूमते-घूमते उस वन के एक ऐसे प्रदेश मे पहुँचे, जहाँ खरदूषण का पुत्र शम्बूक बासो के बीहड मे एक वृक्ष से पैर बाधकर औंधा लटका चन्द्रहासखड्ग की एक विद्या सिद्ध कर रहा था। परन्तु उसको विद्या सिद्ध न हो सकी। एक दिन लक्ष्मण ने आकाश मे अधर लटकते हुए चमचमाते चन्द्रहासखड्ग को कुतूहलवश हाथ मे उठा लिया और उसका चमत्कार देखने की इच्छा से उसे बासो के बीहड़ पर चला दिया। सयोगवश खरदूषण और चन्द्रनखा के पुत्र तथा रावण के भानजे शम्बूककुमार को वह तलवार जा लगी। बासो के साथ-साथ उनका भी सिर कट गया। जब लक्ष्मणजी को यह पता चला तो उन्हे बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने रामचन्द्रजी के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। उन्हे भी बडा दु.ख हुआ। वे समझ गये कि लक्ष्मण ने एक बहुत बडी विपत्ति का बुला लिया है। जब शम्बूककुमार के मार डाले जाने का समाचार उसकी माता चन्द्रनखा को मालूम हुआ तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठी और पुत्रघातक से बदला लेने के लिए उस पर्णकुटी पर आ पहुँची, जहाँ राम-लक्ष्मण बठे हुए थे। वह आई तो थी बदला लेने, परन्तु वहाँ वह श्रीराम-लक्ष्मण के दिव्य रूप को देखकर उन पर मोहित हो गई। उसने विद्या के प्रभाव से सुन्दरी युवती का रूप बना लिया और कामज्वर से पीडित होकर एक बार राम से तो दूसरी बार लक्ष्मण से कामाग्नि शात करने की प्रार्थना की। मगर स्वदारसतोषी, परस्त्रीत्यागी राम-लक्ष्मण ने उसकी यह जघन्य प्रार्थना ठुकरा दी। पुत्र के वध करने और अपनी अनुचित प्रार्थना के ठुकरा देने के कारण चन्द्रनखा का रोष दुगुना भभक उठा। वह सीधी अपने पति खरदूषण के पास आई और पुत्रवध का सारा हाल कह सुनाया। सुनते ही खरदूषण अपनी कोपज्वाला से दग्ध होकर वर का बदला लेने हेतु सदल-बल दडकारण्य मे पहुँचा। जब राम-लक्ष्मण को यह पता चला कि खरदूषण लडने के लिए आया है तो लक्ष्मण उसका सामना करने पहुँचे। दोनो मे युद्ध छिड गया। उधर लकाधीश रावण को जब अपने भानजे के वध का समाचार मिला तो वह भी लकापुरी से आकाश-मार्ग द्वारा दण्डकवन मे पहुँचा। आकाश से ही वह टकटकी लगाकर बहुत देर तक सीता को देखता रहा। सीता को देखकर रावण का अन्त करण कामबाण से व्यथित हो गया। उसकी विवेकबुद्धि और धर्मसज्ञा लुप्त हो गई। अपने उज्ज्वल कुल के कलकित होने की परवाह न करके दुर्गतिगमन का भय छोडकर उसने किसी भी तरह से सीता का हरण करने की ठान ली। सन्निपात के रोगी के समान कामोन्मत्त रावण सीता को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। उसने अपनी विद्या के प्रभाव से जहाँ लक्ष्मण सग्राम कर रहा था, उस ओर जोर से सिंहनाद की ध्वनि की। राम यह सुनकर चिन्ता मे पडे कि लक्ष्मण भारी विपत्ति मे फँसा है, अतः उसने मुझे बुलाने को यह पूर्वसकेतित सिंहनाद किया है। इसलिए वे सीता को अकेली छोडकर तुरन्त लक्ष्मण की सहायता के लिए चल पड़े। परस्त्रीलम्पट रावण इस अवसर की प्रतीक्षा मे था ही। उसने मायावी साधु का वेश बनाया और दान लेने के बहाने अकेली सीता के पास पहुँचा। ज्यो ही सीता बाहर आई त्यो ही जबरन उसका अपहरण करके अपने विमान मे बैठा लिया और आकाश-मार्ग

से लका की ओर चल दिया । सीता का विलाप और रुदन सुनकर रास्ते मे जटायु पक्षी ने विमान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया । लेकिन उसके पख काटकर उसे नीचे गिरा दिया और सीता को लेकर झटपट लका पहुँचा । वहाँ उसे अशोकवाटिका मे रखा । रावण ने सीता को अनेक प्रलोभन देकर और भय बताकर अपने अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टाएँ की, लेकिन सीता किसी भी तरह से उसके वश में न आई । आखिर उसने विद्याप्रभाव से श्रीराम का कटा हुआ सिर भी बताया और कहा कि अब रामचन्द्र तो इस ससार मे नही रहे, तू मुझे स्वीकार कर ले । लेकिन सीता ने उसकी एक न मानी । उसने श्रीराम के सिवाय अपने मन मे और किसी पुरुष को स्थान न दिया । रावण को भी उसने अनुकूल-प्रतिकूल अनेक वचनों से उस अधर्मकृत्य से हटने के लिये समझाया, पर वह अपने हठ पर अडा रहा ।

उधर श्रीराम, लक्ष्मण के पास पहुँचे तो लक्ष्मण ने पूछा—'भाई ! आप माता सीता को पर्णकुटी मे अकेली छोडकर यहाँ कैसे आ गए ?' राम ने सिंहनाद को मायाजाल समझा और तत्काल अपना पर्णकुटी मे वापस लौटे । वहाँ देखा तो सीता गायब । सीता को न पाकर श्रीराम उसके वियोग से व्याकुल होकर मूच्छित हो गए, भूमि पर गिर पडे । इतने मे लक्ष्मण भी युद्ध में विजय पाकर वापिस लौटे तो अपने बडे भैया की यह दशा और सीता का अपहरण जानकर अत्यन्त दु खित हुए । लक्ष्मण के द्वारा शीतोपचार से राम होश मे आए । फिर दोनो भाई वहाँ से सीता की खोज मे चल पडे । मार्ग मे उन्हे ऋष्यमूक पर्वत पर वानरवशी राजा सुग्रीव और हनुमान आदि विद्याधर मिले । उनसे पता लगा कि 'इमी रास्ते से आकाशमार्ग से विमान द्वारा रावण सीता को हरण करके ले गया है । उसके मुख से 'हा राम' शब्द सुनाई दे रहा था इसलिए मालूम होता है, वह सीता ही होगी ।' अत: दोनो भाई निश्चय करके सुग्रीव, हनुमान आदि वानरवशी तथा सीता के भाई भामडल आदि विद्याधरो की सहायता से सेना लेकर लका पहुँचे । युद्ध से व्यर्थ मे जनसहार न हो, इसलिए पहले श्री राम ने रावण के पास दूत भेज कर कहलाया कि सीता को हमे आदरपूर्वक सौप दो और अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करो तो हम बिना सग्राम किए वापस लौट जाएँगे, लेकिन रावण की मृत्यु निकट थी । उसे विभीषण, मन्दोदरी आदि हितैषियो ने भी बहुत समझाया, किन्तु उसने किसी की एक न मानी । आखिर युद्ध की दुन्दुभि बजी । घोर सग्राम हुआ । दोनो ओर के अगणित मनुष्य मौत के मेहमान बने । अधर्मी रावण के पक्ष के बडे-बडे योद्धा रण मे खेत रहे । आखिर रावण रणक्षेत्र मे आया । रावण तीन खण्ड का अधिनायक प्रतिनारायण था । उससे युद्ध करने की शक्ति राम और लक्ष्मण के सिवाय किसी मे न थी । यद्यपि हनुमान आदि अजेय योद्धा राम की सेना मे थे, तथापि रावण के सामने टिकने की और विजय पाने की ताकत नारायण के अतिरिक्त दूसरे में नही थी । अत· रावण के सामने जो भी योद्धा आए, उन सबको वह परास्त करता रहा, उनमे से कई तो रणचडी की भेंट भी चढ गए । रामचन्द्रजी की सेना मे हाहाकार मच गया । राम ने लक्ष्मण को ही समर्थ जान कर रावण से युद्ध करने का आदेश दिया । दोनो ओर से शस्त्रप्रहार होने लगे । लक्ष्मण ने रावण के चलाये हुए सभी शस्त्रो को निष्फल करके उन्हे भूमि पर गिरा दिया । अन्त मे क्रोधवश रावण ने अन्तिम अस्त्र के रूप मे अपना चक्र लक्ष्मण पर चलाया, लेकिन वह लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के ही दाहिने हाथ मे जा कर ठहर गया । रावण हताश हो गया ।

अन्तत: लक्ष्मणजी ने वह चक्र सभाला और ज्यो ही उसे घुमाकर रावण पर चलाया, त्यो ही रावण का सिर कटकर भूमि पर आ गिरा । रावण यमलोक का अतिथि बन गया ।

द्रौपदी

कांपिल्यपुर में द्रुपद नाम का राजा था, उनकी रानी का नाम चुलनी था। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न और पुत्री का नाम था द्रौपदी। उसके विवाहयोग्य होने पर राजा द्रुपद ने योग्य वर चुनने के लिए स्वयवरमडप की रचना करवाई तथा सभी देशो के राजा-महाराजाओ को स्वयवर के लिए आमन्त्रित किया। हस्तिनापुर के राजा पाण्डु के पांचो पुत्र—युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव भी उस स्वयवर-मडप में पहुँचे। मडप मे उपस्थित सभी राजाओ और राजपुत्रो को सम्बोधित करते हुए द्रुपद राजा ने प्रतिज्ञा की घोषणा की 'यह जो सामने वेधयत्र लगाया गया है, उसके द्वारा तीव्र गति मे घूमती हुई ऊपर यत्रस्थ मछली का प्रतिबिम्ब नीचे रखी हुई कडाही के तेल मे भी घूम रहा है। जो वीर नीचे प्रतिबिम्ब को देखते हुए धनुष से उस मछली का (लक्ष्य का) वेध कर देगा, उसी के गले मे द्रौपदी वरमाला डालेगी।'

उपस्थित सभी राजाओ ने अपना-अपना हस्तकौशल दिखाया, लेकिन कोई भी मत्स्यवेध करने मे सफल न हो सका। अन्त मे पाडवो की बारी आई। अपने बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञा मिलने पर धनुर्विद्याविशारद अर्जुन ने अपना गाडीव धनुष उठाया और तत्काल लक्ष्य-वेध कर दिया। अपने कार्य मे सफल होते ही अर्जुन के जयनाद से सभामडप गूज उठा। राजा द्रुपद ने भी अत्यन्त हर्षित होकर द्रौपदी को अर्जुन के गले मे वरमाला डालने की आज्ञा दी। द्रौपदी अपनी दासी के साथ मडप मे उपस्थित थी। वह अर्जुन के गले मे ही माला डालने जा रही थी, किन्तु पूर्वकृत निदान के प्रभाव से दैवयोगात् वह माला पाँचो भाईयो के गले मे जा पडी। इस प्रकार पूर्वकृत-कर्मानुसार द्रौपदी के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पांच पति कहलाए।

एक समय पाण्डु राजा राजसभा के सिहासन पर बैठे थे। उनके पास ही कुन्ती महारानी बैठी थी और युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई भी बैठे हुए थे। द्रौपदी भी वही थी। तभी आकाश से उतर कर देवर्षि नारद सभा मे आए। राजा आदि ने तुरन्त खडे होकर नारद-ऋषि का आदर-सम्मान किया। लेकिन द्रौपदी किसी कारणवश उनका उचित सम्मान न कर सकी। इस पर नारद का पारा गर्म हो गया। उन्होने द्रौपदी द्वारा किए हुए इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। उन्होंने सोचा—"द्रौपदी को अपने पर बडा गर्व है। इसके इस गर्व को चूर-चूर न कर दिखाऊँ तो मेरा नाम नारद ही क्या?"

वे इस दृढसकल्पनानुसार मन ही मन द्रौपदी को नीचा दिखाने की योजना बनाकर वहाँ से चल दिए। देश-देशान्तर घूमते हुए नारदजी धातकीखण्ड के दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र की राजधानी अमरकका नगरी मे पहुँचे। वहाँ के राजा पद्मनाभ ने नारदजी को अपनी राजसभा मे आये देखकर उनका बहुत आदर-सत्कार किया, कुशलक्षेम पूछने के बाद राजा ने नारदजी से पूछा—"ऋषिवर! आप की सर्वत्र अबाधित गति है। आपको किसी भी जगह जाने की रोक-टोक नही है। इसलिए यह बताइये कि सुन्दरियो से भरे मेरे अन्त.पुर जैसा और कही कोई अन्त पुर आपने देखा है?"

यह सुनकर नारदजी हँस पडे और बोले—"राजन्! तू अपनी नारियो के सौन्दर्य का वृथा गर्व करता है। तेरे अन्त पुर में द्रौपदी सरीखी कोई सुन्दरी नही है। सच कहूँ तो, द्रौपदी के पैर के अगूठे की बराबरी भी ये नही कर सकती।"

यह बात सुनते ही विषयविलासानुरागी राजा पद्मनाभ के चित्त में द्रौपदी के प्रति अनुराग का अंकुर पैदा हो गया। उसे द्रौपदी के बिना एक क्षण भी वर्षों के समान सतापकारी मालूम होने लगा। उसने तत्क्षण पूर्व-सगतिक देवता की आराधना की। स्मरण करते ही देव प्रकट हुआ। राजा ने अपना मनोरथ पूर्ण कर देने की बात उससे कही।

अपने महल मे सोई हुई द्रौपदी को देव ने शय्या सहित उठा कर पद्मनाभ नृप के क्रीडोद्यान में ला रखा। जागते ही द्रौपदी अपने को अपरिचित प्रदेश मे पाकर घबरा उठी। वह मन ही मन पचपरमेष्ठी का स्मरण करने लगी। इतने मे राजा पद्मनाभ ने आकर उससे प्रेमयाचना की, अपने वैभव एवं सुख-सुविधाओं आदि का भी प्रलोभन दिया। नीतिकुशल द्रौपदी ने सोचा—'इस समय यह पापात्मा कामान्ध हो रहा है। अगर मैंने साफ इन्कार कर दिया तो विवेकशून्य होने से शायद यह मेरा शीलभग करने को उद्यत हो जाए। अत: फिलहाल अच्छा यही है कि उसे भी बुरा न लगे और मेरा शील भी सुरक्षित रहे।' ऐसा सोच कर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा—'राजन्! आप मुझे छह महीने की अवधि इस पर सोचने के लिये दीजिये। उसके बाद आपकी जैसी इच्छा हो करना।' उसने बात मजूर कर ली। इसके बाद द्रौपदी अनशन आदि तपश्चर्या करती हुई सदा पचपरमेष्ठी के ध्यान में लीन रहने लगी।

पाडवो की माता कुन्ती द्रौपदीहरण के समाचार लेकर हस्तिनापुर से द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से द्रौपदी का पता लगाने और लाने का आग्रह किया। इसी समय कलहप्रिय नारदऋषि भी वहाँ कोई आ धमके। श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—"मुने! आपकी सर्वत्र अबाधित गति है। अढाई द्वीप मे ऐसा कोई स्थान नही है, जहाँ आपका गमन न होता हो। अत. आपने कही द्रौपदी को देखा हो तो कृपया बतलाइये।"

नारदजी बोले—"जनार्दन! धातकीखण्ड मे अमरकका नाम की राजधानी है। वहाँ के राजा पद्मनाभ के क्रीडोद्यान के महल मे मैने द्रौपदी जैसी एक स्त्री को देखा तो है।"

नारजी से द्रौपदी का पता मालूम होते ही श्रीकृष्णजी पाचो पाडवो को साथ लेकर अमरकका की ओर रवाना हुए। रास्ते मे लवणसमुद्र था, जिसको पार करना उनके बूते की बात नही थी। तब श्रीकृष्णजी ने तेला (तीन उपवास) करके लवणसमुद्र के अधिष्ठायक देव की आराधना की। देव प्रसन्न होकर श्रीकृष्णजी के सामने उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णजी के कथानानुसार समुद्र मे उसने रास्ता बना दिया। फलत: श्रीकृष्णजी पाचो पाडवो को साथ लिये राजधानी अमरकका नगरी मे पहुँचे और एक उद्यान मे ठहर कर अपने सारथी के द्वारा पद्मनाभ को सूचित कराया।

पद्मनाभ अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये आ डटा। दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ होने की दुन्दुभि बज उठी। बहुत देर तक दोनो में जम कर युद्ध हुआ। पद्मनाभ ने जब पाडवो को परास्त कर दिया तब श्रीकृष्ण स्वय युद्ध के मैदान में आ डटे और उन्होने अपना पाचजन्य शख बजाया। पाचजन्य का भीषण नाद सुनते ही पद्मनाभ की तिहाई सेना तो भाग खड़ी हुई, एक तिहाई सेना को उन्होने सारंग—गाडीव धनुष की प्रत्यचा की टकार से मूर्च्छित कर दिया। शेष बची हुई तिहाई सेना और पद्मनाभ अपने प्राणो को बचाने के लिये दुर्ग मे जा घुसे। श्रीकृष्ण ने नरसिंह का रूप

बनाया और नगरी के द्वार, कोट और अटारियो को अपने पजो की मार से भूमिसात कर दिया। बड़े-बड़े विशाल भवनो और प्रासादो के शिखर गिरा दिये। सारी राजधानी (नगरी) मे हाहाकार मच गया। पद्मनाभ राजा भय से कापने लगा और श्रीकृष्ण के चरणो मे आ गिरा तथा आदरपूर्वक द्रौपदी को उन्हे सौप दिया। श्रीकृष्ण ने उसे क्षमा किया और अभयदान दिया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्रौपदी और पाचो पाडवो को लेकर जयध्वनि एव आनन्दोल्लास के साथ द्वारिका पहुँचे।

इस प्रकार राजा पद्मनाभ की कामवासना—मैथुन-सज्ञा—के कारण महाभारत काल मे द्रौपदी के लिये भयकर सग्राम हुआ।

रुक्मिणी

कु डिनपुर नगरी के राजा भीष्म के दो सतान थी—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम रुक्मी था और पुत्री का नाम था—रुक्मिणी।

एक दिन घूमते-घामते नारदजी द्वारिका पहुँचे और श्रीकृष्ण की राजसभा मे प्रविष्ट हुए। उनके आते ही श्रीकृष्ण अपने आसन से उठकर नारदजी के सम्मुख गए और प्रणाम करके उन्हे विनयपूर्वक आसन पर बिठाया। नारदजी ने कुशलमगल पूछ कर श्रीकृष्ण के अन्त पुर मे गमन किया। वहाँ सत्यभामा अपने गृहकार्य मे व्यस्त थी। अत: वह नारदजी की आवभगत भलीभाति न कर सकी। नारदजी ने उसे अपना अपमान समझा और गुस्से मे आ कर प्रतिज्ञा की—"इस सत्यभामा पर सौत लाकर यदि मै अपने अपमान का मजा न चखा दू तो मेरा नाम नारद ही क्या ?"

तत्काल वे वहाँ से रवाना हुये और कु डिनपुर के राजा भीष्म की राजसभा मे पहुँचे। राजा भीष्म और उनके पुत्र रुक्म ने उनको बहुत सम्मान दिया, फिर उन्होंने हाथ जोड कर आगमन का प्रयोजन पूछा। नारदजी ने कहा—"हम भगवद्-भजन करते हुये भगवद्भक्तो के यहाँ घूमते-घामते पहुँच जाते है।" इधर-उधर की बाते करने के पश्चात् नारदजी अन्त पुर मे पहुँचे। रानियो ने उनका सविनय सत्कार किया। रुक्मिणी ने भी उनके चरणो मे प्रणाम किया। नारदजी ने उसे आशीर्वाद दिया—"कृष्ण की पटरानी हो।" इस पर रुक्मिणी की बुआ ने साश्चर्य पूछा—"मुनिवर ! आपने इसे यह आशीर्वाद कैसे दिया ? और कृष्ण कौन हैं ? उनमे क्या-क्या गुण है ?" इस प्रकार पूछने पर नारदजी ने श्रीकृष्ण के वैभव और गुणो का वर्णन करके रुक्मिणी के मन में कृष्ण के प्रति अनुराग पैदा कर दिया। नारदजी भी अपनी सफलता की सम्भावना से हर्षित हो उठे। नारदजी ने यहाँ से चल कर पहाड की चोटी पर एकान्त मे बैठ कर एक पट पर रुक्मिणी का सुन्दर चित्र बनाया। उसे लेकर वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और उन्हे वह दिखाया। चित्र इतना सजीव था कि श्रीकृष्ण देखते ही भावविभोर हो गए और रुक्मिणी के प्रति उनका आकर्षण जाग उठा। वे पूछने लगे—"नारदजी ! यह बताइये, यह कोई देवी है, किन्नरी है ? या मानुषी है ? यदि यह मानुषी है तो वह पुरुष धन्य है, जिसे इसके करस्पर्श का अधिकार प्राप्त होगा।"

नारदजी मुसकरा कर बोले—"कृष्ण ! वह धन्य पुरुष तो तुम ही हो।" नारदजी ने सारी

घटना आद्योपान्त कह सुनाई। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने राजा भीष्म से रुक्मिणी के लिये याचना की। राजा भीष्म तो इससे सहमत हो गए, लेकिन रुक्मी इसके विपरीत था। उसने इन्कार कर दिया कि, "मैं तो शिशुपाल के लिये अपनी बहन को देने का सकल्प कर चुका हूँ।" रुक्मी ने श्रीकृष्ण के निवेदन पर कोई ध्यान नही दिया और माता-पिता की अनुमति की भी परवाह नही की। उसने सबकी बात को ठुकरा कर शिशुपाल राजकुमार के साथ अपनी बहन रुक्मिणी के विवाह का निश्चय कर लिया। शिशुपाल को वह बडा प्रतापी और तेजस्वी तथा भू-मडल मे बेजोड बलवान् मानता था। रुक्मी ने शिशुपाल के साथ अपनी बहिन की शादी की तिथि निश्चित कर ली। शिशुपाल भी बडी भारी बरात ले कर सजधज के साथ विवाह के लिये कु डिनपुर की ओर चल पडा। अपने नगर मे निकलते ही उसे अमगलसूचक शकुन हुए, किन्तु शिशुपाल ने कोई परवाह न की। वह विवाह के लिये चल ही दिया। कु डिनपुर पहुँचकर नगर के बाहर वह एक उद्यान में ठहरा। उधर रुक्मिणी नारदजी से आशीर्वाद प्राप्त कर और श्रीकृष्ण के गुण सुन कर उनसे प्रभावित हो गई थी। फलत मन ही मन उन्हे पति रूप मे स्वीकृत कर चुकी थी। वह यह सुनकर अत्यन्त दु खी हुई कि भाई रुक्मी ने उसकी व पिताजी की इच्छा के विरुद्ध हठ करके शिशुपाल को विवाह के लिये बुला लिया है और वह बारात सहित उद्यान मे आ भी पहुँचा है। रुक्मिणी को उसकी बुआ बहुत प्यार करती थी। उसने रुक्मिणी को दु खित और संकटग्रस्त देखकर उसे आश्वासन दिया और श्रीकृष्णजी को एक पत्र लिखा—"जनार्दन! रुक्मिणी के लिये इस समय तुम्हारे सिवाय कोई शरण नही है। यह तुम्हारे प्रति अनुरक्त है और अहर्निश तुम्हारा ही ध्यान करती है। उसने यह सकल्प कर लिया है कि कृष्ण के सिवाय ससार के सभी पुरुष मेरे लिये पिता या भाई के समान है। अत. तुम ही एकमात्र इसके प्राणनाथ हो! यदि तुमने समय पर आने की कृपा न की तो रुक्मिणी को इस ससार मे नही पाओगे और एक निरपराध अबला की हत्या का अपराध आपके सिर लगेगा। अत इस पत्र के मिलते ही प्रस्थान करके निश्चित समय से पहले ही रुक्मिणी को दर्शन दे।"

इस आशय का करुण एवं जोशीला पत्र लिख कर बुआ ने एक शीघ्रगामी दूत द्वारा श्रीकृष्णजी के पास द्वारिका भेजा। दूत पवनवेग के समान द्वारिका पहुँचा और वह पत्र श्रीकृष्ण के हाथ मे दिया। पत्र पढते ही श्रीकृष्ण को हर्ष से रोमाञ्च हो उठा और क्रोध से उनकी भुजाएँ फडक उठी। वे अपने आसन से उठे और अपने साथ बलदेव को लेकर शीघ्र कु डिनपुर पहुँचे। वहाँ नगर के बाहर गुप्तरूप से एक बगीचे मे ठहरे। उन्होंने अपने आने की एव स्थान की सूचना गुप्तचर द्वारा रुक्मिणी और उसकी बुआ को दे दी। वे दोनों इस सूचना को पाकर अतीव हर्षित हुई।

रुक्मिणी के विवाह में कोई अडचन पैदा न हो, इसके लिये रुक्मी और शिशुपाल ने नगर के चारों ओर सभी दरवाजो पर कडा पहरा लगा दिया था। नगर के बाहर और भीतर सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध कर रखा था। लेकिन होनहार कुछ और ही थी।

रुक्मिणी की बुआ इस पेचीदा समस्या को देख कर उलझन मे पड गई। आखिर उसे एक विचार सूझा। उसने श्रीकृष्णजी को उसी समय पत्र द्वारा सूचित किया—"हम रुक्मिणी को साथ लेकर कामदेव की पूजा के बहाने कामदेव के मन्दिर मे आ रही हैं और यही उपयुक्त अवसर है—रुक्मिणी के हरण का। इसलिए आप इस स्थान पर सुसज्जित रहे।"

पत्र पाते ही श्रीकृष्ण ने तदनुसार सब तैयारी कर ली। ठीक समय पर पूजा की सामग्री से सुसज्जित थालो को लिये मगलगीत गाती हुई रुक्मिणी अपनी सखियो के साथ महल से निकली। नगर के द्वार पर राजा शिशुपाल के पहरेदारो ने यह कह कर रोक दिया कि—"ठहरो! राजा की आज्ञा किसी को बाहर जाने देने की नही है।" रुक्मिणी की सखियो ने उनसे कहा—"हमारी सखी शिशुपाल की शुभकामना के लिये कामदेव की पूजा करने जा रही है। तुम इस मगलकार्य मे क्यो विघ्न डाल रहे हो? खबरदार! यदि तुम इस शुभकार्य मे बाधा डालोगे तो इसका बुरा परिणाम तुम्हे भोगना पडेगा। तुम कैसे स्वामिभक्त हो कि अपने स्वामी के हित मे बाधा डालते हो!" द्वाररक्षको ने यह सुन कर खुशी से उन्हे बाहर जाने दिया। रुक्मिणी अपनी सखियो और बुआ सहित आनन्दोल्लास के साथ कामदेवमन्दिर मे पहुँची। परन्तु वहाँ किसी को न देखकर व्याकुल हो गई।

उसने आर्त्त स्वर मे प्रार्थना की। श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो एक ओर छिपे रुक्मिणी की भक्ति और अनुराग देख रहे थे। यह सब देख-सुन कर वे सहसा रुक्मिणी के सामने आ उपस्थित हुए। लज्जा के मारे रुक्मिणी सिकुड गई और पीपल के पत्ते के समान थर-थर कांपने लगी। श्रीकृष्ण को चुपचाप खडे देख बलदेवजी ने कहा—"कृष्ण! तुम बुत-से खडे क्या देख रहे हो! क्या लज्जावती ललना प्रथम दर्शन मे अपने मुँह से कुछ बोल सकती है?"

इतना सुनते ही कृष्ण ने कहा—"आओ प्रिये! चिरकाल से तुम्हारे वियोग मे दुःखित कृष्ण यही है।" यो कह कर रुक्मिणी का हाथ पकड कर उसे सुसज्जित रथ मे बैठा लिया। कुडिनपुर के बाहर रथ के पहुँचते ही उन्होने पाचजन्य शख का नाद किया, जिससे नागरिक एव सैनिक काँप उठे।

इधर रुक्मिणी की सखियो ने शोर मचाया कि रुक्मिणी का हरण हो गया है। इसके बाद श्रीकृष्ण ने जोर से ललकारते हुए कहा—'ए शिशुपाल! मै द्वारिकापति कृष्ण तेरे आनन्द की केन्द्र रुक्मिणी को ले जा रहा हूँ। अगर तुझ मे कुछ भी सामर्थ्य हो तो छुडा ले।' इस ललकार को सुनकर शिशुपाल और रुक्मी के कान खडे हुए। वे दोनों क्रोधावेश मे अपनी-अपनी सेना लेकर सग्राम करने के लिए रणागण मे उपस्थित हुए। मगर श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो भाइयो ने सारी सेना को कुछ ही देर मे परास्त कर दिया। शिशुपाल को उन्होने जीवनदान दिया। शिशुपाल हार कर लज्जा से मुँह नीचा किए वापिस लौट गया। रुक्मी की सेना तितर-बितर हो गई और उसकी दशा भी बडी दयनीय हो गई। अपने भाई को दयनीय दशा मे देखकर रुक्मिणी ने प्रार्थना की—मेरे भैया को प्राणदान दिया जाय। श्रीकृष्ण ने हस कर कहा—'ऐसा ही होगा।' रुक्मी को उन्होने पकड कर रथ के पीछे बाध रखा था, रुक्मिणी के कहने पर छोड दिया। दोनों वीर बलराम और श्रीकृष्ण विजयश्री सहित रुक्मिणी को लेकर अपनी राजधानी द्वारिका मे आए और वही श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह किया।

पद्मावती

भारतवर्ष मे अरिष्ट नामक नगर था। वहाँ बलदेव के मामा हिरण्यनाभ राज्य करते थे। उनके पद्मावती नाम की एक कन्या थी। सयानी होने पर राजा ने उसके स्वयवर के लिये बलराम और कृष्ण आदि तथा अन्य सब राजाओ को आमत्रित किया। स्वयवर का निमत्रण पाकर बलराम और श्रीकृष्ण तथा दूसरे अनेक राजकुमार अरिष्टनगर पहुँचे।

हिरण्यनाभ के एक बडे भाई थे—रैवत । उनके रैवती, रामा, सीमा और बन्धुमती नाम की चार कन्याएँ थी । रैवत ने सासारिक मोहजाल को छोड़ कर स्व-पर-कल्याण के हेतु अपने पिता के साथ ही बाईसवे तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि के चरणो में जैनेन्द्री मुनिदीक्षा धारण कर ली थी । वे दीक्षा लेने से पहले अपनी उक्त चारो पुत्रियो का विवाह बलराम के साथ करने के लिए कह गए थे ।

इधर पद्मावती के स्वयवर मे बडे-बड़े राजा महाराजा आए हुए थे। वे सब युद्धकुशल और तेजस्वी थे । पद्मावती ने उन सब राजाओ को छोडकर श्रीकृष्ण के गले मे वरमाला डाल दी । इससे नीतिपालक सज्जन राजा तो अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—"विचारशील कन्या ने योग्य वर चुना है ।" किन्तु जो दुर्बुद्धि, अविवेकी और अभिमानी थे, वे अपने बल और ऐश्वर्य के मद मे आकर श्रीकृष्ण से युद्ध करने को प्रस्तुत हो गए । उन्होने वहाँ उपस्थित राजाओ को भडकाया—"ओ क्षत्रियवीर राजकुमारो ! तुम्हारे देखते ही देखते यह ग्वाला स्त्री-रत्न ले जा रहा है। उत्तम वस्तु राजाओ के ही भोगने योग्य होती है । अत देखते क्या हो ! उठो, सब मिल कर इससे लडो और यह कन्या-रत्न छुडा लो ।" इस प्रकार उत्तेजित किए गए अविवेकी राजा मिल कर श्रीकृष्ण से लडने लगे । घोर युद्ध छिड गया । श्रीकृष्ण और बलराम सिहनाद करते हुए निर्भीक होकर शत्रुराजाओ से युद्ध करने लगे । वे जिधर पहुँचते उधर ही रणक्षेत्र योद्धाओ से खाली हो जाता । रणभूमि मे खलबली और भगदड़ मच गई । जल्दी भागो, प्राण बचाओ ! ये मनुष्य नही, कोई देव या दानव प्रतीत होते हैं । ये तो हमे शस्त्र चलाने का अवसर ही नही देते । अभी यहाँ और पलक मारते ही और कही पहुँच जाते हैं । इस प्रकार भय और आतक से विह्वल होकर चिल्लाते हुए बहुत से प्राण बचा कर भागे । जो थोडे से अभिमानी वहाँ डटे रहे, वे यमलोक पहुंचा दिये गए । इस प्रकार बहुत शीघ्र ही उन्हे अनीति का फल मिल गया, वहाँ शान्ति हो गई ।

अन्त में रैवती, रामा आदि (हिरण्यनाभ के बडे भाई रैवत की) चारो कन्याओ का विवाह बडी धूमधाम से बलरामजी के साथ हुआ और पद्मावती का श्रीकृष्णजी के साथ । इस तरह वैवाहिक मगलकार्य सम्पन्न होने पर बलराम और श्रीकृष्ण अपनी पत्नियो को साथ लेकर द्वारिका नगरी मे पहुँचे । जहाँ पर अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाये गए ।

तारा

किष्किन्धा नगर मे वानरवशी विद्याधर आदित्य राज्य करता था । उसके दो पुत्र थे—बाली और सुग्रीव । एक दिन अवसर देख कर बाली ने अपने छोटे भाई सुग्रीव को अपना राज्य सौप दिया और स्वय मुनि-दीक्षा लेकर घोर तपस्या करने लगा । उसने चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन कर मोक्ष प्राप्त किया ।

सुग्रीव की पत्नी का नाम तारा था । वह अत्यन्त रूपवती और पतिव्रता थी । एक दिन खेचराधिपति साहसगति नाम का विद्याधर तारा का रूप-लावण्य देख उस पर आसक्त हो गया । वह तारा को पाने के लिये विद्या के बल से सुग्रीव का रूप बनाकर तारा के महल मे पहुँच गया । तारा ने कुछ चिह्नो से जान लिया कि मेरे पति का बनावटी रूप धारण करके यह कोई विद्याधर आया है । अत यह बात उसने अपने पुत्रो से तथा जाम्बवान आदि मत्रियो से कही । वे भी दोनो सुग्रीव को देखकर विस्मय मे पड गए । उन्हे भी असली और नकली सुग्रीव का पता न चला, अतएव उन्होने

दोनो सुग्रीवो को नगरी से बाहर निकाल दिया। दोनों मे घोर युद्ध हुआ, लेकिन हार-जीत किसी की भी न हुई। नकली सुग्रीव को किसी भी सूरत से हटते न देख कर असली सुग्रीव विद्याधरो के राजा महाबली हनुमानजी के पास आया और उन्हे सारा हाल कहा। हनुमानजी वहाँ आए, किन्तु दोनो सुग्रीवो मे कुछ भी अन्तर न जान सकने के कारण कुछ भी समाधान न कर सके और अपने नगर को वापिस लौट गए।

असली सुग्रीव निराश होकर श्रीरामचन्द्रजी की शरण मे पहुँचा। उस समय रामचन्द्रजी पाताललका के खरदूषण से सबधित राज्य कि सुव्यवस्था कर रहे थे। सुग्रीव उनके पास जब पहुँचा और उसने अपनी दु खकथा उन्हे सुनाई तो श्रीराम ने उसे आश्वासन दिया कि "मैं तुम्हारी विपत्ति दूर करूँगा।' उसे अत्यन्त व्याकुल देख कर श्रीराम और लक्ष्मण ने उसके साथ प्रस्थान कर दिया।

वे दोनो किष्किन्धा के बाहर ठहर गए और असली सुग्रीव से पूछने लगे—"वह नकली सुग्रीव कहाँ है ? तुम उसे ललकारो और भिड़ जाओ उसके साथ।" असली सुग्रीव द्वारा ललकारते ही युद्धरसिक नकली सुग्रीव भी रथ पर चढ कर लडाई के लिये युद्ध के मैदान मे आ डटा। दोनो मे बहुत देर तक जम कर युद्ध होता रहा पर हार या जीत दोनो मे से किसी की भी न हुई। राम भी दोनो सुग्रीव का अन्तर न जान सके। नकली सुग्रीव से असली सुग्रीव बुरी तरह परेशान हो गया। अत निराश होकर वह पुन श्रीराम के पास आकर कहने लगा—"देव! आपके होते मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। आप स्वय मेरी सहायता करे।" राम ने उससे कहा—"तुम भेदसूचक ऐसा कोई चिह्न धारण कर लो और उससे पुनः युद्ध करो। मै अवश्य ही उसे अपने किए का फल चखाऊगा।"

असली सुग्रीव ने वैसा ही किया। जब दोनो का युद्ध हो रहा था तो श्रीराम ने कृत्रिम सुग्रीव को पहिचान कर बाण से उसका वही काम तमाम कर दिया। इससे सुग्रीव प्रसन्न होकर श्रीराम और लक्ष्मण को स्वागतपूर्वक किष्किन्धा ले गया। वहाँ उनका बहुत ही सत्कार-सम्मान किया। सुग्रीव अब अपनी पत्नी तारा के साथ आनन्द से रहने लगा।

इस प्रकार राम और लक्ष्मण की सहायता से सुग्रीव ने तारा को प्राप्त किया और जीवन भर उनका उपकार मानता रहा।

कांचना

काचना के लिये भी सग्राम हुआ था, लेकिन उसकी कथा अप्रसिद्ध होने से यहाँ नही दी जा रही है। कई टीकाकार मगधसम्राट् श्रेणिक की चिलणा रानी को ही 'काचना' कहते है। अस्तु जो भी हो, काचना भी युद्ध की निमित्त बनी है।

रक्तसुभद्रा

सुभद्रा श्रीकृष्ण की बहन थी। वह पाडुपुत्र अर्जुन के प्रति रक्त-आसक्त थी, इसलिये उसका नाम 'रक्तसुभद्रा' पड गया। एक दिन वह अत्यन्त मुग्ध होकर अर्जुन के पास चली आई। श्रीकृष्ण को जब इस बात का पता चला तो उन्होने सुभद्रा को वापस लौटा लाने के लिये सेना भेजी। सेना को युद्ध के लिये आती देख कर अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ होकर सोचने लगा—श्रीकृष्णजी के खिलाफ युद्ध कैसे करूं ? वे मेरे आत्मीयजन है और युद्ध नही करूँगा तो सुभद्रा के साथ हुआ प्रेमबन्धन टूट जाएगा। इस प्रकार दुविधा मे पडे हुए अर्जुन को सुभद्रा ने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के

लिये प्रोत्साहित किया। अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष उठाया और श्रीकृष्णजी द्वारा भेजी हुई सेना से लड़ने के लिये आ पहुँचा। दोनों में जम कर युद्ध हुआ। अर्जुन के अमोघ बाणों की वर्षा से श्रीकृष्णजी की सेना तितर-बितर हो गई। विजय अर्जुन की हुई। अन्ततोगत्वा सुभद्रा ने वीर अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी, दोनों का पाणिग्रहण हो गया। इसी वीरांगना सुभद्रा की कुक्षि से वीर अभिमन्यु का जन्म हुआ, जिसने अपनी नववधू का मोह छोड़ कर छोटी उम्र मे ही महाभारत के युद्ध में वीरोचित क्षत्रियकर्त्तव्य बजाया और वहीं वीरगति को पाकर इतिहास मे अमर हो गया। सचमुच वीर माता ही वीर पुत्र को पैदा करती है।

मतलब यह है कि रक्तसुभद्रा को प्राप्त करने के लिये अर्जुन ने श्रीकृष्ण सरीखे आत्मीय जन के विरुद्ध भी युद्ध किया।

अहिन्निका

अहिन्निका की कथा अप्रसिद्ध होने से उस पर प्रकाश डालना अशक्य है। कई लोग 'अहिन्नियाए' पद के बदले 'अहिल्लियाए' मानते है। उसका अर्थ होता है- अहिल्या के लिये हुआ सग्राम। अगर यह अर्थ हो तो वैष्णव रामायण मे उक्त 'अहिल्या' की कथा इस प्रकार है– अहिल्या गौतमऋषि की पत्नी थी। वह बडी सुन्दर और धर्मपरायण स्त्री थी। इन्द्र उसका रूप देख कर मोहित हो गया। एक दिन गौतमऋषि बाहर गए हुए थे। इन्द्र ने उचित अवसर जान कर गौतमऋषि का रूप बनाया और छलपूर्वक अहिल्या के पास पहुँच कर सयोग की इच्छा प्रकट की। निर्दोष अहिल्या ने अपना पति जानकर कोई आनाकानी न की। इन्द्र अनाचार सेवन करके चला गया। जब गौतमऋषि आए तो उन्हे इस वृत्तान्त का पता चला। उन्होंने इन्द्र को शाप दिया कि—तेरे एक हजार भग हो जाए। वैसा ही हुआ। बाद मे, इन्द्र के बहुत स्तुति करने पर ऋषि ने उन भगो के स्थान पर एक हजार नेत्र बना दिए। परन्तु अहिल्या पत्थर की तरह निश्चेष्ट होकर तपस्या मे लीन हो गई। वह एक ही जगह गुमसुम होकर पडी रहती। एक बार श्रीराम विचरण करते-करते आश्रम के पास से गुजरे तो उनके चरणो का स्पर्श होते ही वह जाग्रत होकर उठ खडी हुई। ऋषि ने भी प्रसन्न होकर उसे पुन अपना लिया।

सुवर्णगुटिका

सिन्धु-सौवीर देश मे वीतभय नामक एक पत्तन था। वहाँ उदयन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। उसकी देवदत्ता नामक एक दासी थी। एक बार देश-देशान्तर मे भ्रमण करता हुआ एक परदेशी यात्री उस नगर मे आ गया। राजा ने उसे मन्दिर के निकट धर्मस्थान मे ठहराया। कर्मयोग से वह वहाँ रोगग्रस्त हो गया। रुग्णावस्था मे इस दासी ने उसकी बहुत सेवा की। फलत आगन्तुक ने प्रसन्न होकर इस दासी को सर्वकामना पूर्ण करने वाली १०० गोलिया दे दी और उनकी महत्ता एव प्रयोग करने की विधि भी बतला दी। प्रथम तो स्त्री-जाति, फिर दासी। भला दासी को उन गोलियो का सदुपयोग करने की बात कैसे सूझती? उस बदसूरत दासी ने सोचा—"क्यो नही, मैं एक गोली खा कर सुन्दर बन जाऊ।" उसने आजमाने के लिये एक गोली मुँह में डाल ली। गोली के प्रभाव से वह दासी सोने के समान रूप वाली—खूबसूरत बन गई। तब से उसका नाम सुवर्णगुटिका प्रसिद्ध हो गया। वह नवयुवती तो थी ही। एक दिन

बैठे-बैठे उसके मन मे विचार आया –"मुझे सुन्दर रूप तो मिला, लेकिन बिना पति के सुन्दर रूप भी किस काम का ? पर किसे पति बनाऊँ ? राजा को तो बनाना ठीक नही; क्योकि एक तो यह बूढा है, दूसरे, यह मेरे लिये पितातुल्य है। अतः किसी नवयुवक को ही पति बनाना चाहिये। सोचते-सोचते उसकी दृष्टि मे उज्जयिनी का राजा चन्द्रप्रद्योत जँचा। फिर क्या था ? उसने मन मे चन्द्रप्रद्योत का चिन्तन करके दूसरी गोली निगल ली। गोली के अधिष्ठाता देव के प्रभाव से उज्जयिनी-नृप चन्द्रप्रद्योत को स्वप्न मे दासी का दर्शन हुआ। फलत सुवर्णगुटिका से मिलने के लिये वह आतुर हो गया। वह शीघ्र ही गधगज नामक उत्तम हाथी पर सवार होकर वीतभय नगर मे पहुँचा। सुवर्णगुटिका तो उससे मिलने के लिये पहले से ही तैयार बैठी थी। चन्द्रप्रद्योत के कहते ही वह उसके साथ चल दी।

प्रात काल राजा उदयन उठा और नित्य-नियमानुसार अश्वशाला आदि का निरीक्षण करता हुआ हस्तिशाला मे आ पहुँचा। वहाँ सब हाथियो का मद सूखा हुआ देखा तो वह आश्चर्य मे पड गया। तलाश करते-करते राजा को एक गजरत्न के मूत्र की गन्ध आ गई। राजा ने शीघ्र ही जान लिया कि यहाँ गधहस्ती आया है। उसी के गन्ध से हाथियो का मद सूख गया। ऐसा गधहस्ती सिवाय चन्द्रप्रद्योत के और किसी के पास नही है। फिर राजा ने यह भी सुना कि सुवर्णगुटिका दासी भी गायब है। अत राजा को पक्का शक हो गया कि चन्द्रप्रद्योत राजा ही दासी को भगा ले गया है। राजा उदयन ने रोषवश उज्जयिनी पर चढाई करने का विचार कर लिया। परन्तु मत्रियो ने समझाया- "महाराज ! चन्द्रप्रद्योत कोई साधारण राजा नही है। वह बडा बहादुर और तेजस्वी है। केवल एक दासी के लिये उससे शत्रुता करना बुद्धिमानी नही है।" परन्तु राजा उनकी बातो से सहमत न हुआ और चढाई करने को तैयार हो गया। राजा ने कहा—"अन्यायी, अत्याचारी और उद्दण्ड को दण्ड देना मेरा कर्त्तव्य है।" अन्त मे यह निश्चय हुआ कि 'दस मित्र राजाओ को ससैन्य साथ लेकर उज्जयिनी पर चढाई की जाए।' ऐसा ही हुआ। अपनी अपनी सेना लेकर दस राजा उदयन नृप के दल मे शामिल हुए। अनन्तर महाराज उदयन ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। बडी मुश्किल से उज्जयिनी के पास पहुँचे। चन्द्रप्रद्योत यह समाचार सुनते ही विशाल सेना लेकर युद्ध करने के लिये मैदान मे आ डटा। दोनो मे घमासान युद्ध हुआ। राजा चन्द्रप्रद्योत का हाथी तीव्रगति से मडलाकार घूमता हुआ विरोधी सेना को कुचल रहा था। उसके मद के गध से ही विरोधी सेना के हाथी भाग खडे हुए। अत. उदयन की सेना मे कोलाहल मच गया। यह देख कर रथारूढ उदयन ने गधहस्ती के पैर मे खीच कर तीक्ष्ण बाण मारा। हाथी वही धराशायी हो गया और उस पर सवार चन्द्रप्रद्योत भी नीचे आ गिरा। अत सब राजाओ ने मिलकर उसे जीते-जी पकड लिया। राजा उदयन ने उसके ललाट पर 'दासीपति' शब्द अकित कर अन्तत. उसे क्षमा कर दिया।

सचमुच सुवर्णगुटिका के लिये जो युद्ध हुआ, वह परस्त्रीगामी कामी चन्द्रप्रद्योत राजा की रागासक्ति के कारण हुआ।

रोहिणी

अरिष्टपुर मे रुधिर नामक राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम सुमित्रा था। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम था- रोहिणी। रोहिणी अत्यन्त रूपवती थी, उसके सौन्दर्य की बात सर्वत्र

फैल गई थी । इसलिये अनेक राजा-महाराजाओ ने रुधिर राजा से उसकी याचना की थी । राजा बड़े असमंजस में पड़ गया कि वह किसको अपनी कन्या दे, किसको न दे ? अन्ततोगत्वा उसने रोहिणी के योग्य वर का चुनाव करने के लिये स्वयवर रचने का निश्चय किया । रोहिणी पहले से ही वसुदेवजी के गुणो पर मुग्ध थी । वसुदेवजी भी रोहिणी को चाहते थे । वसुदेवजी उन दिनो गुप्तरूप से देशाटन के लिये भ्रमण कर रहे थे । राजा रुधिर की ओर से स्वयवर की आमत्रणपत्रिकाएँ जरासध आदि सब राजाओ को पहुँच चुकी थी । फलत जरासध आदि अनेक राजा स्वयवर मे उपस्थित हुए । वसुदेवजी भी स्वयवर का समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे । वसुदेवजी ने देखा कि उन बडे-बडे राजाओं के समीप बैठने से मेरे मनोरथ मे विघ्न पडेगा, अत मृदग बजाने वालो के बीच मे वैसा ही वेष बनाकर बैठ गए । वसुदेवजी मृदग बजाने मे बडे निपुण थे । वे मृदग बजाने लगे । नियत समय पर स्वयवर का कार्य प्रारम्भ हुआ । ज्योतिषी के द्वारा शुभमुहूर्त की सूचना पाते ही राजा रुधिर ने रोहिणी (कन्या) को स्वयवर मे प्रवेश कराया । रूपराशि रोहिणी ने अपनी हसगामिनी गति एव नूपुर की झकार से तमाम राजाओ को आकर्षित कर लिया । सबके सब टकटकी लगाकर उसकी ओर देख रहे थे । रोहिणी धीरे-धीरे अपनी दासी के पीछे-पीछे चल रही थी । सब राजाओ के गुणो और विशेषताओ से परिचित दासी क्रमश· प्रत्येक राजा के पास जाकर उसके नाम, देश, ऐश्वर्य, गुण और विशेषता का स्पष्ट वर्णन करती जाती थी । इस प्रकार दासी द्वारा समुद्रविजय, जरासध आदि तमाम राजाओ का परिचय पाने के बाद उन्हे स्वीकार न कर रोहिणी जब आगे बढ गई तो वासुदेवजी हर्षित होकर मृदग बजाने लगे । मृदग की सुरीली आवाज मे ही उन्होने यह व्यक्त किया—

'मुग्धमृगनयनयुगले ! शीघ्रमिहागच्छ मैव चिरयस्व ।
कुलविक्रमगुणशालिनि ! त्वदर्थमहमिहागतो यदिह ।।'

अर्थात्—हे मुग्धमृगनयने ! अब झटपट यहाँ आ जाओ । देर मत करो । हे कुलीनता और पराक्रम के गुणो से सुशोभित सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ (मृदगवादको की पक्ति मे) आकर बैठा हूँ ।

मृदगवादक के वेष मे वसुदेव के द्वारा मृदग से ध्वनित उक्त आशय को सुन कर रोहिणी हर्ष के मारे पुलकित हो उठी । जैसे निर्धन को धन मिलने पर वह आनन्दित हो जाता है, वैसे ही निराश रोहिणी भी आनन्दविभोर हो गई और शीघ्र ही वसुदेवजी के पास जाकर उनके गले मे वरमाला डाल दी ।

एक साधारण मृदग बजाने वाले के गले मे वरमाला डालते देख कर सभी राजा, राजकुमार विक्षुब्ध हो उठे । सारे स्वयवरमडप मे शोर मच गया । सभी राजा चिल्लाने लगे—"बड़ा अनर्थ हो गया ! इस कन्या ने कुल की रीति-नीति पर पानी फेर दिया । इसने इतने तेजस्वी, सुन्दर और पराक्रमी राजकुमारो को ठुकरा कर और न्यायमर्यादा को तोड़कर एक नीच वादक के गले मे वरमाला डाल दी ! यदि इसका वादक के साथ अनुचित सबध या गुप्त-प्रेम था तो राजा रुधिर ने स्वयवर रचाकर क्षत्रिय कुमारो को आमन्त्रित करने का नाटक क्यो रचा ! यह तो हमारा सरासर अपमान है ।" इस प्रकार के अनेक आक्षेप-विक्षेपो से उन्होने राजा को परेशान कर दिया । राजा रुधिर किंकर्त्तव्यविमूढ और आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—विचार-

शील, नीतिनिपुण और पवित्र विचार की होते हुए भी, पता नही रोहिणी ने इन सब राजाओ को छोड़ कर एक नीच व्यक्ति का वरण क्यो किया ? रोहिणी ऐसा अज्ञानपूर्ण कृत्य नही कर सकती। फिर रोहिणी ने यह अनर्थ क्यो किया ? अपने पिता को इसी उधेडबुन मे पडे देख कर रोहिणी ने सोचा कि 'मै लज्जा छोडकर पिताजी को इनका (अपने पति का) परिचय कैसे दू ?' वसुदेवजी ने अपनी प्रिया का मनोभाव जान लिया। इधर जब सारे राजा लोग कुपित होकर अपने दल-बलसहित वसुदेवजी से युद्ध करने के लिये तैयार हो गए, तब वसुदेवजी ने भी सबको ललकारा—

"क्षत्रियवीरो ! क्या आपकी वीरता इसी मे है कि आप स्वयवर-मर्यादा का भग कर अनीति-पथ का अनुकरण करे ? स्वयवर के नियमानुसार जब कन्या ने अपने मनोनीत वर को स्वीकार कर लिया है, तब आप लोग क्यो अडचन डाल रहे हैं ? राजा लोग न्याय-नीति के रक्षक होते है, नाशक नही। आप समझदार हैं, इतने मे ही सब समझ जाइये।"

इस नीतिसगत बात को सुनकर न्याय-नीतिपरायण सज्जन राजा तो झटपट समझ गए और उन्होने युद्ध से अपना हाथ खीच लिया। वे सोचने लगे कि इस बात मे अवश्य कोई रहस्य है। इस प्रकार की निर्भीक और गभीर वाणी किसी साधारण व्यक्ति की नही हो सकती। लेकिन कुछ दुर्जन और अडियल राजा अपने दुराग्रह पर अडे रहे। जब वसुदेवजी ने देखा कि अब सामनीति से काम नही चलेगा, ऐसे दुर्जन तो दण्डनीति—दमननीति मे ही समझेगे, तो उन्होने कहा, "तुम्हें वीरता का अभिमान है तो आ जाओ मैदान मे ! अभी सब को मजा चखा दू गा।"

वसुदेवजी के इन वचनो ने जले पर नमक छिडकने का काम किया। सभी दुर्जन राजा उत्तेजित होकर एक साथ वसुदेवजी पर टूट पडे और शस्त्र-अस्त्रो से प्रहार करने लगे। अकेले रणशूर वसुदेवजी ने उनके समस्त शस्त्रास्त्रो को विफल कर सब राजाओ पर विजय प्राप्त की।

राजा रुधिर भी वसुदेवजी के पराक्रम से तथा बाद मे उनके वश का परिचय पाकर मुग्ध हो गया। हर्षित हो कर उसने वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विवाह कर दिया। प्राप्त हुए प्रचुर दहेज एव रोहिणी को साथ लेकर वसुदेवजी अपने नगर को लौटे। इसी गर्भ से भविष्य मे बलदेवजी का जन्म हुआ, जो श्रीकृष्णजी के बडे भाई थे।

इसी तरह किन्नरी, सुरूपा और विद्युन्मती के लिये भी युद्ध हुआ। ये तीनो अप्रसिद्ध है। कई लोग विद्युन्मती को एक दासी बतलाते है, जो कोणिक राजा से सम्बन्धित थी और उसके लिये युद्ध हुआ था। इसी प्रकार किन्नरी भी चित्रसेन राजा से सम्बन्धित मानी जाती है, जिसके लिए राजा चित्रसेन के साथ युद्ध हुआ था। जो भी हो, ससार मे ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अगणित महिलाओ के निमित्त से भयकर युद्ध हुए हैं।

□□

विशिष्ट शब्दों एवं नामों का कोश

		पृष्ठ
अकारको	अकर्त्ता—क्रिया न करने वाला	६२
अकिच्च	अकृत्य—हिंसा का एक नाम	९
अकिरिया	अक्रिया	५५
अंकुस	अकुश	१३२
अगम्मगामी	बहिन-बेटी आदि के साथ गमन करने वाला	६८
अगर	सुगन्धित द्रव्यविशेष	२५७
अगार	घर	२२
अगुत्ती	अगुप्ति—परिग्रह का २३वा नाम	१४३
अचक्खुसे	अचाक्षुष—आख से नही दिखने वाला	२०
अच्छभल्ल	रीछ—भालू	१३
अच्छरा	अप्सरा—देवागना	११५
अज्झप्पज्झाण	अध्यात्मध्यान	२०८
अजणकसेल	अजनक पर्वत	१४६
अट्टालग	अट्टालिका—अटारी	२१
अट्ट	आर्त्त	२२२
अट्ठकम्म	ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म	२४८
अट्ठमयमहणे	आठ मदो का मथन करने वाला	२४८
अट्ठावय	अष्टापद—पशुविशेष	१३२
अट्ठि	अस्थि—हड्डी	१६
अडवी	जगल	४१
अडग	अडा	५९
अडज	अडे से उत्पन्न होने वाला	१३८
अणकर	हिंसा का एक नाम	९
अणक्क(क्ख)	देशविशेष	२५
अणज्ज	अनार्य	५१
अणत्थको	अनर्थकारी—परिग्रह का एक नाम	१४३
अणत्थो	अनर्थकारी—परिग्रह का एक नाम	१४३
अणवदग्ग	अनन्त	१३८
अण्हय	आस्रव	५
अणासवो	अनास्रव—अहिंसा का एक नाम	१६१
अणाह	अनाथ	१९
अणिल	वायु	२०
अणिहुय	अस्थिर	१३
अत्ताणे	अत्राण—त्राण से रहित	१९
अत्थसत्थ	अर्थशास्त्र, राजनीति	१४८
अत्थालिय	अर्थालीक—धनसम्बन्धी असत्य	६९
अत	आन	१६
अध	आन्ध्र- आन्ध्र प्रदेश	२५
अद्धचद	अर्धचन्द्र के आकार की खिडकी या सोपान	२२
अप्पसुह	अल्पसुख—सुख से शून्य	१४९
अबितिज्जओ	अद्वितीय—असहाय	१९३
अभिज्जा	आसक्ति	१४८
अयगर	अजगर	१४
अरविंद	कमल	२१७
अरास	मानवजातिविशेष	२५
अलिय	अलीक—मिथ्या	५१

अवकोडक-बधन	पीठ पीछे हाथ बाँधना	३२
अवज्ज	अवद्य—पाप	२२४
अवधिका	उधेई—दीमक	४४
अविभाव	अज्ञात बन्धु	१३
अवीसभो	अविश्रम्भ—हिंसा का एक नाम	९
अस्समड	मृत घोडे का कलेवर	२३७
असि	तलवार	२९
असिवण	तलवार की धार के समान पत्तो वाले वृक्षो का वन	३६
असजओ	सयम-रहित—हिसा का एक नाम	९
असजम	असयम	९
असतोस	असन्तोष—परिग्रह का एक नाम	१४३
अहरगइ	अधोगति, कुगति	६९
अहिमड	अहिमृत - साप का कलेवर	२३७
अहिसधि	अभिप्राय	७१
आगमेसिभद्द	आगामी काल मे कल्याणकारी	२५२
आगर	खान	९३
आडा	आडपक्षी	१५
आतोज्ज	बाजे	२२
आदियणा	चोरी	८४
आभासिय	आभाषिक देश	२५
आभिओग	वशीकरण आदि प्रयोग	७३
आमेलग	कलगी	१३२
आमोसहि	एक प्रकार की लब्धि	१६७
आयरो	वस्तुओ मे आदर बुद्धि रखना, परिग्रह का २१ वा नाम	१४३
आयतण	स्थानविशेष	२१
आयतण	आयतन—अहिंसा का ४७ वा नाम	१६२

आयासो	खेद का कारण, परिग्रह का २४ वा नाम	१४३
आयाणभड-निक्खेवणासमित	आदान-भाड-मात्र-निक्षेपणा समिति वाला	२४८
आउयकम्म-स्सुवद्दवो	आयु.कर्मण उपद्रव-हिसा का १२ वा नाम	९
आरव	अरब देश	२५
आराम	बगीचा	२१
आरिय	आर्य	१०४
आपण	दुकान	२१
आवसह	परिव्राजकों का आश्रम	२१
आविधण	मत्रप्रयोग	७३
आसम	आश्रम	९३
आसत्ती	आसक्ति, परिग्रह का एक नाम	१४३
आसालिया	जीवविशेष	१४
आहाकम्म	साधु के निमित्त निर्मित	२०७
आहेवण	मत्रविशेष	७३
इक्कड	इकड जाति का घास	२०८
इक्खुगार	इषुकार पर्वत	१४६
इब्भ	बडा श्रेष्ठी	१४६
इगाल	अगार—आहार का एक दोष	२४५
इदकेतु	इन्द्रकेतु	११७
ईसत्थ	शस्त्र पकडने की कला	१४०
ईरियासमित	ईर्यासमिति—गमन सबधी सावधानी से युक्त	२४८
उक्कोस	एक जाति का पक्षी	१५
उक्खल	ऊखल	२२
उज्जुमई	ऋजुमति नामक मन पर्यवज्ञानी	१६७
उञ्छ	भिक्षा	१७८
उट्ट	ऊट	१४१
उडुपति	चन्द्रमा	२१७
उप्पाय	उत्पात पर्वत	१४६
उद्	उद्देश	२५
उदरि	जलोदर वाला	२५५

उद्दवणा	उपद्रवण—हिंसा का ९ वां नाम	९
उब्भिय	भूमि को फोडकर उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
उम्मी	ऊर्मि—लहर	९१
उम्मूलणा	उन्मूलना—हिंसा का दूसरा नाम	९
उरग	पेट के बल से चलने वाला सर्प-विशेष	१४
उरब्भ	मेढा	१३
उवहिया	ठगाई करने वाला, ठग	५३
उवकरण	परिग्रह का एक नाम	१४३
उवचयो	उपचय, परिग्रह का चतुर्थ नाम	१४३
उवाणहा	जूता	२४१
उस्सओ	उच्छ्रय-भाव की उन्नति, अहिंसा का ४५ वाँ नाम	१६२
उसीर	उशीर—सुगन्धित द्रव्य	२५७
एगचक्खु	काणा	४७
एगेंदिए	एक इन्द्रिय वाला जीव	४५
एणीयारा	मृग पकडने के लिये हिरणी लेकर फिरने वाले	२४
एरावण	ऐरावत—इन्द्र का हाथी	२१७
एलारस	इलायची का रस	२५७
ओदण	चावल-भात	२४२
ओवाय	अवपात पर्वतविशेष	१४६
ओसह	औषध	१५६
कक्क	कपट	५३
कक्कणा	असत्य का एक नाम	५१
कच्छभ	कछुआ	१३
कच्छभी	वाद्य—बाजाविशेष	२५३
कच्छुल्ल	खुजली के रोग वाला	२५५
कडगमद्दण	कटकमर्दन—हिंसा का १५ वा नाम	९
कडुय	कडुआ	९
कढिणगे	कठिण- तृणविशेष	२०८

कणग	सोना	२००
कणगनियल	सोने का बना गहनाविशेष	२५३
कणवीर	कनेर	९९
कण्ण	कान	१६
कन्दु	लोही—भूंजने का एक पात्र	३२
कन्नालिय	कन्या सम्बन्धी झूठ	९६
कप्पणि	कैंची	३७
कप्पड	कोडा	९६
कपिंजलक	कपिंजल पक्षी	१५
कब्बड	खराब नगर	१४१
कमडलु	कुण्डी, कमण्डलु	१३२
कम्मत	कारखाना, जहाँ चूना आदि तैयार किया जाता है	२०७
कम्मकर	सेवक	७४
कयली	केला	१३२
करक	करक पक्षी	१५
करभ	ऊंट	१३
करवत्त	करवत	२९
करिसण	कृषि	२१
कलस	कलश, घट	१३२
कलाओ	कलाएँ	१४८
कलाय	कलाद—सुनार	५३
कल्लाण	कल्याणकारी—अहिंसा का २९ वा नाम	१६१
कलिकरडो	कलह की पेटी, परिग्रह का १९ वा नाम	१४३
कवड	कपट	५१
कविल	कपिल पक्षी	१५
कवोल	कबूतर	१५
कवोल	कपोल, गाल	१३२
कस	चमडे का चाबुक	४१
कहक	कथा करने वाला	२५५
काउदर	काकोदर—एक प्रकार का साँप	१४
काणा	काणे	४७

कादम्बक	हंस विशेष	१५
कापुरिस	कायर मनुष्य	१६०
कायगुत्ते	कायगुप्त	२४८
कारडग	कारडक पक्षी	१५
कारुइज्जा	छीपे—शिलूरी	५३
कालोदधि	कालोदधि समुद्र	१४६
काहावण	कार्षापण—एक प्रकार का सिक्का	५३
कित्ती	कीर्ति—अहिंसा का ५ वा नाम	१६१
किन्नरी	किन्नर देव, वाद्यविशेष	११५
किन्नरी	महिलाविशेष का नाम	१३७
किमिय	कृमि—कीडे	४५
किरिया	प्रशस्त या अप्रशस्त कार्य	५५
किरियाठाण	क्रियास्थान	१२६
कीड	कीडा	१७७
कीर	तोता	१५
कुक्कुड	मुर्गा	१५
कुकूलाऽनल	कोयले की आग	२९
कुच्च	कूची बनाने योग्य घास	२०८
कुडिल	कुटिल—टेढा	५३
कुड्ड	कुड्य—दीवाल	२८
कुणी	कर से हीन	२५५
कुद्दाल	कुदाल	४६
कुद्ध	क्रोधी	१९२
कुम्म	कछुवा	११७
कुम्मास	उडद	२४२
कुरग	हिरण	१३
कुलकोडी	कुलकोटि	४३
कुलल	कुलल पक्षी	१५
कुलक्ख	कुलक्ष—पक्षी की एक जाति, एक देश	२५
कुलिंगी	कुतीर्थी	५३
कुलिय	विशेष प्रकार का हल—बखर	२२
कुलीकोस	कुटीक्रोश पक्षी	१५
कुवितसाला	तृण आदि रखने का घर	२०७
कुस	कुश —तृण विशेष	११७
कुसघयण	कमजोर अस्थिबंध वाला	४७
कुसठिया	खराब आकार वाले	४७
कुहण	कुहण देश	२५
कुहड	कूष्माण्ड— देवविशेष	९८
कूडतुल	झूठा तोलने वाले	५३
कूडमाणी	झूठा माप करने वाले	५३
कूरकम्मा	क्रूर कर्म करने वाले	७४
कूरिकड	चोरी का एक नाम	८४
कूव	कूआ	२१
केकय	केकय देश	२५
केवलीणठाण	केवलियो का स्थान—अहिंसा का ३६ वा नाम	१६१
केसरिमुह-विप्फारगा	सिंह का मुंह फाडने वाले	१२२
कोइल	कोकिल	१३२
कोकतिय	लोमडी	१३
कोट्टबलिकरण	बलिदान का एक प्रकार	३२
कोढिक	कुष्ठ रोगी	२५५
कोणालग	कोणालक पक्षी	१५
कोरग	कोरग पक्षी	१५
कोल	कोल—चूहे के समान जीव	१३
कोल-सुणक	वडा सूअर	१३
कोसिकार-कीडो	रेशम का कीडा	१०४
कक	कक पक्षी	३८
कचणक	काञ्चनक पर्वत	१४६
कचणा	कचना, एक नारी	१३७
कची	काञ्ची—कन्दोरा	२५३
क डिया	कुण्डी, कमण्डलु	२४१
कती	कान्ति—चमक, अहिंसा का ६ ठा नाम	१६१
कदमूलाई	कन्दमूल	२४१
कस	कास्य, कासे का पात्र	२००

कु कुम	कु कुम	२५७
कु च	क्रौंच पक्षी	१५
कु जर	हाथी	११७
कु ट	खराब हाथ वाला, टोटा	४७
कु डल	कुण्डलाकार पर्वत	१४६
कु त (कोंत)	भाला, अस्त्रविशेष	३७
कु थु	कुन्थु—जीवविशेष	४४
कोंकणग	कोकण देश	२५
कोंत	भाला	३७
कोंच	क्रौंच देश	२५
खग	पक्षी	१५
खग्ग	खड्ग—गेंडा	१३
खग्ग	खड्ग—तलवार	८९
खद्ध	जल्दी, शीघ्र	२०९
खर	गधा	१३
खस	खस देश	२५
खहयर	खेचर—पक्षी	१५
खाडहिल	गिलहरी	१४
खाति(इ)य	खाई	२१
खासिय	खासिक देश	२५
खील	खील	२२
खुज्ज	कुबडा	४७
खुड्डिय	तलाई	२५५
खुर	छुरा	२९
खुहिय	भूखा	१६५
खेड	खेडा—छोटा गाव	९३
खेलोसहि	एक प्रकार की लब्धि	१६७
खेव	चोरी	८४
खंडरक्ख	चुंगी लेने वाला अथवा कोतवाल	५३
खड	खाड—शक्कर	२५८
खंती	क्षान्ति—अहिंसा का १३ वा नाम	१६१
खध	स्कन्ध	५३
खिंखिणी	पायल, आभूषणविशेष	२५३
गडि	गंडमाला	२५५

गय	हाथी	१३
गयकुल	हाथियों का झुण्ड	७१
गया	गदा—अस्त्रविशेष	८९
गरल	अन्य वस्तु में मिला विष	२४
गरुल	गरुड पक्षी	१५
गरुलवूह	गरुडव्यूह	८६
गवय	रोझ—नीली गौ	१३
गवालिय	गाय सम्बन्धी झूठ	६९
गहियगहणा	गिरवी रखने वाले—गिरवी का माल हजम करने वाले	५३
गागर	घडा	११७
गाम	ग्राम	९३
गाय (काय)	एक म्लेच्छ जाति	२५
गालणा	हिंसा का एक नाम	९
गिद्द	गीध	३८
गाह	ग्राह-- जल जन्तु	१३
गिलाण	बीमार	२०४
कुज्झ	अब्रह्म का एक नाम	११३
गुत्ती	गुप्ति	२२६
गुणाण विराहणत्ति	गुणों की विराधना—हिंसा का ३० वा नाम	९
गुरुतप्पओ	गुरुपत्नीगामी	६८
गुल (ड)	गुड़	२४२
गोउर	गोपुर—नगर का मुख्य द्वार	२१
गोकण्ण	दो खुर वाला चौपाया जानवर	१३
गोच्छओ	पूंजनी	२४७
गोड	गौड देश	२५
गोण	गाय बैल	१३
गोणस	विना फण का साप	१४
गोध	गोधा	१४
गोमड	गाय का कलेवर	२५७
गोमिय	अधिकारीविशेष	९४
गोहा	गोधा	७१

गोसीस-सरसचदन	गोशीर्ष नामक शीतल चन्दन	२५७
गडूलय	गिंडोला, जन्तुविशेष	४५
गथिभेदग	गाठ काटने वाला	८३
गध	गध	२५७
गधमादण	पर्वतविशेष	१८४
गधहारग	गन्धहारक देश (कन्धार)	२५
घत्थ	ग्रस्त —जकडा हुआ	१४९
घय	घी	२५८
घर	घर—गृह	२१
घायणा	हिंसा का छठा नाम	९
घीरोली	घरमें रहने वाली गोह	१४
घूय	घूक—उल्लू	९४
घटिय	घटिका -घुघरू	२५३
चउक्क	चोक	९८
चउम्मुह	चारों ओर द्वार वाली इमारत	९८
चउरग	चकोर पक्षी	१५
चउरिंदिए	चार इन्द्रिय वाला जीव	४३
चक्क	चक्र—चक्रव्यूह	८७
चक्कवट्टी	चक्रवर्ती	५५
चक्कवाग	चक्रवाक, चकवा	१५
चक्खुसे	चाक्षुष– आख से देखने योग्य	२०
चच्चर	चार से अधिक मार्गों का सगम	९८
चडग	चिडिया	१५
चडगर	समूह	८९
चमर	चमरी गाय	१३
चम्म	चमडा	१६
चम्मट्ठिल	चमगादर	१५
चम्मपत्र	चर्मपात्र	२४१
चम्मेट्ठ	चमडे से मढा पत्थर	८९
चय	वस्तुओ की ढेरी, परिग्रह का तीसरा भेद	१४३
चरत	अब्रह्मचर्य का एक नाम	११३

चरिया	नगर और कोट के मध्य का मार्ग	२१
चलण	चरण —पैर	१३२
चलणमालिय	आभूषणविशेष	२५३
चवल	चपल	१२३
चाई	त्यागी	२४८
चाडुयार	खुशामदी	५३
चाणूर	चाणूर मल्ल	१२२
चारक	बन्दीखाना	९६
चार	गुप्त दूत	५३
चाव	धनुष	८९
चास	चाश पक्षी	१५
चिक्खल्ल	कीचड	२९
चित्त	चित्रकूट पर्वत	१४६
चित्तसभा	चित्रसभा	२१
चिइ	भित्ति आदि का बनाना	२१
चिइका	चिता	९४
चिल्लल	चीता या दो खुर वाला पशुविशेष	१३
चीण	चीन देश	२५
चिलाय	चिलात देशवासी	२५
चीरल्ल	चील	१५
चूलिया	चूलिका	२५
चेइय	चैत्य	२१
चोक्ख	चोक्ष—अहिंसा का ५४ वा नाम	१६२
चोरिक्क	चोरी	८४
चोलपट्टक	चोलपट्टा, साधु के पहनने का वस्त्र	१८०
चगेरी	फूलो की डाली या वाद्यविशेष	२२
चडो	उद्धत—प्राणवध का विशेषण	६
चदनक	कौडी	४५
चदसालिय	अटारी	२२
चुचुया	चुचुक	२५
छगल	बकरे की एक जाति	१३

णउल	नकुल	१४
णक्क	नाक	१६
णग	पर्वत	११७
णगर	नगर	११७
णत्थिवाइणो	नास्तिवादी- नास्तिक	५४
णयण	नेत्र	१६
णह	नख	१६
णिक्खेव	धरोहर	६९
णित्तुम	सारयुक्त—असारतारहित	२१३
णियडि	माया	१४१
णिवाय	पवनरहित	२०८
णिव्वाण	अहिंसा का एक नाम	१६१
णिव्वुई	अहिंसा का एक नाम	१६१
णिव्वुइघर	मोक्ष	२१३
ण्हण	सौभाग्यस्नान	७५
ण्हारूणि	स्नायु	१६
णिग्घिणो	घृणारहित	४८
णिज्जवणा	णिज्जूहग-द्वारशाखा	२२
णिस्सेणि	निस्सरणी	२०
णिस्सद	सार	५
णिस्ससो	नृशस, क्रूर	४८
णेउर	नूपुर	११७
णदमाणक	नदीमुख	१५
णगल	हल	२२
तउय	त्रपु	२४१
तक्कर	चोर	९६
तण्हा	तृष्णा —परिग्रह का २७ वा नाम	१४३
तत	वीणा आदि वाद्य	२२
तत्तिय	सताप	७४
तप्पण	सत्तू	२४२
तय	त्वचा	२४०
तरच्छ	जगली पशु	१३
तलताल	वाद्यविशेष	२५३
तलवर	मस्तक पर स्वर्णपट्टधारक राजपुरुष	१४६
तलाग	तालाब	२१
तव	तप	२२२
तस	त्रस जीव	१३८
ताय	तात	३४
तारा	तारा	१३७
तालयट	तालपत्र के पखे	११७
तित्त	तीता रस	२५८
तित्ती	तृप्ति—अहिंसा का १० वा नाम	१६१
तित्तिय	तित्तिक देश	२५
तित्तिर	तीतर पक्षी	१५
तिमि	बडे मत्स्य	१३
तिमिसधयार	घोर अन्धकार	१५४
तिमिगिल	बहुत बडे मत्स्य	१३
तिरिय	तिर्यञ्च	३९
तिवायणा	त्रिपातना (अतिपातना)-- हिंसा का १०वा नाम	९
तिसिय	प्यासा	१६५
तहि	तिथि	२४३
तुरय	घोडा	११७
तूणइल्ल	वाद्यविशेष बजाने वाला	२५३
तेणिक्क	चोरी	८४
तेल्ल	तेल	२४२
तोमर	बाण	३७
तोरण	तोरण	२२
तती	तन्त्री-वीणा	२५३
तब	ताम्र	१३२
तुड	मुख	३८
थण	स्तन	१३३
थलयर	स्थलचर	२६
थावर	स्थावर— एकेन्द्रिय जीव	१३८
थूभ	स्तूप	२१
थोवग	थोडा	५५
दइओ	दयित —प्रिय	१३९
दईवतप्प-भावओ	भाग्य के प्रभाव से	६५

दग	उदक, पानी	९१
जगतुंड	दगतुंड पक्षी	१५
दच्छ	दक्ष—चतुर	५३
दद्दुर	वाद्यविशेष	२५३
दब्भपुप्फ	एक प्रकार का सर्प	१४
दय	दया—अहिंसा का ११वा नाम	१६१
दरदड्ढ	कुछ जला हुआ	९४
दवग्गि	दावानल	२४
दव्वसारो	द्रव्यसार वाला—परिग्रह का १०वां नाम	१४३
दविल	द्रविड	२५
दह	ह्रद	२४
दहपति	ह्रदपति—पद्म ह्रद आदि	१४६
दहिमुह	दधिमुख पर्वत	१४६
दाढि	दाढ	१६
दामिणी	माला	१३२
दार	द्वार	२१
दालियब	खट्टी दाल	२५८
दिलिवेढय	जलीय जन्तुविशेष	१३
दीविय	चीता	१३
दीविय	एक प्रकार की चिडिया	१५
दीहिया	बावडी	२४
दुकय	दुष्कृत	६२
दुग्गइप्पवाओ	हिंसा का एक नाम	९
दुद्ध	दुग्ध	२५८
दुहण	द्रुघन—वृक्षो को गिराने वाला मुद्गर, द्रुहना	८९
देवई (की)	देवकी रानी	१२२
देवकुल	देवमन्दिर	२१
दोणमुह	जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो से जाने योग्य नगर	९३
दोणि	छोटी नौका	२२
दोवई	द्रौपदी	१३७
दोहग्ग	दुर्भाग्य	१३२
दतट्ठा	दात के लिए	१६
दसण	सामान्य बोध, श्रद्धागुण	११५
दसमसग	डास-मच्छर	२२२
धणित	अत्यर्थ	९२
धत्तरिट्ठग	धार्तराष्ट्र—हस विशेष	१५
धमण	भैस आदि के देह मे हवा भरना	४२
धमणि	नाडी	१६
धिती	धृति—अहिंसा का २८ वा नाम	१६१
धूम	धूम—आहारसबधी एक दोष	२४५
नक्क	जलजन्तु विशेष	१३
नगरगोत्तिय	नगररक्षक	५३
नट्टक	नर्तक	२५५
नड	नट	२५५
नह	नख	१६
नाराय	लोहे का बाण	३७
निक्किओ	निष्क्रिय	६२
निगड	लोहे की बेडी	१९
निगम	वणिको का निवासस्थान	९३
निग्गुणो	निर्गुण	६२
निच्चो	नित्य	६२
निज्जवणा	हिसा का २८वा नाम	९
नत्थिक-वादिणो	नास्तिकवादी	५४
निम्मलतर	खूब स्वच्छ, अहिसा का ६०वा नाम	१६१
नि(णि)यडि	कपट—मायाचार	१३९
निव्वाण	निर्वाण—मोक्ष, अहिसा का एक नाम	१६१
निव्वुइ	निवृत्ति, शान्ति	७७
निहाण	निधान, परिग्रह का ८वा नाम	१४३
नू(णू)म	नूम—ढक्कन	५१
नेउर	नूपुर	२५३
नेरइय	नरक के जीव	३५
नेहुर	नेहुर देश	२५

नदा	समृद्धिदायक, अहिंसा का २४ वा नाम	१६१
नदि	वाद्यविशेष	२५३
पइभय	प्रतिभय	२९
पइल्ल	श्लीपद—फीलपाव	२५५
पउम	पद्म-कमल, पद्मव्यूह	३५, ८६
पउमावई	पद्मावती रानी	१३७
पएणीयारा	विशेष रूप से हिरनिओ को मारने के लिये फिरने वाले	२४
पक्कणिय	पक्कणिक देश	२५
पच्चक्खाण	प्रत्याख्यान	५५
पच्छाय	ढंकने का वस्त्र	२४७
पज्जत्त	पर्याप्त- पर्याप्ति की पूर्णता वाले जीव	२६
पट्टण	पाटन	९३
पट्टिस	प्रहरणविशेष	८९
पडगार	जुलाहा	५३
पडिग्गहो	पात्र	२४७
पढिबधो	प्रतिबन्ध—बाह्य पदार्थों मे स्नेहबन्ध होना, परिग्रह का १२वा नाम	१४३
पडिलेहण	प्रतिलेखना	२४७
पडिसीसग	कृत्रिम शिर	७५
पडिसुआ	प्रतिध्वनि	३५
पणव	वाद्यविशेष	२५३
पण्हव	पल्लव देश	२५
पतरक	भूषणविशेष	२५३
पत्तेयसरीर	प्रत्येक शरीर, ऐसे जीव जिनके एक शरीर का स्वामी एक ही हो	२०
पभासा	प्रभासा—अतिशय दीप्ति वाली, अहिंसा का ५७ वा नाम	१६२
पमया	प्रमदा—स्त्री	१३२
पमोओ	प्रमोद, अहिंमा का २३वा नाम	१६१
पयावई	प्रजापति	६२
परदार	परस्त्री	१३५
परभवसकामकारओ	परभवसक्रामकारक, हिंसा का १८ वा नाम	९
परसु	फरसा	३७, ८९
परहड	चोरी का दूसरा नाम	८४
परा	तृणविशेष	२०८
परिग्गहो	परिग्रह का पहला नाम	१४३
परिचारगा	व्यभिचार मे सहायक	५३
परिजण	परिजन	७४
परिट्ठावणिया-समित	मल-मूत्र आदि परठने की समिति से युक्त	२४८
परितावण-अण्हओ	परितापन आस्रव, हिंसा का २६ वां नाम	९
परियाग	तलवार की म्यान	२२
परीसह	परिषह—कष्ट	२३२
पल्लल	पल्वल—छोटा तालाब	२४
पलाल	पलाल—पोआल	२०८
पलिओवम	उपमाकालविशेष	३३
पलित्त	प्रदीप्त	२९
पलिय	सफेद बाल	१३२
पवक	उछलने कूदनेवाला	२५५
पवयण	प्रवचन	५
पव्वक	वाद्यविशेष	२५३
पवा	प्याऊ	२१
पवित्ता	पवित्रा, अहिंसा का ५५ वा नाम	१६२
पवित्थरो	धन का विस्तार, परिग्रह का २०वा नाम	१४३
पव्वीसग	वाद्यविशेष	११७
पसय	दो खुर वाला जानवर	१३
पहरण	शस्त्र	२२
पहाण	प्रधान	१३२
पहेरक	भूषणविशेष	२५३
पाइक्क	पैदल	९१
पागार	कोट	२१
पाठीण	एक जाति का मत्स्य	१३
पाणवहो	प्राणवध, हिंसा का पहला नाम	९

पाणिय	पानी	३४
पादकेसरिया	पोछने का वस्त्र	२४७
पादजालक	पायजेब	२५३
पाद (य)-बंधण	पात्रबन्धन	२४७
पायट्ठवण	पात्र ठवणी—जिस पर पात्र रक्खा जाय	२४७
पारणा	पूर्त्ति, व्रत का समापन	२१०
पारस	फारस देश	२५
पारदारी	परस्त्रीगामी	१३५
पारिप्पव	पारिप्लव जन्तु	१५
पारेवय(ग)	कबूतर	१५
पावकोवो	पापकोप, हिंसा का १९ वा नाम	९
पावलोभ	पापलोभ, हिंसा का एक नाम	९
पासाय	प्रासाद—महल	२१
पासो	पाश	१४९
पिक्कमसी	पका हुआ मासी नामक द्रव्य, जटामासी	२५७
पिच्छ	पूंछ	१६
पिट्टण	पीटना	४६
पित्त	शरीर सम्बन्धी एक दोष	१६
पिपीलिया	चींटी	४०
पियरो	पिता आदि पूर्वज	२४
पिसाय	पिशाच	११५
पिसुण	चुगलखोर	१९१
पिंडपाय	आहार-पानी	२४५
पिंगलक्खग	पिंगलाक्ष पक्षी	१५
पिंगुल	पिंगुल पक्षी, लाल रंग का तोता	१५
पिंडो	पिंड, परिग्रह का ९वा नाम	१४३
पीवर	पुष्ट	१३२
पुट्ठी	पुष्टि, अहिंसा का एक नाम	१६१
पुढविमए	पृथ्वीकायिक (जीव)	१९
पुढविससिए	पृथ्वी के आश्रित रहने वाला	१९
पुरिसकारो	पुरुषार्थ	५४
पुरोहिय	पुरोहित—शान्तिकर्मकर्त्ता	१४६
पुलिंद	पुलिंद नामक देशविशेष	२५
पुव्वधर	पूर्व नामक शास्त्रो का ज्ञाता	१६७
पूया	पूजा, अहिंसा का एक नाम	१६२
पेच्चाभविय	परलोक मे कल्याणकर	२५२
पेहुण	मोरपिच्छी	२२
पोक्कण	जाति विशेष पोक्कण देश	२५
पोक्खरणी	पुष्करिणी, चौकोनी बावडी	२१
पोयसत्था	नौका के व्यापारी	३५
पोयघाया	पक्षियो के बच्चो का घात करने वाले	२४
पोयय	पोतज—एक जीव विशेष	१३८
पोसह	पौषध—एक विशिष्ट व्रत	५४
पंगुला	पंगु	४७
फलक	पाट—बिस्तर-कुर्सी आदि	२२
फलिहा	परिघ—आगल	२२
फासुय	प्रासुक—निर्जीव	२०७
फोफस	फुप्फुस—देह का एक अंग विशेष	१६
बउस	एक देशविशेष	२५
बक	बगुला	१५
बप्प	बाप—पिता	३४
बब्बर	एक अनार्य जाति	२५
बरहिण	मयूर	१५
बलदेव	बलदेव	५५
बलाका	बगुली	१५
बहलीय	बहलीक देशवासी	२५
बहिर	बहरा	४७
बादर	बादर नाम-कर्म वाले	२०
बिल्लल	बिल्वल देश	२५
बीहणग	भयानक	३१
बुद्धी	बुद्धि, अहिंसा का १६ वा नाम	१६१
बेलबक	विडम्बक	२५५
बेइंदिए	दो इन्द्रिय वाला	४५

बोही	बोधि, अहिंसा का १६वां नाम	१६१
बजुल	बजुल पक्षी	१५
बभचेर	ब्रह्मचर्य	२१३
भग	योनि	११७
भट्ठभज्ज-णाणि	भाड मे चने के जैसे भू जना	३२
भडग	भडक जाति	२५
भडा	सैनिक	९०
भद्दा	भद्रा—कल्याणकारो, अहिंसा का २५ वा नाम	१६१
भमर	भवरा	१६
भयग	नौकर	७४
भयकरो	हिमा का २३ वा नाम	९
भरह	भरत क्षेत्र	११७
भवण	भवन	२१
भाइल्लगा	सेवक	७४
भायण	पात्र	२१
भारो	भार--आत्मा को भारी करने वाला, परिग्रह का १७ वा नाम	१४३
भावणा	भावना	१७७
भाविश्रो	भावित—सस्कार वाला	१७७
भास	भाष पक्षी	१५
भासासमित	भाषासमिति वाला	२४८
भिक्खुपडिमा	साधु की पडिमा (प्रतिज्ञा)	२३१
भिगारग	भिगारक पक्षी	१५
भुज्जिय	भू जे हुए धानी	२४२
भुयगीसर	शेषनाग	१२८
भूमिघर	भूमिगृह—तलघर	२१
भूयगामा	जीवो के समूह	२३१
भेयणिट्ठवण	भेदनिष्ठापन - हिंसा का एक नाम	९
भेसज्ज	भेषज	२४१
भोमालिय	भूमि सम्बन्धी झूठ	६९
भडोवगरण	मिट्टी के भाड	१२
भिडिमाल	भिडिपाल	८९
मइय	मतिक—खेत जातने के बाद ढेला फोडने का मोटा काष्ठ	२०
मउड	मुकुट	८९
मउलि	फण वाले सर्प	१४
मगर	मगरमच्छ	१३
मच्चू	मृत्यु, हिसा का एक नाम	९
मच्छबधा	मछली पकड़ने वाले	७४
मच्छी	मक्खी	४३
मच्छडी	मिश्री	२४२
मज्ज	मद्य	२४२
मज्जण	मज्जन--मर्दन	२२१
मज्जार	बिल्ली	१३
मडब	जिसके नजदीक कोई वस्ती न हो ऐसी वस्ती	९२
मणगुत्ते	मनोगुप्त	२४८
मणपज्जव-णाणी	मन पर्यवज्ञानी	१६७
मणि	चन्द्रकान्त आदि	२००
मत्थुलिग	मस्तुलिंग	१६
मयणसाल	मैना	१५
मधु	शहद	२४२
मम्मण	अस्पष्ट उच्चारण करने वाला	४७
मय	मद	२३१
मयूर	मोर	१५
मरहट्ठ	महाराष्ट्र देश	२५
मरुय	मरुआ	२५७
मरूया	मरुक देश	२५
मलय	मलय देश	२५
मल्ल	पहलवान	२५३
मसग	मशक, मच्छर	४३
महप्पा	महात्मा	७७
महव्वय	महाव्रत	२२०
महाकुभि	बडी कुभी	३२
महापह	राजमार्ग	९८

रतिकर	रतिकर पर्वत	१४६
रती(ई)	रति—प्रेम	२३
रती(ई)	सन्तोष, अहिंसा का ७ वा नाम	१६१
रय	रज, कर्मरज	१५६
रयण	रत्न	२००
रयणागर	रत्नाकर, समुद्र	९१
रयणोरु-जालिय	जाघो का भूषण	२५३
रयय	चाँदी	२००
रयत्ताण	रज से रक्षक	२४७
रयहरण	रजोहरण	२४७
रवि	सूर्य	१९७
रसय	रसज—रसो मे उत्पन्न होने वाले जीव	१३८
रह	रथ	२२
रायदुट्ठ	राजविरुद्ध	६८
राया	राजा	८७
रिट्ठवसभ	अरिष्ट नामक बैल	१२२
रिद्धि	ऋद्धि, अहिंसा का २० वा नाम	१६१
रिसओ	ऋषि	५५
रुचकवर-(रुयग)	मण्डलाकार रुचकगिरि	१४६
रुद्द	रौद्र	२२४
रुप्पिणी	रुक्मिणी	१३७
रुरु	हिरणविशेष	१३
रुरु	रुरु देश	२५
रूव	रूप	२५५
रोम	रोम देश	२५
रोहिय	रोहित, पशुविशेष	७१
रोहिणी	रोहिणी, महिलाविशेष का नाम	१३८
लउड	लकुट—छोटा डडा	२२
लट्ठी	लाठी	३२
लद्धी	लब्धि, अहिंसा का २७ वा नाम	१६१
लयण	पर्वत खोद कर बनाया गया स्थानविशेष	२१
लवण	लवणसमुद्र	१४६
लवग	लौंग	२५७
लावक	लवा पक्षी	१५
लासग	रास गाने वाले	२५५
ल्हासिय	ल्हासिक देश	२५
लुद्धगा	व्याध	२४
लुद्धा	लोभग्रस्त	८७
लु पणा	हिंसा का एक नाम	९
लेट्ठु	पत्थर	२००
लेण	पहाड मे बना घर	२०७
लेस्साओ	लेश्या	२३१
लोलिक्क	चोरी का एक नाम	८४
लोहसकल	लोहे की बेडी	९६
लोहपजर	लोहे का पिजरा	९६
लोहप्पा	लोभात्मा, परिग्रह का १३ वा नाम	१४३
लगल	शस्त्रविशेष	८९
लु पणा	हिंसा का २९ वा नाम	९
वइर	वज्र	१३२
वउस	बकुशदेश	२५
वक्खार	विजयो को विभक्त करने वाले पर्वत	१४६
वग्गुली	वागुल	१५
वज्ज-रिसह-नाराय-सघयण	वज्रऋषभ-नाराच सहनन	२१८
वज्जो	वर्ज्य, हिंसा का २५ वा नाम	९
वट्टग	बतक	१५
वट्टपव्वय	गोलाकार पर्वत	१४६
वडभ	टेढे-मेढे शरीर वाला	४७
वणचरगा	जगल मे घूमने वाले	२४
वणस्सइ (वणप्फइ)	वनस्पति	४५

विसिट्ठदिट्टि	विशिष्टदृष्टि, अहिंसा का २८ वा नाम	१६१
विसुद्धी	विशुद्धि, अहिंसा का २६ वा नाम	१६१
विहग	पक्षीविशेष	१५
विहार	मठ	२२
वीसत्थछिद्द-घाई	विश्वासी का अवसर देखकर घात करने वाला	९५
वीसासो	विश्वास, अहिंसा का ५१ वा नाम	१६२
वीसुय	विश्रुत—प्रसिद्ध	२१८
वेजयन्ती	विजयपताका	८९
वेढिम	वेष्टिम—जलेबी	२४२
वेतिय	वेदिका, चबूतरा	२१
वेयत्थी	वेदविहित अनुष्ठान के अर्थी	२३
वेरुलिओ	वैडूर्य मणि	२१७
वेसर	पक्षीविशेष	१५
वोरमण	हिंसा का १६ वा नाम	९
वजुल	एक प्रकार का पक्षी	१५
वस	बासुरी	२५३
सउण	शकुन पक्षी, तीतुर	१५
सक	शक देश या जाति	२५
सक्करा	धूलि	२००
सक्कुलि	तिलपपडी	२४२
सक्खी	साक्षी—गवाह	५३
सगड	शकट—गाड़ी	२२
सगड	शकटव्यूह	८४
सणप्फय	नखयुक्त पैर वाले	२६
सयग्घि	सैकड़ो का सहार करने वाला शस्त्र—तोप	२२
सत्ति	शक्ति, त्रिशूल	१२३
सत्ती	अहिंसा का ४था नाम	१६१
सत्थवाह	सार्थवाह	१४६
सद्दूल	शार्दूल सिंह	१३
सद्धल	भाला	३७
सण्णी (ण्णी)	सज्ञी—मन वाले जीव	२६
सप्पि	घी	२४२
सबर	शबर, भिल्ल जाति	२५
सब्बल	शस्त्रविशेष	८९
सभा	सभा	२२
समणधम्मे	श्रमणधर्म	२३१
समचउरस-सठाण	समचतुरस्र—चारो कोण बराबर आकृति	२१८
समय	सिद्धान्त	२४८
सम्मत्त-विसुद्धमूलो	सम्यक्त्व रूप विशुद्ध मूल वाला	२४०
सम्मदिट्ठी	सम्यग्दृष्टि	२४८
सम्मत्ताराहणा	सम्यक्त्व की आराधना—अहिंसा का १४ वा नाम	१६१
समाहि	समाधि-समता—अहिंसा का तीसरा नाम	१६१
समिइ	समिति—अहिंसा का एक नाम	१६१
समिद्धि	समृद्धि—अहिंसा का एक नाम	१६१
समुग्गपक्खी	पक्षिविशेष	१५
सयभू	स्वयभू	५९
सरड	गिरगिट नामक जीवविशेष	१४
सरण	शरण—स्थलविशेष	२१
सरब	जन्तुविशेष	१४
सल्लय	जीवविशेष	७१
ससमय	स्वसमय—स्वकीय सिद्धान्त	२४८
ससय	शशक—खरगोश	१३, ७१
साउणिया	पक्षीमार—व्याध	२४
साल	शाखा—वृक्ष की डाली	१४१
साली	शाली, धान्य विशेष	७४
साहसिय	साहसी—बिना फल सोचे काम करने वाला	५३
साहारणसरीर	साधारण शरीर (जीव विशेष)	२०
सिद्धाति(इ)-गुणा	सिद्धो के गुण	२३२
सिद्धावासी	सिद्धावास, अहिंसा का ३४वां नाम	१६१
सिप्प	शिल्पकला	१४८

सियाल	शृगाल	१३
सिरियदलग	श्रीकन्दलक	१३
सिलप्पवाल	शिलाप्रवाल	२००
सिवं	शिव—उपद्रव रहित, अहिंसा का ३७वां नाम	१६१
सिहरि	शिखरी नामक पर्वत	१४६
सिहरिणि	दही और शक्कर से बना पेयविशेष—श्रीखंड	२४२
सीमागार	एक प्रकार का ग्राह	१३
सीया	सीता	१३७
सीया	शिबिका—बड़ी पालकी	२२
सील	शील, अहिंसा का ३१वा नाम	१६१
सीलपरिघरो	शीलपरिग्रह, अहिंसा का ४१ वा नाम	१६१
सीसक	सीसा	२४१
सीह	सिंह	१३
सीहल	सिंहल देश	२५
सूइ	व्यूहविशेष	८७
सुईमुह	सूचीमुख—तीखी चोंच वाला पक्षी	१५
सुक (य)	तोता	७२
सुकय	सुकृत	५९
सुघोस	घटा	२५३
सुणग	कुत्ता	३८
सुय	तोता	१५
सुयनाणी	श्रुतज्ञानी	१६७
सुयग	श्रुतज्ञान, अहिंसा का ९वा नाम	१६१
सुरूवविज्जु-मनीए	सुरूपविद्युन्मती (विशेष नाम)	१३८
सुवण्णगुलिया	सुवर्णगुलिका (विशेष नाम)	१३७
सुसाण	श्मशान	२०७
सुहुम	सूक्ष्म	२०, १३८
सूई	सूची—सूई	११७
सूकरे	सूअर	७१
सूती	शुचि, अहिंसा का ५६वा नाम	१६२
सूप	दाल	२०९
सूयग	चुगलखोर	५३
सूयगड	सूत्रकृताङ्ग	२३२
सूल	शूली	३२
सूलिय	शूली	२२
सूसरपरि-वादिणी	वीणाविशेष	२५३
सेण	श्येन—बाजपक्षी	१५
सेणावती	सेनापति	१४६
सेउ (तु)	पुल	२१
सेय	स्वेद, पसीना	२२२
सेल	पाषाण	१२२
सेल्लक	शल्यक जन्तु	१४
सेह	शरीर पर कांटे वाला जन्तु—सेही	१४
सेहब	रायता आदि	२५८
सोणिय	रक्त	१६
सोणि	कटि	१३२
सोत्थिय	स्वस्तिक	११७
सोम्म	सौम्य	१३२
सोय	शोक	२३
सोयरिया	सूअरो का शिकार करने वाले	२४
सकड	व्याप्त	२८
सकम	उतरने का मार्ग	२१
सकरो	वस्तुओ का परस्पर मिलाना, परिग्रह का ७ वां नाम	१४३
सकुल	व्याप्त	२९
सख	शङ्ख	१२
सघयण	अस्थियो की शारीरिक रचना	१२७
सचयो	चय—वस्तुओ की अधिकता, परिग्रह का दूसरा नाम	१४३
सजमो	सयम, अहिंसा का एक नाम	१६१
सठाण	सस्थान—शारीरिक आकृति	१२७
सडासतोड	सडास की आकृति की तरह मुह वाला जीव	२६

सथवो	बाह्य पदार्थों का अधिक परिचय, परिग्रह का २२ वा नाम	१४३	हडि	काष्ठ का खोड़ा	९६
संधिच्छेय	खात खोदने वाला	८६	हत्थि	हाथी	२५७
संपाउप्पायको	झूठ आदि पाप को करने वाला, परिग्रह का १८ वा नाम	१४३	हत्थिमड	हाथी का कलेवर	२५७
सदण	युद्धरथ तथा देवरथ	२२	हणि हणि	प्रतिदिन	२०८
संबह	सबाध, बस्ती विशेष	१४१	हत्थंदुय	हस्तान्दुक, एक प्रकार का बन्धन	९६
सबर	साभर	१३	हय	घोड़ा	१३
सभारो	सभार, जो अच्छी तरह से धारण किया जाय, परिग्रह का छठा नाम	१४३	हयपुंडरिय	ह्रदपुण्डरीक पक्षी	१५
संमुच्छिम	सम्मूर्च्छिम, विना गर्भ के उत्पन्न होने वाला जीव	१३८	हरिएसा	चाण्डाल	२४
सवरो	सवर, अहिंसा का ४२ वा नाम	१६२	हल	हल	१२३
सवट्टगसखेवो	हिंसा का एक नाम	९	हस्स	हास्य	२३
ससग्गि	मैथुन का एक नाम	११३	हितयंत	हृदय और आंत	१६
ससेइम	पसीने से पैदा होने वाला जीव	१३८	हिमवत	इस नाम का पर्वत	२१३
सरक्खणा	सरक्षणा—मोहवश शरीर आदि की रक्षा करना, परिग्रह का १६ वा नाम	१४३	हिरण्ण	चांदी	२४१
सिंग	सीग	१६	हीण	हीन	४७
सुंसुमार	जलचर जन्तुविशेष	१३	हीणसत्ता	सत्त्व से रहित	४७
			हुलियं	शीघ्र	२८
			हूण	हूण नामक जाति	२५
			हेसिय	घोडे की हिनहिनाहट	८९
			हस	हस	२५
			हिंसविहसा	हिंस्य (हिंस्र) विहिंसा, हिंसा का चौथा नाम	९
			हुंड	बेडोल शरीर	२९

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमो में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहिं महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहिं सझाहिं सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपर्युक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए है, जिसका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलो के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नही मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्राय: ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अत: आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्लपक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत. आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पडती रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्‌घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी, मांस और रुधिर—पचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से वे वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश: सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करे।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घड़ी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

□□

श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बेंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३ श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५ श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी सचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G. F.) जाड़न
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनादगाव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९ श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४० श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेडतासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, विल्लीपुरम्
५ श्री भवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८ श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२ श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४ श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मांगीलालजी रेखचदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१ श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कला
६२. श्री हरकचदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३ श्री फतेहराजजी नेमीचदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६ श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७ श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९ श्री माणकचदजी रतनलालजी मुणोत, टगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचदजी कमलचदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरडिया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४ श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भडारी, बैंगलोर
९५. श्रीमती कमलाकवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६ श्री अखेचदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७ श्री सुगनचन्दजी सचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरडिया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५ श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भवरलालजी मागीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शातिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चादमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री साचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी सघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५ श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६ श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, बगडीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाडा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरडिया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□